

योग कोश

(प्रथम खण्ड)

CYCLOPAEDIA OF YOGA

जैन दशमलव वर्गीकरण संख्या ०४०५

सम्पादक :

श्रीचन्द्र चोरड़िया, न्यायतीर्थ (द्वय)

प्रकाशक :

जैन दर्शन समिति

१६-सी डोवर लेन, कलकत्ता-७०००२६

सन् १९६३

संस्थापक—स्व० मोहनलाल बाँठिया

योग कोश (प्रथम खण्ड) CYCLOPAEDIA OF YOGA

जैन दशमलक्ष वर्गीकरण संख्या ०४०५

सम्पादक :

श्रीचन्द चोरड़िया, न्यायतीर्थ (द्वय)

प्रकाशक :

जैन दर्शन समिति

१६-सी डोवर लेन, कलकत्ता-७०००२६

सन् १९९३

जैन आगम विषय कोश ग्रन्थमाला छट्टा पुष्प

योग कोश : जैन दशमलव वर्गीकरण संख्या—०४०५

अर्थ सहायक : श्रीमती भूमकु देवी भन्साली मेमोरियल इष्ट,
कलकत्ता मारफत—श्री फतेहचन्द चैनरूप
भन्साली तथा अन्य गण

प्रथम आवृत्ति—५००

मूल्य—भारत में रु० १००/-

विदेश में Sh १५०/-

मुद्रक : भागचन्द्र सुराना

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५, रवीन्द्र सरणी,

कलकत्ता-७००००७

दूरभाष : २३६-४३६३

स म र्प ण

जिन्होंने अपने आपको एक साहित्यकार, लेखिका, कवयित्री, नई दिशाओं में कुछ नया करने वाली एक चेतनाशील नारी (साध्वी) के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उस श्रद्धा, सेवा, समर्पण साधना संसृति की जीवन्त प्रेरणा— महानिदेशिका, महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा श्री कनकप्रभाजी को प्रस्तुत योग कोश सादर सभक्ति समर्पित करता हूँ।

—श्रीचन्द चोरड़िया

संकलन-सम्पादन में प्रयुक्त ग्रंथों की संकेत-सूची

अणुत्त० — अणुत्तरोववाइयदसाओ

अणुओ० — अणुओगहाराइं

अंगु० — अंगुत्तरनिकाय

अंत० — अंतगडदसाओ

अभिधा० — अभिधान राजेन्द्र कोश

आया० — आयारो

आव० — आवस्सयं

उत्त० — उत्तरज्झयाणी

उवा० — उवासगदसाओ

ओव० — ओवाइयं

ओघ० — ओघनिर्युक्ति

कप्पव० — कप्पवडिसियाओ

कप्पसु० — कप्पसुत्तं

कप्पि० — कप्पो

कर्म० — कर्मग्रन्थ

गोक० — गोम्मटसार कर्मकांड

गोजी० — गोम्मटसार जीवकांड

चंद० — चंदपणत्ती

जंबु० — जंबुदीवपणत्ती

जीवा० — जीवाजीवाभिगमे

ठाण० — ठाणं

तत्त्व० — तत्त्वार्थ सूत्र

तत्त्वराज० — तत्त्वार्थ राजवार्तिक

तत्त्वश्लो० — तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार

तत्त्व सर्व० — तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि

तत्त्व सिद्ध० — तत्त्वार्थ सिद्धसेनटीका

दसवे० — दसवेआलियं

दसासु० — दसासु

नंदी० — नंदी

णाया० — णायाधम्मकहाओ

निर० — निरयावलियाओ

निसी० — निसीहज्झयण

पण्ण० — पण्णवणा

पण्हा० — पण्हावागराणं

पाइअ० — पाइअ सद् महाण्णवो

पूच्च० — पूप्फचूलियाओ

पुप्फि० — पुप्फियाओ

बिह० — बिहकप्पसुत्तं

भग० — भगवई

महा० — महाभारत

राय० — रायपसेणियं

वव० — ववहारो

वण्ह० — वण्हदसाओ

विवा० — विवागसूयं

सम० — समवाओ

सूय० — सूयगडो

सूर० — सूरपणत्ती

हेम० — सिद्धहेम शब्दानुशासनम्

सिद्ध० — सिद्धहेम शब्दानुशासनम्

योगस० — योग समुच्चय

करणप्रवसा० — प्रवचनसारोद्धार

षट्० — षट्खंडागम

पउम० — पउमच्चरिय

ध्याश० — ध्यानशतक

वीरजि० — वीरजिणिंदचरिउ

धर्मो० — धर्मोपदेशमाला

वृ० ह० (वृह०) — वृहद्धारिभद्रीय टीका

विशेभा० — विशेषावश्यक भाष्य

णमोकार महामंत्र

पंच श्वे० — पंचसंग्रह (श्वेताम्बर)

योगसा० — योगसार०

श्रीणीचर्चा

कम्म० — कर्मप्रकृति

जैनसिदी० — जैन सिद्धांत दीपिका

शत० वृ० भा०—शतक वृहद् भाष्य

योगश०—योग शतक

योगबिन्दु—योगबिन्दु

वीरवर्धच०—वीर वर्धमान चरितम्

अभिधान चिंतामणि संस्कृत कोष
क्रियाकोश

त्रिशलाका०—त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र

— — दर्शनसार

पुद्को० १—पुद्गल कोश, भाग १

पुद्को० २—पुद्गल कोश, भाग २

परिको०—परिभाषा कोश

वर्धको०—वर्धमान जीवन कोश

लेको०—लेश्याकोश

लेश्याको०—संयुक्त लेश्याकोश
(दिगम्बर सोस)

वड्ढच०—वड्ढमाणचरित्र

अयोग०—अयोग व्यवच्छेदिका

कसापा०—कसायपाहुड'

— — न्यायावतार

अणुओ० हारि०—आवश्यकहारीभद्रीय वृत्ति

— — ज्ञानसार

— — समयसार

जैन वाङ्मय का दशमलव वर्गीकरण मूल विभागों की रूपरेखा

जै० द०व०सं० (हमारे अंकन) यू०डी०सी०के अंकन	
० जैन दार्शनिक पृष्ठभूमि	—
०१ लोकालोक	५२३.१
०२ द्रव्य—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य	—
०३ जीव	१२८ सी० एफ० ५७७
०४ जीव-परिणाम	—
०५ अजीव-स्वरूपी	११४
०६ अजीव-रूपी-पुद्गल	११७ सी०एफ० ५३६
०७ पुद्गल परिणाम	—
०८ समय-व्यवहार-समय	११५ सी०एफ० ५२६
०९ विशिष्ट सिद्धान्त	—
१ जैन दर्शन	१
११ आत्मवाद	१२
१२ कर्मवाद—आस्रव-बंध, पुण्य-पाप	—
१३ क्रियावाद—संवर, निर्जरा, मोक्ष	—
१४ जैनेतरवाद	१४
१५ मनोविज्ञान	१५
१६ न्याय-प्रमाण	१६
१७ आचार-संहिता	१७
१८ स्याद्वाद-नयवाद-अनेकान्तवादादि	—
१९ विविध दार्शनिक सिद्धान्त	—
२ धर्म	२
२१ जैन धर्म की प्रकृति	२१
२२ जैन धर्म के ग्रन्थ	२२
२३ आध्यात्मिक मतवाद	२३
२४ धार्मिक जीवन	२४
२५ साधु-साध्वी, यति, भट्टारक, क्षुल्लकादि	२५
२६ चतुर्विध संघ	२६
२७ जैन धर्म का साम्प्रदायिक इतिहास	२७
२८ सम्प्रदाय	२८
२९ जैनेतर धर्म : तुलनात्मक धर्म	२९
३ समाज विज्ञान	३
३१ समाजिक संस्थान	—

३२ राजनीति	३२
३३ अर्थशास्त्र	३३
३४ नियम-विधि-कानून-न्याय	३४
३५ शासन	३५
३६ सामाजिक उन्नयन	३६
३७ शिक्षा	३७
३८ व्यापार-व्यवसाय-यातायात	३८
३९ रीति-रिवाज, लोक-कथा	३९
४ भाषा-विज्ञान-भाषा	४
४१ साधारण तथ्य	४१
४२ प्राकृत भाषा	४९१.३
४३ संस्कृत भाषा	४९१.२
४४ अपभ्रंश भाषा	४९१.३
४५ दक्षिणी भाषाएँ	४९४.८
४६ हिन्दी	४९१-४३
४७ गुजराती-राजस्थानी	४९१.४
४८ महाराष्ट्री	४९१-४६
४९ अन्य देशी-विदेशी भाषाएँ	४९१
५ विज्ञान	५
५.१ गणित	५.१
५.२ खगोल	५.२
५.३ भौतिकी-यांत्रिकी	५.३
५.४ रसायन	५.४
५.५ भूगर्भ विज्ञान	५.५
५.६ पुराजीव विज्ञान	५.६
५.७ जीव विज्ञान	५.७
५.८ वनस्पति विज्ञान	५.८
५.९ पशु विज्ञान	५.९
६ प्रयुक्त विज्ञान	६.०
६.१ चिकित्सा	६.१
६.२ यांत्रिक शिल्प	६.२
६.३ कृषि विज्ञान	६.३
६.४ गृह विज्ञान	६.४
६.५ —	—
६.६ रसायन शिल्प	६.६
६.७ हस्तशिल्प या अन्यथा	६.७

६८ विशिष्ट शिल्प	६८
६९ वास्तु शिल्प	६९
७ कला-मनोरंजन-क्रीड़ा	७०
७१ नगरादि निर्माण कला	७१
७२ स्थापत्य कला	७२
७३ मूर्तिकला	७३
७४ रेखांकन	७४
७५ चित्रकारी	७५
७६ उत्कीर्णन	७६
७७ प्रतिलिपि-लेखनकला	७७
७८ संगीत	७८
७९ मनोरंजन के साधन	७९
८ साहित्य	८०
८१ छंद-अलंकार-रस	८१
८२ प्राकृत साहित्य	—
८३ संस्कृत जैन साहित्य	—
८४ अपभ्रंश जैन साहित्य	—
८५ दक्षिणी भाषा में जैन साहित्य	—
८६ हिन्दी भाषा में जैन साहित्य	—
८७ गुजराती-राजस्थानी भाषा में जैन साहित्य	—
८८ महाराष्ट्री भाषा में जैन साहित्य	—
८९ अन्य भाषाओं में जैन साहित्य	—
९ भूगोल-जीवनी-इतिहास	९०
९१ भूगोल	९१
९२ जीवनी	९२
९३ इतिहास	९३
९४ मध्य भारत का जैन इतिहास	—
९५ दक्षिण भारत का जैन इतिहास	—
९६ उत्तर और पूर्व भारत का जैन इतिहास	—
९७ गुजरात-राजस्थान का जैन इतिहास	—
९८ महाराष्ट्र का जैन इतिहास	—
९९ अन्य कोश व वैदेशिक जैन इतिहास	—

०४ जीव परिणाम का वर्गीकरण

०४०० सामान्य विवेचन	०४२७ ध्यान
०४०१ गति	०४२८ संख्या
०४०२ इन्द्रिय	०४२९ मिथ्यात्व
०४०३ कषाय	०४३० सम्यक्त्व
०४०४ लेख्या	०४३१ वेदना
०४०५ योग	०४३२ सुख
०४०६ उपयोग	०४३३ दुःख
०४०७ ज्ञान	०४३४ अधिकरण
०४०८ दर्शन	०४३५ प्रमाद
०४०९ चारित्र	०४३६ ऋद्धि
०४१० वेद	०४३७ अगुरुलघु
०४११ शरीर	०४३८ प्रतिधातित्व
०४१२ अवगाहना	०४३९ पर्याय
०४१३ पर्याप्त	०४४० रूपत्व-अरूपत्व
०४१४ प्राण	०४४१ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य
०४१५ आहार	०४४२ अस्ति-नास्ति-अवस्थितत्व
०४१६ योनि	०४४३ शाश्वतत्व
०४१७ गर्भ	०४४४ परिस्पन्दन
०४१८ जन्म-उत्पत्ति-उत्पाद	०४४५ संसार-संस्थान-काल
०४१९ स्थिति	०४४६ संसारस्थितत्व-असिद्धत्व
०४२० मरण-च्यवन-उद्वर्तन	०४४७ भव्याभव्यत्व
०४२१ वीर्य	०४४८ परित्वापरित्व
०४२२ लब्धि	०४४९ प्रथमाप्रथम
०४२३ करण	०४५० चरमाचरम
०४२४ भाव	०४५१ पाक्षिक
०४२५ अध्यवसाय	०४५२ आराधना-विराधना
०४२६ परिणाम	

दो शब्द

स्वर्गीय श्री मोहनलालजी बाँठिया तथा श्रीचन्द्रजी चोरड़िया ने जैनागम एवं वाङ्मय के तलस्पर्शी गम्भीर अध्ययन कर आधुनिक दशमलव प्रणाली के आधार पर अलग-अलग अनेक विषयों पर कोश प्रकाशित करने की परिकल्पना की ओर उसको मूर्तरूप देने के लिए जैन दर्शन समिति की स्थापना महावीर जयन्ती के दिन सन् १९६६ के दिन की गई ।

कलकत्ता युनिवर्सिटी के भाषा विज्ञान के प्राध्यापक डा० सत्यरंजन बनर्जी का स्व० मोहनलालजी बाँठिया के साथ घर पर १९६० में प्रथम परिचय हुआ । उस समय भारत के विभिन्न नगरों लाडणू आदि में जैन दर्शन परिषद होती थी । प्रोग्राम सत्यरंजन बनर्जी के साथ मिलजुलकर बनाया करते थे । कालान्तर-तत्पश्चात् सन् १९६६ के महावीर जयन्ती के अवसर पर डा. बनर्जी व श्रीचन्द्र चोरड़िया के परामर्शसे जैन दर्शन समिति की स्थापना की । जिसकी फल परिणति विभिन्न कोश परिणति है ।

यह संस्था स्व० मोहनलाल जी बाँठिया एवं श्रीचन्द्र चोरड़िया द्वारा निर्मित विषयों पर कोश प्रकाशन का कार्य कर रही है । इसके द्वारा निम्नलिखित कोश प्रकाशित है जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) लेश्या कोश—प्रथम पुष्प-लेश्या अध्यवसाय का बेरोमेटर है । इस कोश में छुओं लेश्यों का विस्तृत विवेचन है । इन लेश्याओं का आगम ग्रन्थों में अनेक स्थल पर उल्लेख है । उसका संकलन हुआ है । Cyclopaedia of Leshya के रूप में इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है । जिससे कि लेश्या विषय पर अनुसंधान करने वालों को व दर्शन शास्त्र में रुची रखने वालों को एक ही स्थान पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकेगी । एक अमेरिकन विद्यार्थी ने लिखा है कि हमने आपके द्वारा प्रकाशित लेश्या कोश पर शोध कार्य कर रहे हैं ।

(२) क्रिया कोश—द्वितीय पुष्प—इसी प्रकार क्रिया कोश में आरम्भिकी आदि पच्चीस क्रियाओं का विस्तृत विवेचन है । क्रिया का एक रूप पुण्य-पाप का बंधन है और उसका दूसरा रूप कर्मबंधन से छूटकारा पाना है । क्रिया कोश में आगम तथा ग्रन्थों के आधार पर विस्तृत विवेचन है ।

(३) मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास—तृतीय पुष्प—मिथ्यात्वी प्राणी का सद् आचरण श्रेष्ठ नहीं माना जाय तो उसका आध्यात्मिक विकास कैसे हो सकता है । श्रीचन्द्रजी चोरड़िया ने लगभग दो सौ ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन एवं आलोचन करके शास्त्रीय रूप में अपने विषय को प्रस्तुत किया है । अतः पंडित दहसुखभाई मालवणिया के शब्दों में यह ग्रन्थ लेश्या कोश तथा क्रिया कोश की कोटिका ही है ।

(४) वर्धमान जीवन कोश—प्रथम खंड-चतुर्थ पुष्प-प्रस्तुत ग्रन्थ जैन दर्शन समिति की कोश परम्परा की कड़ी में एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ है । वर्धमान जीवन कोश यह

प्रथम भाग स्व० मोहनलाल जी बाँठिया द्वारा संकलित एवं तैयार सामग्री का व्यवस्थित सम्पादित रूप है। बाँठिया जी इस काम को अधूरा छोड़कर स्वर्गवासी (ई० २३-६-७६) हो गये ? किन्तु श्रीचन्दजी चोरड़िया ने अत्यन्त परिश्रम करके इसे तैयार किया है। इसमें भगवान् महावीर के च्यवन, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान तथा परिनिर्वाण आदि का विस्तृत विवेचन है अर्थात् गर्भ से परिनिर्वाण तक जीवन वृत्त संकलित किया गया है।

(५) वर्धमान जीवन कोश—द्वितीय खण्ड-पंचम पुष्प: जो आपके सामने है। इसमें भगवान् महावीर के पूर्वभवों का विवेचन तो है ही। इसके अतिरिक्त इसमें भगवान् महावीर के पाँचों कल्याणक, नाम एवं उपनाम, उनकी स्तुतियाँ, समवसरण, दिव्य ध्वनि, संघ विवरण, इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर, आर्य चंदना का पृथक्-पृथक् विवरण आदि संकलित है।

(६) वर्धमान जीवन कोश, तृतीय खंड-षष्ठम पुष्प—इसमें भगवान् महावीर के चतुर्विध धर्मसंघकी स्थापना, समकालीन राजा, प्रत्येक बुद्ध साधु, निदान, निहववाद आदि का प्रमाण सहित विवेचन है। सर्वज्ञ अवस्था के भगवान के विहार स्थल, देवों का आगमन, पार्श्वपत्नीय अणगर आदि का विस्तृत विवेचन है।

(७) योग कोश, प्रथम खण्ड, सप्तम पुष्प—इसमें चार मनके मोग, चार वचनके योग तथा सात काय के योग—इस प्रकार पन्द्रह योगों का विस्तृत विवेचन है। योग की व्युत्पत्ति-समास, सविशेषण-सप्रत्यय आदि विशेषण सहित योग की परिभाषा भी उपलब्ध है। किस किस जीव में कितने-कितने योग होते हैं। इनका भी अलग-अलग उल्लेख है।

इस प्रकार जैन दर्शन समिति के द्वारा सैकड़ों विषय पर कोश संकलन कार्य हुआ है। कोशों के सम्बन्ध में भारत के उच्चकोटि के विद्वानों ने सुक्त कंठ से सराहना की है। इनमें मुख्य रूप से—

- (१) स्व० प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी संधवी
- (२) स्व० आदिनाथ नेमीनाथ उपाध्याय
- (३) स्व० ज्योतिप्रसाद जैन
- (४) युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी
- (५) गणेश ललवानी
- (६) डा० सत्यरंजन बनर्जी
- (७) डा० राजाराम जैन
- (८) प्रो० दलसुखभाई मालवणिया
- (९) स्व० डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
- (१०) पद्मनाथ जैन U.S.A.
- (११) जिनेश मुनि, शास्त्री
- (१२) प्रो० डा० Alsdorf Humburg आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार दशमलव प्रणाली के आधार पर करीब १००० विषयों पर आगम तथा

प्राचीन भारतीय दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन कर स्व० मोहनलालजी बाँठिया व श्रीचन्द्र चोरड़िया ने पांडुलिपि तैयार की। जिसको हमने सुरक्षित रखा है।

इस समिति में भारतीय दर्शन में रुचि लेने वाले सभी सज्जन सदस्य हो सकते हैं। संस्था में दो सदस्य श्रेणी है—

(१) आजीवन संरक्षक सदस्य—जिसकी सदस्यता फीस १००१) है। उन्हें संस्था द्वारा प्रकाशित साहित्य बिना मूल्य सप्रेम भेंट किया जाता है।

(२) आजीवन साधारण सदस्य जिसकी सदस्यता फीस १०१) है। सदस्य व्यक्तिगत रूप से ही लिये जाते हैं।

माननीय जोधपुर निवासी श्री जवरमलजी भंडारी इस संस्था के सहयोगी और शुभचिन्तक है। उनके समय-समय पर अभूतपूर्व सुझाव मिलते रहे हैं। कोशों के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग भरभर रहा है।

योग कोश की गति-विधि में फतेहचन्द्र चैनरूप भंसाली तथा भगवतीलाल तिसोदिया इष्ट, जोधपुर का सहयोग रहा है।

संयुक्त लेश्या कोश, पुद्गल कोश, ध्यान कोश भी तैयार हुए हैं। परिभाषा कोष अधूरा है यथा समय पूरा करने की योजना है।

हमारी संस्था अबतक विद्वद् योग्य सामग्री तैयार करती रही है। अतः संस्था को जन प्रिय बनाने के लिए सरल भाषा में छोटी-छोटी पुस्तकें तैयार कराकर प्रकाशित करने की योजना है। और संभव हो तो उन्हें निःशुल्क वितरण किया जावे।

अस्तु स्व० मोहनलालजी बाँठिया इस संस्था के संस्थापक ही नहीं थे, प्राण थे। वे श्रीचन्द्रजी चोरड़िया के सहयोग से इतने कोशों की रूप देखा तैयार करके छोड़ गये हैं कि कई विद्वान् वर्षों तक कार्य करें तो भी समाप्त न हो। ऐसे मनीषि की स्मृति में ठोस कार्य होना ही चाहिए।

मेरे साथी वर्तमान मंत्री पद्मचन्द्रजी नाहटा व नवरतनमलजी सुराना का अभूतपूर्व सहयोग रहा है।

इस संस्था का पावन उद्देश्य जैन दर्शन व भारतीय दर्शन को उजागर करना है जिससे मानव ज्ञान रश्मियों से अपने अज्ञान अंधकार को मिटा सके।

इस संस्था द्वारा प्रकाशित साहित्य सस्ते दामों में वितरण कर अधिक से अधिक प्रचार हो—यही इसका उद्देश्य है। इस पुनीत कार्य में सबका सहयोग अपेक्षित है—

कलकत्ता

६-१०-१९६३

भवदीय
अभयसिंह सुराना, अध्यक्ष
जैन दर्शन समिति

प्रकाशकीय

स्वर्गीय मोहनलालजी बाँठिया ने, अपने अनुभवों से प्रेरित होकर, एक जैन विषय कोश की परिकल्पना प्रस्तुत की तथा श्रीचंदजी चोरड़िया के सहयोग से प्रमुख आगम ग्रन्थों का मंथन करके, एक विषय-सूची प्रणीत की। फिर उस विषय सूची के आधार पर जैन आगमों से विषयानुसार पाठ संकलन करने प्रारम्भ किये। यह संकलन उन्होंने प्रकाशित आगमों की प्रतियों से कतरन विधि से किया। इस प्रकार प्रायः १००० विषयों पर पाठ संकलित हो चुके हैं।

सर्व प्रथम 'लेश्या कोश' नामक पुस्तक स्वयं ही ई० सन् १९६६ में प्रकाशित की। जैन दर्शन और वाङ्मय के अध्ययन के लिए जिस रूप में लेश्या कोश को अपरिहार्य बताया गया है और पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा के रूप में जिस तरह से सुक्त कंठ से प्रशंसा की गयी है, यही उसकी उपयोगिता तथा सार्वजनीनता को आलोकित करने में सक्षम है।

सम्पादकों के जैनागम एवं वाङ्मय के तलस्पर्शी गम्भीर अध्ययन द्वारा प्रस्तुत कोश परिकल्पना को क्रियान्वित करने तथा उनके सत्कर्म और अध्यवसाय के प्रतिसमुचित सम्मान प्रकट करने की पुनीत भावनावश जैन दर्शन की संस्थापना महावीर जयन्ती ई० १९६६ के दिन की गई थी। इस संस्था के द्वारा सन् १९६६ में क्रिया कोश प्रकाशित किया।

इसके बाद सम्पादकों ने पुद्गल कोश, ध्यान कोश, संयुक्त लेश्या कोश आदि का कार्य भी पूर्ण किया जो अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं।

जैन दर्शन समिति द्वारा श्री बाँठिया ने अपने जीवनकाल में श्रीचन्दजी चोरड़िया के सहयोग से वर्धमान जीवन कोश का संकलन कर लिया था। परन्तु २३-६-१९७६ में उनका आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। बाँठिया जी के स्वर्गवास पर जैन दर्शन समिति को बहुत बड़ा धक्का लगा। श्रीचन्दजी चोरड़िया अपने धुनके पक्के व्यक्ति हैं। उनके स्वर्गवास के बाद मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास जो कोश की कोटि का ग्रन्थ का सन् १९७७ में प्रकाशित हुआ। वर्धमान जीवन कोश, प्रथम खण्ड सन् १९८० में, वर्धमान जीवन कोश, द्वितीय खण्ड सन् १९८४ में तथा वर्धमान जीवन कोश तृतीय खण्ड सन् १९८८ में प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत कोश, विद्वद् वर्ग द्वारा जितना समादृत हुआ। तथा जैन दर्शन और वाङ्मय के अध्ययन के लिए जिस रूप में इसे अपरिहार्य बताया गया और पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा के रूप में जिस तरह सुक्त-कंठ से प्रशंसा की गई, यही उसकी उपयोगिता तथा सार्वजनिकता को आलोकित करने में सक्षम है।

इसी प्रयास स्वरूप योग कोश (प्रथम खंड) आपके समक्ष प्रस्तुत है। जैन दर्शन समितिने कोश प्रकाशनकी योजनाको किसी तरह की लाभवृत्ति या उपार्जनके लिए हाथ में नहीं लिया है अपितु इसका पावन उद्देश्य एक अभाव की पूर्ति करना, अर्हत् प्रवचन की प्रभावना करना तथा जैन दर्शन और वाङ्मय का प्रचार-प्रसार करना तथा इसके गहन गम्भीर तत्व ज्ञान के प्रति सर्वसाधारण को आकृष्ट करना और इस तरह समाज की सेवा करना ही है।

योग कोश को प्रकाशित करने में झमकु देवी भंसाली मेमोरियल ट्रस्ट, मारफत फतेहचन्द चैनरूप भंसाली तथा श्री जवरमलजी भंडारी द्वारा भगवतीलाल सिसोदिया ट्रस्ट ने हमें आर्थिक सहयोग दिया है। इसके लिए समिति उन्हें धन्यवाद ज्ञापित करती है।

अस्तु योग कोश के दो खण्ड किये गये हैं जिसका पहला खण्ड आप के सामने है। प्रस्तुत ग्रंथ का प्रतिपादान अत्यन्त प्राञ्जल एवं प्रभावक भाषा रूप में सूक्ष्मता के साथ किया गया है।

जैन दर्शन समिति के भूतपूर्व सभापति श्री जवरमलजी भंडारी, वर्तमान अध्यक्ष श्री अभयसिंह सुराना, जंवरिमलजी बैद, सरदारमलजी कांछिया, रिधकरण बोथरा, नवरतनमल सुराना, विजयसिंह सुराना, सार्दूलसिंहजी जैन, मांगीलालजी लूणिया, सुमेरमल सुराना, हीरालाल सुराना आदि समिति के उत्साही सदस्यों, शुभचिन्तकों एवं संरक्षकों का साहस और निष्ठा का उल्लेख करना मेरा कर्तव्य है जिनकी इच्छाएँ और परिकल्पनाएँ मूर्तरूप में मेरे सामने आ रही हैं।

स्व० श्री मोहनलालजी बांठिया तथा श्रीचन्दजी चोरड़िया अनेक पुस्तकों का अध्ययन पर योग कोश (प्रथम खण्ड) को तैयार कर हमें प्रकाशित करने का मौका दिया उनके प्रति हम आभारी हैं।

हमारी समिति के द्वारा प्रकाशित अभी ५ पुस्तकें स्टोक में हैं। हमारी समिति के निर्णयानुसार २५०) रु० देने वाले सज्जनों को ३०५) रु० का पुस्तकें दी जाती है।

१—मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास	१५)
२—वर्धमान जीवन कोश, प्रथम खण्ड	५०)
३—वर्धमान जीवन कोश, द्वितीय खण्ड	६५)
४—वर्धमान जीवन कोश, तृतीय खण्ड	७५)
५—योग कोश, प्रथम खण्ड	१००)
	३०५)

जैन दर्शन समिति ने जैन दर्शन के प्रचार करने के उद्देश्य से इसका मूल्य केवल १०० रखा है। जैन-जैनेतर सभी समुदाय से हमारा अनुरोध है कि योग कोश प्रथम खण्ड को क्रय करके अंततः अपने संप्रदाय के विद्वानों, भंडारों में, पुस्तकालयों में उसका यथोचित वितरण करने में सहयोग दे।

सुराना प्रिंटिंग वर्क्स तथा उनके कर्मचारी की धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अनेक बाधाओं के होते हुए भी प्रकाशित करने में सक्षम रहे हैं।

पद्मचन्द नाहटा

मंत्री

जैन दर्शन समिति

१०-६-६३

कलकत्ता

भूमिका

विषय-कोश परिकल्पना बड़ी महत्वपूर्ण है। यदि सब विषयों पर कोश नहीं भी तैयार हो सके तो बीस-तीस प्रधान विषयों पर भी कोश के प्रकाशन से जैन दर्शन के अध्येताओं को बहुत ही सुविधा रहेगी। इस संबंध में सम्पादकों को मेरा सुझाव है कि वे पणवण्णा सूत्र के ३६ पदों में विवेचित विषयों के कोश तो अवश्य ही प्रकाशित कर दें।

सम्पादकों ने सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को सार्वभौमिक दशमलव वर्गीकरण पद्धति के अनुसार सौ वर्गों में विभाजित किया है। जैन दर्शन की आवश्यकता के अनुसार उन्होंने इसमें यत्र तत्र परिवर्तन भी किया है अन्यथा इसे ही अपनाया है। इस वर्गीकरण के अध्ययन से यह अनुभव होता है कि वह दूरस्पर्शी है तथा जैन दर्शन और धर्म में ऐसा कोई विरला ही विषय होगा जो इस वर्गीकरण से अछुता रह जाय या इसके अंतर्गत नहीं आ सके।

पर्याय की अपेक्षा जीव अनन्त परिणामी है, फिर भी आगमों में जीव के दस परिणामों का उल्लेख है। जीव परिणाम के वर्गीकरण को देखने से पता चलता है कि सम्पादकों ने इन दस परिणामों को प्राथमिकता देकर ग्रहण किया है लेकिन साथ ही कर्मों के उदय से वा अन्यथा होने वाले अन्य अनेक प्रमुख परिणामों को भी वर्गीकरण में स्थान दिया है। इनमें से उत्पाद-व्यय ध्रौव्य आदि कई विषय तो अन्य-अन्य कोशों में समाविष्ट होने योग्य है।

अस्तु लेश्याकोश के बाद, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा देश-विदेश में हुई थी, संपादकों ने क्रिया-कोश का निर्माण किया। यह ग्रंथ भी संपादकों ने उसी लगन तथा तटस्थ शोध वृत्ति से संकलित किया था। इसके बाद ध्यान कोश, संयुक्त लेश्याकोश, (सोर्स दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रंथ) पुद्गल कोश तैयार किया था जो अभी प्रकाशित नहीं हुए है। संपादकों से मेरा सुझाव है कि उन्हें भी प्रकाशित यथा समय किया जाय।

इसके बाद मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक निकास प्रकाशित किया गया जो कोश के सदृश था। तत्पश्चात् वर्धमान जीवन कोश तीन खण्ड में प्रकाशित किया गया। जिसके अभी दो खण्ड प्रकाशित करने अवशेष हैं।

योग कोश को दो खण्डों में विभाजित किया है। प्रथम खण्ड आप के हाथ में है। योग कोश एक पठनीय मननीय ग्रंथ हुआ है। योगों को समझने के लिए इसमें यथेष्ट मसाला है तथा शोधकर्त्ताओं के लिए यह अमूल्य ग्रंथ होगा। रेफरेन्स पुस्तक के हिसाब से यह सभी श्रेणी के पाठकों के लिए उपयोगी होगा। वर्गीकरण की शैली विषय को सहज-गम्य बना देती है, सम्पादकगण तथा प्रकाशक इसके प्रकाशन के लिए धन्यवाद के पात्र है।

योग कोश में लेश्या कोश-क्रिया कोश की तरह ससमास-सप्रत्यय, सविशेषण योग शब्दों की अकारादि क्रम से सूची तथा उनकी समूल पाठ परिभाषाएँ, विभिन्न योगों तथा उनके भेदों का आगम्य तथा आचार्यगण द्वारा की गई परिभाषाओं का संकलन, इसके संपादकगण की परिभाषा योग निर्माण की कल्पना की पूर्ति स्वतः होती जायेगी।

जो जीव सयोगी होता है वह क्रिया सहित होता है, जो जीव अयोगी होता है वह क्रियारहित होता है। जहाँ योग है वहाँ क्रिया अवश्य है। मन, वचन तथा काययोगी की क्रियाओं से कर्मबंधन होता है।

परिशेष का यही वक्तव्य है कि संपादक श्री श्रीचंदजी चोरड़िया ने जो कार्य किया है वह बहुत महत्वपूर्ण है। मेरा अपना व्यक्तिगत अनुरोध है कि वे इस तरह का कार्य बहुत लगन के साथ करते जायें—जिससे विद्वानगण अत्यधिक लाभान्वित हो सके। इस तरह शोधपूर्ण कोश कार्य जैन दर्शन में बहुत ही कम हुआ है। मुझे स्मरण है कि ऐसी वैज्ञानिक जैन-दशमलव पद्धति द्वारा ऐसा कार्य किया है। ग्रंथागार विद्या के अनुसार इन सब का वर्गीकरण हुआ है वह बहुत महत्वपूर्ण है और प्रवृत्ति गवेषक के लिए आदर्श-मूलक ग्रंथ है। इसलिए संपादक श्री श्रीचंदजी चोरड़िया ने बहुत अच्छा कार्य किया है। मेरा ध्यान है कि विद्वान पंडित श्रीचंदजी चोरड़िया इस प्रकार के बहुत कार्य करके विद्वानों का पथ-प्रदर्शित करेंगे। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि दुरुह और कठिन कार्य में इनकी यादगारी रहेगी। इस प्रसंग में एक श्लोक उद्धृत करके पं० श्रीचंदजी चोरड़िया एवं कोश कार्य के महत्व को व्यक्त करना चाहता हूँ। दश पंखा के अपने गंगास्तोत्र में गंगा का महत्व कहाँ निहित है इसके प्रसंग में कहा—

सुरधुनि सुनिकन्ये तारये पुण्यवत्तम् ।
स तरसि निजपुण्यैस्तत्र किं ते महत्त्वम् ।
यदि तु गतिविहिनं तारये पापिन मां ।
सदिह तव महत्त्वं तन्महत्त्वं महत्त्वं ।

मैं भी कहता हूँ दुरुह और कठिन इस कार्य से सहज और सरल करने में आपका भगीरथ प्रयत्न है।

—सत्यरंजन बनर्जी

१-१-६३

प्राध्यापक-भाषा तत्व विज्ञान, कलकत्ता विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

जैन दर्शन सूक्ष्म है और गहन है तथा मूल सिद्धान्त ग्रन्थों में इसका कमवद्ध तथा विषयानुक्रम विवेचन नहीं होने के कारण इसके अध्ययन में तथा इसके समझने में कठिनाई होती है। अनेक विषयों के विवेचन अपूर्ण-अधूरे हैं। अतः अनेक स्थल इस कारण से भी समझ में नहीं आते। अर्थ बोध की इस दुर्गमता के कारण जैन-अजैन दोनों प्रकार के विद्वान जैन दर्शन के अध्ययन में सकुचाते हैं। क्रयवद्ध तथा विषयानुक्रम विवेचन का अभाव जैन दर्शन के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित करता है—ऐसा हमारा अनुभव है।

जब हमने नरक, पुद्गल तथा ध्यान आदिका अध्ययन प्रारम्भ किया तो हमारे सामने यही समस्या आयी। आगम और सिद्धान्त ग्रन्थों का संकलन करके इस समस्या का हमने आंशिक समाधान पाया। इस प्रकार जब-जब हमने जैन दर्शन के अन्यान्य विषयों का अध्ययन प्रारम्भ किया तब-तब हमें सभी आगम तथा अनेक सिद्धान्त ग्रन्थों को संपूर्ण पढ़कर पाठ संकलन करने पड़े। पुराने प्रकाशनों में विषय सूची तथा शब्दसूची नहीं होने के कारण पूरे ग्रन्थों को बार-बार पढ़कर नोंध करनी पड़ी। इसी तरह जिस विषय का भी अध्ययन किया हमें सभी ग्रन्थों का आद्योपांत अवलोकन करना पड़ा। इससे हमें अनुमान हुआ कि विद्वद् वर्ग जैन दर्शन के गम्भीर अध्ययन में क्यों सकुचाते हैं।

हमने सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को १०० वर्गों में विभक्त करके मूल विषयों के वर्गीकरण की रूपरेखा (देखें पृ० ६) तैयार की। यह रूपरेखा कोई अंतिम नहीं है। परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन की अपेक्षा भी इसमें रह सकती है। मूल विषयों में से भी अनेकों के उपविषयों की सूची भी हमने तैयार की है। उनमें जीव परिणाम (विषयांकन ०४) की उप विषय की सूची पृ० ६ पर दी गई है। जीव परिणाम की यह उपसूची भी परिवर्तन, परिवर्द्धन व संशोधन की अपेक्षा रख सकती है। विद्वद् वर्ग से निवेदन है कि इनके इन विषय सूचियों का गहन अध्ययन करें तथा इनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन, संशोधन सम्बन्धी अथवा अपने अन्य बहुमूल्य सुझाव भेजकर हमें अनुगृहीत करें।

कतरन व फाइल करने का कार्य पूरा होने के बाद हमने संकलित विषयों में से किसी एक विषयों में से पाठों का संपादन करने का विचार किया।

संपादन में निम्नलिखित तीन बातों को हमने आधार माना है :—

१—पाठों का मिलान

२—विषय के उपविषयों का वर्गीकरण तथा

३—हिन्दी अनुवाद

अस्तु लेश्या, क्रियाकोश, मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास, वर्धमान जीवन कोश के बाद हमने संपादन के लिए 'योग' विषय को ग्रहण किया। पुद्गल कोश, ध्यान कोश, संयुक्त लेश्या कोश भी तैयार किये हैं।

प्रत्येक विषय में संकलित पाठों तथा अनुसंधित पाठों का वर्गीकरण करने के लिए हमने प्रत्येक विषय को १०० वर्गों में विभाजित किया है तथा आवश्यकतानुसार इन सौ वर्गों को दस या दस से अधिक मूल वर्गों में भी विभाजित करने का हमारा विचार है—

सामान्यतः सभी विषयों के कोशों में निम्नलिखित वर्ग प्रायः अवश्य रहेंगे—

- .० शब्द विवेचन (मूल वर्ग)
- .०१ शब्द की व्युत्पत्ति-प्राकृत-संस्कृत तथा पाली भाषाओं में
- .०२ पर्यायवाची शब्द — विपरीतार्थक शब्द
- .०३ शब्द के विभिन्न अर्थ
- .०४ सविशेषण-ससमास-सप्रत्यय शब्द
- .०५ परिभाषा के उपयोगी पाठ
- .०६ प्राचीन आचार्यों द्वारा की गई परिभाषा
- .०७ भेद-उपभेद
- .०८ शब्द संबंधी साधारण विवेचन
- .१ विविध (मूल वर्ग)
- .०९ विषय संबंधी फूटकर पाठ तथा विवेचन

अन्य सब मूलवर्ग या उपवर्ग संकलित पाठों के आधार पर बनाये जायेंगे।

योग कोश में हमने निम्नलिखित मूलवर्ग रखे हैं —

- .० शब्द विवेचन
- .१ द्रव्य योग (प्रायोगिक)
- .२ भाव योग (प्रायोगिक)
- .३ योग और जीव
- .४ सयोगी जीव
- .५ विविध

यथासंभव वर्गीकरण की सब भूमिकाओं में एकरूपता रखी जायेगी।

योग कोश विषयांकन हमने ०४०५ किया है। इसका आधार यह है कि संपूर्ण जैन वाङ्मय को १०० भागों में विभाजित किया गया है। (देखें मूलवर्गीकरण सूची पृ० ६) इसके अनुसार जीव परिणाम का विषयांकन .०४ है। जीव परिणाम को सौ भागों में विभक्त किया गया है (देखें जीव परिणाम वर्गीकरण सूची पृ० ९) इसके अनु-

सार योग का विषयांकन ०५ होता है। अतः योग का विषयांकन हमने ०४०५ किया है। योग के अन्तर्गत आने वाले विषयों के आगे दशमलव का चिह्न है।

योग कोश भी लेश्या कोश की तरह हमारी कोश परिकल्पना का परीक्षण (ट्रायल) है। इस परिकल्पना में पुष्टता तथा हमारे अनुभव में यथेष्ट समृद्धि हुई है।

आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि प्रणीत षट्खंडागम दिगम्बर परम्परा का प्रमुख आगम ग्रंथ है। प्रथम सदी ईसवी के आस-पास आचार्य धरसेन ने पुष्पदंत और भूतबलि नामक दो तपस्वियों को महिमा नगरी से बुलाया। आन्ध्र प्रदेश के दोनों योग्य सुनिराज गिरनार पर्वत पर पहुँचे। बाद में उन्होंने षट्खंडागम सूत्रों की रचना की। सन् ८१६ ई० में आचार्य वीरसेन ने इसकी 'धवला' नाम से विशाल टीका लिखी। षट्खंडागम की भाषा शौरसेनी तथा प्राकृत है। हमने प्रत्येक कोश कार्य में षट्खंडागम को ग्रहण किया है।

योग, लेश्या, भाव, अध्यवसाय तथा परिणाम आदि जैन आगमों के परिभाषिक शब्द हैं। जीव का स्वरूप पंच भावात्मक है। जीव की अच्छी या बुरी कोई भी प्रवृत्ति हो, उसे पाँच भावों में से किसी न किसी साथ संबद्ध होना ही पड़ेगा। योग और लेश्या जीव की प्रवृत्तियाँ हैं। सिद्ध अवस्था में योग और लेश्या नहीं हैं परन्तु भाव है। तेरहवें गुण स्थान तक योग और लेश्या दोनों हैं परन्तु चौदहवें गुणस्थान में योग और लेश्या दोनों का अभाव है परन्तु भाव सब गुणस्थान में है।

द्रव्य लेश्या अष्टस्पर्शी है परन्तु द्रव्य योग में द्रव्य मनोयोग और द्रव्य वचन योग चतुस्पर्शी है (शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष) तथा द्रव्य काययोग अष्ट स्पर्शी है। ज्ञान का सागर अथाह है। लेश्याएँ छह हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल। सभी द्रव्य लेश्याएँ अष्टस्पर्शी—आठ स्पर्श वाली हैं। द्रव्य योग अजीव है परन्तु पुण्य, पाप और बंध नहीं हैं।

पाँच आस्त्र द्वार हैं—मिथ्यात्व, अवत, प्रमाद और कषाय—इन चार आश्रवों में योग का समावेश नहीं होता। योग आस्त्र के दो प्रकार हैं—शुभ योग और अशुभ योग आस्त्र। श्लोणी चर्चा ढाल १ में कहा है—

‘मन वचन काया रा जोग त्रिहूँ,

सलेसी कहा जिन राय ॥ ७ ॥

अर्थात् भगवान् महावीर ने मन, वचन तथा काया—इन तीन योगों को सलेशी कहा है। उत्तराध्ययन में तीन योगों की अगुप्ति को कृष्ण लेश्या का लक्षण कहा है। जो योग सहित होता है वह लेश्या सहित होगा ही। जहाँ लेश्या है वहाँ योग है। योग और लेश्या में अन्तर अवश्य है। योग के दो रूप बनते हैं—द्रव्ययोग और भावयोग। द्रव्ययोग पौद्गलिक परिणति है और भावयोग आत्मिक परिणति है। अन्तराल गति में

कर्मण काययोग होता है और अन्य योग नहीं होते हैं परन्तु लेश्या छुओं हो सकती है अतः वचनयोग और मनोयोग के अभाव में छुओं लेश्या हो सकती है। निष्कर्ष यह निकला कि काययोग के साथ लेश्या का सहावस्थान है। काय योग का सम्बन्ध शरीर की क्रिया से है। शरीर के रहते हुए भी चौदहवें गुणस्थान में योग और लेश्या नहीं होते हैं। एकेन्द्रिय में प्रथम चार लेश्या होती है परन्तु मनोयोग व वचनयोग नहीं होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय में प्रथम तीन लेश्या होती है परन्तु मनोयोग नहीं होता है अतः मनोयोग व वचनयोग के साथ लेश्या का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। सलेशी केवली के एक ऐसी अवस्था बनती है कि वर्तमान में किसी भी कर्म का बंध नहीं होता है परन्तु सयोगी केवली के ऐसी अवस्था नहीं बनती कि वर्तमान में वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं हो। प्राचीन आचार्यों ने योग परिणाम को लेश्या कहा है—यह सिद्धांत सर्व सम्मत नहीं है। कषाय के अभाव में भी सात योग होने का उल्लेख मिलता है, तथा—

- १—सत्य मनोयोग
- २—व्यवहार मनोयोग
- ३—सत्य वचनयोग
- ४—व्यवहार वचनयोग
- ५—औदारिक काययोग
- ६—औदारिक मित्र काययोग
- ७—कर्मण काययोग

अतः कषाय के साथ भी योग का अन्वय—व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। भाव मनोयोग के साथ भाव लेश्या का भी अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध घटित नहीं होता है—ऐसा कतिपय आचार्य मानते हैं।

शुभयोग से कर्म क्षीण होते हैं अतः उसका निर्जरा में समावेश होता है। शुभ योग से पुण्य का बंध होता है अतः उसे योग आश्रव कहा है। मनोयोग व वचन योग का सम्बन्ध औदारिक शरीर या स्थूल शरीर के साथ है तथा काययोग का सम्बन्ध पाँचों शरीर के साथ है। शरीर धारी के ही योग और लेश्या होते हैं। अशरीरी के नियम से योग और लेश्या नहीं होते हैं।

शुभयोग का समावेश औदयिक आदि पाँचों भावों में होता है तथा अशुभ योग का समावेश औदयिक और पारिणामिक दो भावों में होता है शुभयोग से पुण्य कर्म का बंधन होता है अतः शुभयोग नाम कर्म के उदय से निष्पन्न औदयिक भाव है। शुभयोग वीर्य अंतराय कर्म का क्षय-क्षयोपशम है तथा मोहनीय कर्म का उपशम भी है। उपशम अवस्था में कर्म के तीव्र विपाकोदय का उपशम होता है। प्रदेशोदय और मंद विपाकोदय के द्वारा कर्मों का क्षय होता रहता है। इससे उपशम और क्षय दोनों होते हैं, इस अपेक्षा से इसका नाम क्षयोपशम है।

वस्तुतः योग का शुभ और अशुभ होना मोहनीय कर्म से सम्बन्धित है। मोहनीय कर्म के औदयिक भाव से योग अशुभ बनता है। जहाँ योग के साथ मोहनीय कर्म का औदयिक भाव नहीं जुड़ता, वहाँ वह शुभ हो जाता है। श्रीमज्जयाचार्य ने शुभयोग आश्रव को औदयिक भाव बतलाया है।^१

जहाँ शुभयोग है वहाँ निर्जरा अवश्यमेव होती है। यह निर्जरा रूप शुभयोग वीर्यान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशम से होता है। अन्तराय कर्म का क्षयोपशमिक भाव पहले से बारहवें गुणस्थान तक होता है तथा क्षायिक भाव तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में होता है। सत्य, अचौर्य, शील, दया और शुभ ध्यान सभी प्रथम चार गुणस्थानों में भी पाये जाते हैं इन सभी गुणों का ग्रहण शुभयोग के बिना नहीं होता है।

योग का सम्पूर्ण रूप से निरोध चौदहवें गुणस्थान में होता है अर्थात् अयोग संवर चौदहवें गुणस्थान में होता है। वह अयोग संवर चार भाव वाला नहीं होता, केवल पारिणामिक भाव वाला होता है। अयोग संवर वाले चौदहवें गुणस्थान में पाँच ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) में महा निर्जरा होती है।

अशुभ योग आश्रव छठे गुणस्थान तक है तथा शुभयोग आश्रव तेरहवें गुणस्थान तक है। कषाय की दृष्टि से माया-प्रत्यया और अशुभयोगादिकी दृष्टि से आरम्भिकी क्रिया होती है। सातवें गुणस्थान में अशुभ योग की प्रवृत्ति नहीं होती अतः आरम्भिकी क्रिया नहीं होती।

अस्तु आश्रव के बीस भेद विवक्षित है। उनमें से मिथ्यात्व, अवत, प्रमाद—ये तीन आश्रव को छोड़ कर कषाय और योग—ये दो मूल आश्रव सातवें में उपलब्ध है। मन, वचन-काय—ये तीन आश्रव योग आश्रव के अंतर्गत हो सकते हैं। फिर भी उनकी स्वतंत्र रूप से विवक्षा की गई है, शेष आश्रव अशुभ योग के अंतर्गत माने जाते हैं। सातवें गुणस्थान में अशुभ योग नहीं होता अतः उसमें पाँच आश्रव माने गये हैं। शीघ्रीचर्चा में (दाल ६) कहा है—

सातमां गुणठाणां मांय, पंच आश्रव भेदज पाय पाय

कषाय जोग मनवच काया ॥७॥

ग्यारहवें, बारहवें व तेरहवें गुणस्थान में चार आश्रव होते हैं—योग, मन, वचन और काया।

पहले से दशवें गुणस्थान तक शुभयोग से पुण्य बंध होता है, उसे पुण्य संपराय कहा जाता है। पहले से छठे गुणस्थान तक यदि अशुभ योग से पाप बंध होता है, उसे अशुभ साम्परायिक क्रिया होती है।

१—नाम कर्म उदैनिपन ते, छ द्रव्य मांहि जीव।

नव में जीव आश्रव कही, शुभ जोग आश्रव कहीव ॥५॥

—शीघ्री चर्चा दाल ३

सातवें गुणस्थान में बीस संवरके भेदों में पन्द्रह भेद प्राप्त होते हैं। वहाँ योग अशुभ नहीं होते हैं। केवल शुभयोग होते हैं। चूँकि इस गुणस्थान में अकषाय, अयोग, मन, वचन और काय ये पाँच संवर प्राप्त नहीं होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण रूप से अयोग संवर होता है, वहाँ संवर के बीसों भेद मिलते हैं।

आठ आत्माओं में एक योग आत्मा भी है। योग आत्मामें पहले से तेरहवें गुणस्थान तक मिलते हैं। ग्यारहवें बारहवें व तेरहवें गुणस्थान में एक ईर्यापथिक क्रिया होती है वह सिर्फ शुभयोग के द्वारा होती है। चौदहवाँ गुणस्थान अयोग आत्मा है चूँकि आत्मा अनेक है। स्त्रीणीचर्चा में कहा है—

चवदमो गुणठाण रे, अजोग आत्मा ।

ढाल ७।१२

श्रीमज्जयाचार्य शुभयोग को मार्ग तथा अशुभ योग को उन्मार्ग बताया है। तथा उन्होंने अप्रमाद, अकषाय एवं अयोग संवर को धर्म नहीं माना। धर्म अमूल्य है। वह तीन आत्मा है—शुभयोग रूपयोग आत्मा, सावद्ययोग त्याग रूप चारित्र आत्मा और सम्यक्त्व रूप दर्शन आत्मा। अधर्म अशुभ योग रूप होने के कारण योग आत्मा भी है। शुभयोग को निर्जरा धर्म की अपेक्षा मार्ग कहा है। शुभयोग से होने वाली निर्जरा धर्म है तथा अशुभयोग अधर्म की कोटि में है फिर भी शुभयोग मार्ग की कोटि में विवक्षित है अतः अशुभयोग को मार्ग की कोटि में भी रखा गया है।

श्री मज्जयाचार्य ने स्त्रीणीचर्चा में शुभयोग में औपशमिक भाव छोड़कर चारभाव कहा है तथा आत्मायोग कहा है। अशुभयोग में औदयिक और पारिणामिक दो भाव कहा है तथा आत्मायोग कहा है। भाव जीव में योग आदि सात आत्मा कही है।

बोलना, चलना, स्नान करना, शृंगार करना, खेती करना, झूठ बोलना तथा चोरी करना आदि एक योग आत्मासे होता है। योग आत्मा अनेक है। योग आत्मा सावद्य भी है, निरवद्य भी है। कर्मों का क्षय योग आत्मा से भी होता है। योग के बिना अयोगी के भी ध्यान से कर्म क्षय होते हैं।

करणी की अपेक्षा योग, दर्शन तथा चारित्र आत्मा-आज्ञा में है। सर्व उत्तर गुण एक योग आत्मा है तथा सर्व मूल गुण एक चारित्र आत्मा है। शुभयोग में चार अथवा पाँच भावकी व्यवस्था मिलती है तथा अशुभयोग में औदयिक व पारिणामिक दो भावकी व्यवस्था मिलती है।

वीर्य के दो भेद हैं—लब्धि वीर्य और करण वीर्य। करण वीर्य योग बन जाता है। योग सावद्य व निरवद्य बताया गया है। लब्धि वीर्य को निरवद्य कहा है। करणी की अपेक्षा योग, दर्शन तथा चारित्र आत्मा धर्म सम्मत है।

योग आत्मा को सर्व उत्तर गुण व देश उत्तर गुण कहा है। शुभयोगों से कर्म का

निर्जरा होता है उसे भगवान् ने निर्जरा कहा है। पुण्य की कर्त्ता सिर्फ योग आत्मा है। योग आत्मा संप्रदेशी है। सावद्य योग की अपेक्षा योग आत्मा को निंदनीय कहा है।

योग आत्मावाले जीवों में (भिन्न-भिन्न जीवों का अपेक्षा) बारह उपयोग होते हैं।

जहाँ योग आत्मा है वहाँ कषाय, ज्ञान व चारित्र आत्मा की यजना है तथा शेष पाँच आत्मा की नियमा है।

उदय के तेतीस बोलों में एक बोल सयोगी है।

शुभयोग की औदयिक भाव भी माना है व्यक्ति के उससे पुण्य का आश्रव होता है।

जीव परिणाम के दस भेद है उनमें योग परिणाम पाँचवाँ है तथा लेश्या परिणाम चौथा है अतः दोनों परिणाम भिन्न-भिन्न है। लेश्या परिणाम में छह लेश्याएं व योग परिणाम में तीन योग समाविष्ट हैं।

भगवती सूत्र में प्रमत्त संयत की अपेक्षा शुभयोग को अनारम्भिक कहा है। सयोगी-गित्व का नव पदार्थों में जीव-आश्रव-निर्जरा में समवतार होता है।

योग का सम्बन्ध अंतराय कर्म के क्षय क्षयोपशम तथा शरीर नाम कर्म के उदय से है। इस दृष्टि से योग में उपशम भाव को बाद देकर चार भाव का उल्लेख है। क्योंकि उपशम अंतराय कर्म का नहीं होता है, केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। निर्जरा मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम निष्पन्न भाव के बिना नहीं होती है, इस दृष्टि से योग में पाँच भाव भी मिलते हैं। उसे सहचर बताया गया है।

योग स्वयं सावद्य-निरवद्य नहीं होता है। वह मोहनीय कर्म के औदयिक भाव के साहचर्य से सावद्य बनता है तथा उसके उपशम, क्षय और क्षयोपशम निष्पन्न भाव के साहचर्य से निरवद्य बनता है। जहाँ शुभयोग से पुण्य बंध होता है वहाँ साथ साथ निर्जरा भी होती है। इस दृष्टि को निर्जरा को योग का सहचर बताया गया है।

यद्यपि भगवती सूत्र में द्रव्य काययोग को अष्टस्पर्शी कहा है। चूँकि द्रव्य काययोग के अंतर्गत कार्मण काययोग भी है, जो चतुःस्पर्शी है, कार्मण शरीर भी चतुःस्पर्शी है। अतः काययोग चतुःस्पर्शी व अष्टस्पर्शी दोनों होने चाहिए, किन्तु यहाँ कार्मण काययोग की विवक्षा की गई है। शीत, उष्ण, स्निग्ध, तथा रुक्ष के चार मौलिक स्पर्श है। द्रव्ययोग चतुःस्पर्शी भी है, अष्टस्पर्शी भी है। लेकिन लेश्या को अष्टस्पर्शी कहा है।

बयालीस दोष व बावन अनाचार को जयाचार्य ने अशुभयोग आत्मा कहा है। ईयाधिक में केवल पुण्य का बंध होता है। शुभयोग के बिना पुण्य का बंध नहीं होता है।

चूँकि उदयनिष्पन्न भाव जीव है, उसके तेतीस बोल है। उसमें एक बोल— सयोगित्व है, तथा—

१—चारगति, छहकाय, छहभाव लेश्या, चार कषाय, तीन वेद-मिथ्यादृष्टि, अवती, असंश्लित्व, अज्ञानित्व, आहारता, संसारता, असिद्धत्व, अकेवलित्व, छद्मस्थता और सयोगित्व ।

इनमें आहारकत्व और सयोगित्व मावय-निरवय दोनों है । माधु आहार करता है वह शुभयोग है उससे पुण्य का बंध होता है । इसके विपरीत गृहस्थ का आहार करना अशुभ योग है, उससे पाप का बंध होता है ।

कषायकुशील चौथे निर्ग्रन्थ में कर्मण काययोग को बाद देकर चतुर्दश योग होते हैं । चूँकि तेरहवें गुणस्थान में सयोगी व चौदहवें गुणस्थान में अयोगी होते हैं । सिद्ध भी योग रहित होते हैं । जयाचार्य ने मीमीचर्चा में छठे गुणस्थान में चौदह योग कहे हैं । (ढाल २१।१४)

तीन योग—मानसिक-वायिक-काचिक प्रवृत्ति से हिंसा की जाती है वह प्राणाति-पत आखव है । क्रोध से विकृत (तप्त) जीव प्रदेश को कषाय आखव कहा है । उदीरणा-पूर्वक किये जाने वाले क्रोध को अशुभ योग कहा जाता है । नौवें और आठवें गुणस्थान में शुद्धलेश्या और शुभयोग होता है फिर क्रोधादि से जीव प्रदेशों को कषाय आखव कहा जाता है । अशुभ योग की लालिमा सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थान में नहीं है । द्रव्य क्रोध, मान, माया और लोभ चतुःस्पर्शी है लेकिन अशुभयोग-चतुःस्पर्शी तथा अष्टस्पर्शी दोनों है ।

मद्य-पान, विषय, उदीरणापूर्वक होने वाला कषाय, भावनिद्रा एवं विकथा—ये पाँचों योग रूप प्रमाद है । लब्धि का प्रयोग करना अशुभ योग है । उसे अपेक्षा से प्रमाद कहा है तथा वह योग आखव में है ।

अस्तु प्रमाद के दो भेद हैं : १—आन्तरिक अनुत्साह रूप व २—विषय कषाय आदि अशुभ योग की प्रवृत्ति रूप । यदि साधु के अशुभ योग की प्रवृत्ति होती है तो उससे उत्कृष्टतः छह मासिक प्रायश्चित्त आता है ।

छठे गुणस्थान में प्रमाद आखव निरन्तर होता है । दसवें गुणस्थान तक कषाय आखव निरन्तर होता है । उनसे निरन्तर पाप लगता है । वह तीनों योगों से पृथक् कहलाता है ।

मद्य-पान, विषय तथा कषाय आदि प्रबल प्रवृत्तियों को पाँच प्रमाद कहा है । वे भी अशुभ योग और असमाधि के कारण पाँचवें आखव योग के अन्तर्गत होते हैं । छठे प्रमत्त संयत गुणस्थान में निरन्तर प्रमाद स्वीकार किया है ।

तीर्थंकरों के समुद्घात नहीं होता है । सामान्य केवली के यदि केवली समुद्घात होता है तो उस समय उनके काय संबंधी तीन योग होते हैं । शेष योग नहीं होते । केवली

समुद्घातके पहले और आठवें समयमें औदारिक काययोग होता है । दूसरे, छठे तथा सातवें समय में औदारिक मिश्र काय योग होता है । तीसरे, चौथे तथा पाँचवें समयमें कार्मण काय योग होता है परन्तु केवली समुद्घात के आठों समय में शुद्ध लेश्या होती है । यद्यपि द्रव्य कार्मण काय योग चक्षुःस्पर्शी है परन्तु द्रव्य शुद्ध लेश्या अष्टस्पर्शी है । अस्तु योग पन्द्रह होते हैं । केवली समुद्घात के समय केवल तीन योग होते हैं । शेष बारह योग नहीं होते हैं ।

साधु के पाँच मंडली भोज के दोष में पहला संयोग है । स्वाद के लिए खाद्य वस्तुओं का संयोग करना संयोग दोष है ।

जब सयोगी केवली के मन-वचन-योग या निरोध हो जाता है पर काययोग का पूर्ण निरोध नहीं होता उस स्थिति में सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है ।

काययोग की शेष प्रवृत्तियों को क्षीण करने पर शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है । उसमें पूर्ण योग निरोध हो जाता है । वहाँ समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति शुक्लध्यान होता है ।

ईयाँदि पाँच समिति में आत्मा एक योग होती है । भाव जीव में आत्मायोग आदि सात आत्मा होती है । योग आत्मा में पाँच भाव होते हैं । योग आत्मा उत्तर गुण है परन्तु चारित्र आत्मा मूलगुण है । बीस आस्रव में सोलह आस्रव (मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद व कषाय को छोड़कर) योग आत्मा है । बीस संवर में अयोग-मन-वचन-काय ने चार संवार भाव एक पारिणामिक है तथा आत्मा अनेरी माना है ।

पन्द्रह योगों में—सत्यमन, सत्यभाषा, व्यवहारमन, व्यवहार भाषा, औदारिक—इन पाँच योगों में भाव पाँचों होते हैं । औदारिक मिश्र, कार्मण में भाव तीन—उदय-क्षायिक पारिणामिक । आहारक, वैक्रिय में भाव तीन—उदय, क्षयोपशम व पारिणामिक । अवशेष छह योग में भाव दो उदय-पारिणामिक होते हैं । ऐसी कतिपय आचार्यों की मान्यता है ।

द्रव्ययोग अजीव तथा भावयोग जीव है । द्रव्ययोग रूपी ; भावयोग अरूपी है ।

असत्यमन, असत्यभाषा, मिश्रमन, मिश्रभाषा, आहारिकमिश्र तथा वैक्रियमिश्र—ये छः योग सावद्य है । अवशेष नौ योग—सावद्य-निरवद्य दोनों है ।

चारमनोयोग, चारवचनयोग और एककार्मण—ये नौ योग चक्षुःस्पर्शी है शेष छः अष्टस्पर्शी है । असत्य मन, असत्यभाषा, मिश्रमन, मिश्रभाषा, वैक्रियमिश्र तथा आहारिकमिश्र ये छः योग नवतत्त्व में जीव व आश्रव है; अवशेष नौ योग आश्रव, जीव व निर्जरा है ।

योग तथा लेश्या परिणामी में भाव पाँच तथा आत्मा एक योग माना है । योग परिणाम नौ तत्त्व में जीव, आस्रव व निर्जरा है । मन, वचन-काय एवं योग आस्रव—ये चार आस्रव सावद्य-निरवद्य दोनों है ।

भावक की सामायिक यदि तीन करण तथा तीन योग से की जाती है तो नवकोटी सामायिक होती है। यदि दो करण तीन योग से की जाती है तो छह कोटी सामायिक होती है। यदि करने, कराने का तीन योग से, अनुमोदन की वचनसे तथा कायसे सामायिक की जाती है तो वह आठ कोटी सामायिक है।^१

औदयिक भाव के ३३ बोलों में एक भेद सयोगी है उसमें भाव चार औदायिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक व पारिणामिक होते हैं, नव तत्त्व में जीव, आस्रव व निर्जरा है। सावद्य-निरवद्य दोनों हैं।

योग शाश्वत भी है, अशाश्वत भी है (किसी अपेक्षा से) सयोगी जीव में किसी न प्रकार का योग होता ही है लेकिन एक योग हरदम नहीं होता है। अतः बोग शाश्वत भाव भी है तथा अशाश्वत भाव भी है। कहा है—

तत्थ णं जे ते पमत्त संजया ते सुहं जोगं षडुच्च णो अणारंभा, णो परारंभा, णो तदुमयारंभा अणारंभा ।
—भग श १। उ १। प्र ४८

अर्थात् जब प्रमत्त संयत के शुभयोग होता है तब वह अनारम्भी होता है, अतः शुभयोग प्रवर्तते हुए अनारम्भी प्रमत्त संयत को आरम्भ का अभाव होने से आरम्भिकी क्रिया नहीं होती है।

केवली समुद्धात की अवस्था में केवल काययोग होता है। यह समुद्धात आयुष्य के पूर्ण होने के अन्तर्मुहूर्त पूर्व होता है। कृत समुद्धात अथवा समुद्धात किये बिना सयोगी केवली जीव जब चतुर्दश गुणस्थान में प्रवेश करते हैं तब उनके अन्तर्मुहूर्त-स्थिति-सीमित संसाररूप तथा समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्तिशुक्लध्यानरूपा अंतक्रिया होती है।

शरीर, वचन एवं मन के द्वारा होने वाले आत्म-प्रयत्न को योग कहते हैं। आत्म-प्रयत्न में जिन पुद्गलों की सहायता ली जाती है वह द्रव्ययोग है। आत्म-प्रयत्न भाव योग है। द्रव्ययोग अजीव है, भावयोग जीव है।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से योग के तीन भेद हैं। प्रकारान्तर से योग के पन्द्रह भेद हैं।

(१) मनोयोग—मन के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न मनोयोग है। मन की प्रवृत्ति के लिए जो मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं—वह द्रव्यमनोयोग। उन गृहीत पुद्गलों की सहायता से जो मनन होता है, वह भाव मनोयोग है।

(२) वचनयोग—भाषा के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न वचनयोग है। वह दो प्रकार का है। कहा है—

सबसे सुद्धा हुआ सुद्धणया—द्रव्यसंग्रह—अर्थात् एक तत्त्व में दो परस्पर विरोधी रूप नहीं हो सकते। यदि है तो उनमें कोई एक ही रूप मौलिक एवं वास्तविक हो सकता है। ज्ञान, दर्शन व उपयोग आदि में जीव जो परिणमन करता है उससे उसके आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन नहीं होता है। योग और क्रिया परिस्पंदनात्मक है। परिणाम और क्रिया दोनों जीव के भाव है। जब कोई जीव क्रिया करता है तब उसके आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन होता है। परिस्पंदनात्मक भाव में एजनादि क्रिया तथा देशान्तर प्राप्ति रूप क्रिया करता है।

चतुर्दशगुणस्थानवर्ती जीव के सम्पूर्ण योग निरोध हो जाते हैं। जो जीव अयोगी होता है वह क्रियारहित होता है, अयोगी जीव अलेशी होते हैं। जहाँ योग है वहाँ क्रिया अवश्य है। मन-वचन-काययोगी की क्रियाओं से कर्मबंधन होता है। योग के साथ कषाय होती है तो सांपरायिकी क्रिया होती है, योग के साथ कषाय नहीं होती है तो ऐयौपथिकी क्रिया होती है। कहा है—

सूक्ष्मवादर-काय-वाङ्-मनोयोगनिरोधादक्रिया × × × सयोगित्वात् सक्रिया।

—पण्ण० प २२ / सू १५७३। टीका

अर्थात् सूक्ष्म-वादर कायवाङ्-मनोयोग का निरोध होने से जीव अक्रिय हो जाता है। सयोगी जीव योग के कारण सक्रिय होता है।

उपयोग जीव का मौलिक गुण है। यह गुण सयोगी व अयोगी जीव में होता है। अयोगी सर्वज्ञ का केवल ज्ञानोपयोग तथा केवल दर्शनोपयोग सर्वथा अपरिस्पंदनात्मक अकरण वीर्यवाला अर्थात् सब प्रकार की क्रिया से रहित होता है।

मति-भ्रत-अबधि-मनःपर्यव वाले जीव सयोगी होते हैं, अयोगी नहीं होते हैं। केवल-ज्ञानी जीव सयोगी भी होते हैं, अयोगी भी।

वचनयोग—भाषा रूप है। द्रव्ययोग रूपी है, अचित्त है व अजीव है। यद्यपि भाषा जीवों के होती है, अजीवों के नहीं होती। बोलने के पूर्व, बोलने के पश्चात् भाषा नहीं कहलाती है। परन्तु बोलने के समय भाषा कहलाती है। बोलने से पूर्व तथा पश्चात् भाषा का भेदन नहीं होता है। बोलने की भाषा का भेदन होता है।

अस्तु भाषा जीव के द्वारा बोली जाती है और वह जीव के बंध और मोक्ष का कारण होती है।

सयोगी जीव वर्तमानकाल में किसी न किसी कर्म को बांधता है लेकिन सलेशी शुक्ललेशी जीवों में ऐसा भी जीव होता है वह वर्तमान में किसी भी प्रकार का कर्म बंधन नहीं करता है। भग० श २६

मनोयोगी, वचनयोगी व काययोगी में छुओं लेश्या होती है। सयोगी गुणस्थान में एक शुक्ल लेश्या होती है परन्तु अयोगी जीव लेश्या रहित ही होते हैं। भग० श २६

उदय के तेतीस बोलों में—आहारता सयोगी ये दो बोल सावद्य-निरवद्य दोनों है। सयोगी-नाम तथा मोहनीय कर्म का उदय है।

कतिपय आचार्यों ने छः लेश्या आहारता-सयोगी को योग आत्मा के अंतर्गत माना है। धर्म में आत्मा तीन योग, दर्शन-चारित्र, अधर्म में तीन आत्मा-कषाय-योग-दर्शन माना है। दया में दो आत्मा योग और चारित्र; हिंसा में आत्मा एक योग माना है।

शुभयोग में पाँच भाव, अशुभ योग में भाव दो उदय व पारिणामिक। आत्मा केवल योग माना है।

शुभयोग नव तत्त्व में तीन-आत्मव-जीव-निर्जरा, अशुभ योग नव तत्त्व में—जीव, आभव माना है।

- (१) एक योग-अपर्याप्तक अनाहारक में—कर्मणकाययोग।
- (२) दो योग-विकलेन्द्रिय के पर्याप्तक में—औदारिक और व्यवहार भाषा।
- (३) तीन योग-वायुकाय के अतिरिक्त चार स्थावर में—औदारिक, औदारिकमिथ और कर्मण काययोग।
- (४) चार योग-विकलेन्द्रिय में—औदारिक, औदारिकमिथ, व्यवहार भाषा और कर्मण।
- (५) पाँच योग-वायुकाय में—औदारिक, औदारिकमिथ, वैक्रिय, वैक्रियमिथ और कर्मण।
- (६) छह योग-असंज्ञी प्राणी में—औदारिक-औदारिकमिथ, वैक्रिय, वैक्रियमिथ, व्यवहार भाषा और कर्मण।
- (७) सात योग-केवली में—सत्यमन, सत्यभाषा, व्यवहार मन, व्यवहार भाषा, औदारिक, औदारिकमिथ और कर्मण।
- (८) आठ योग-संज्ञी के अलब्धक आहारक—असंज्ञी तथा सर्वज्ञ में—सत्य मन, सत्यभाषा, व्यवहार मन, व्यवहार भाषा, औदारिक, औदारिकमिथ, वैक्रिय तथा वैक्रियमिथ।
- (९) नव योग-पूर्ण आहारक शरीर में—चारमन के, चार वचन के और आहारक।
- (१०) दस योग-मिथ गुणस्थान में—चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय तथा औदारिक।
- (११) ग्यारह योग-नारक एवं देवों में, चारमन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रिय-मिथ एवं कर्मण।

- (१२) बारह योग-श्रावक में—आहारक, आहारकमिश्र तथा कर्मण को छोड़कर ।
 (१३) तेरह योग-तिर्यंच एवं स्त्री में—आहारक एवं आहारकमिश्र को छोड़कर ।
 (१४) चौदह योग-आहारक में—कर्मण को छोड़कर ।
 (१५) पन्द्रह योग-सइन्द्रिय में ।

धर्म और पुण्य दो है । धर्म आत्मा की सत्प्रवृत्ति है और पुण्य शुभयोग के द्वारा आत्मा के चिपकने वाले शुभकर्म पुद्गल है ।

सयोगी केवली गुणस्थान—केवली होने पर भी जो मन, वचन तथा काय की प्रवृत्तिवाला होता है, उसकी आत्मविशुद्धि ।

अयोगी केवली गुणस्थान—जो केवली योगकी प्रवृत्ति-रहित होता है, उसकी आत्म-विशुद्धि ।

पृथ्वी, पानी, अग्नि तथा वनस्पतिमें योग तीन—औदारिक, औदारिकमिश्र व कर्मण योग होते हैं । वायुकाय में पाँच योग होते हैं । तीन ऊपर के तथा वैक्रिय, वैक्रियमिश्र होता है ।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चत्वारिन्द्रिय में योग चार—औदादिक, औदारिकमिश्र, व्यवहार भाषा व कर्मण होते हैं ।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय में तेरह योग होते हैं—(आहारिक-आहारिकमिश्र काययोग को छोड़कर) ।

मनुष्य में योग पन्द्रह होते हैं तथा देव-नारकी में ब्यारह योग होते हैं—४ मन के, ४ वचन के, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र व कर्मण काययोग होते हैं ।

कर्मों की निर्जरा योग आत्मा से भी होती है, योग आत्मा के बिना चौदहवें गुण-स्थान में भी निर्जरा होती है ।

कर्म की कर्त्ता तीन आत्मा है—योग, कषाय व दर्शन । योग आत्मा-भावजीव है परन्तु द्रव्य जीव नहीं है ।

सद्यभाव-तीन आत्मा है—कषाय-योग व दर्शन । उपशमभाव तीन आत्मा-योग, दर्शन, वचारित्र । योग आत्मा-आशाश्रवत भी है ।

योग, दर्शन आत्मा सावद्य भी है, निरवद्य भी है । सावद्य-निरवद्य काम करने वाली आत्मा एक—योग ।

भगवती सूत्र में कहा है—

मणजोगे, वइजोगे य चउफासे, कायजोगे अठफासे ।

—भग० श० १२।१७

अर्थात् मनोयोग, वचनयोग के पुद्गल चतुःस्पर्शी है तथा द्रव्य काययोग अष्ट-स्पर्शी है ।

प्रमत्त संयत शुभयोग की अपेक्षा अनारंभी है, आत्मारंभी, परारंभी, तदुभयारंभी नहीं है ।

पुलाक निर्घन्ध सयोगी है, अयोगी नहीं है । वे सयोगी—मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी होते हैं । इसी प्रकार बुक्कस, प्रतिसेवना, कषायकुशील व निर्घन्ध के विषय में जानना चाहिए । स्नातक-सयोगी-अयोगी दोनों होते हैं ।

यद्यपि लेश्या, योग, अध्यवसाय के स्थान असंख्यात स्थान होते हैं । पर्याय अनंत होती है । संयम के भी स्थान असंख्यात होते हैं परन्तु पर्याय अनंत होती है । जाति-स्मरण ज्ञान, विभंग ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः पर्यवज्ञान, केवलज्ञान तथा गुणस्थान ऊर्ध्वारोहण के समय प्रशस्त अध्यवसाय, विशुद्धमान लेश्या के साथ शुभयोग होते हैं । इन सबकी प्राप्ति के समय शुभयोग होना ही चाहिये । सम्भवरव की प्राप्ति के समय भी शुभयोग होता ही है । आगमों में असंख्य तिर्यंच पंचेन्द्रिय में तीन अशुभ लेश्याओं का उल्लेख है लेकिन अध्यवसाय प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों हैं । लेश्या सेव, योग से अध्यवसाय सूक्ष्मतर है । फिर भी विशुद्धमान लेश्या के साथ प्रशस्त अध्यवसाय का उल्लेख मिलता है । अध्यवसाय हमारी सूक्ष्मतर चेतना है । अग्निकाय, वायुकाय के जीवों में तीन अशुभ लेश्या का विवेचन है परन्तु उनमें अध्यवसाय प्रशस्त भी हो सकते हैं, अप्रशस्त भी हो सकते हैं ।

एक ऐसी स्थिति भी बनती है लेश्या के द्वारा कर्म का बंध नहीं होता परन्तु योग रहते हुए कर्म का बंध अनिवार्य रूप से होगा । द्रव्यलेश्या के पुद्गल अष्टस्पर्शी है परन्तु द्रव्ययोग के पुद्गल चतुःस्पर्शी भी होते हैं । लेश्या भाव चेतना का सूक्ष्म-स्तर है । मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं । फिर भी लेश्या और योग का क्या-क्या होना चाहिए—इस पर अभी तक सम्यग् प्रकार शोध नहीं हुआ है । लेश्या और योग चौदहवें गुणस्थान में नहीं है परन्तु शुद्ध ध्यान है । चौदहवें गुणस्थान में भी कर्मों से छुटकारा नहीं मिलता । यह निश्चित है कि जिसके कर्म नहीं हैं उसके न ध्यान है, न योग है, न लेश्या है, न अध्यवसाय है । अतः सिद्धावस्था में न ध्यान है, न योग है, न लेश्या है, न अध्यवसाय है । पृथ्वीकाय की अपर्याप्त अवस्था में लेश्या तीन अशुभ होती है परन्तु अध्यवसाय प्रशस्त भी होते हैं, अप्रशस्त भी होते हैं ।

जब तक योग है तब तक लेश्या रहती है । योग के अभाव—चौदहवें गुणस्थान में लेश्या नहीं होती है । लेश्या योगान्तर्गत द्रव्य रूप है । योगान्तर्गत पुद्गल आत्मा में रही हुई कषाय को बढ़ाते हैं । जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है ।

असुर कुमारों में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त असंख्य पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक के चौथे, पाँचवें तथा छठे गमक में अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं ।

पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक जीव जो असुरकुमारों में उत्पन्न होता है, उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग की कही है। यह पल्योपम का असंख्यातवां भाग, पूर्वकोटि रूप समझना चाहिए क्योंकि सम्मुच्छिन्न तिर्यंच का उत्कृष्ट आयुष्य पूर्वकोटि प्रमाण होता है और अपने आयुष्य के समान ही उत्कृष्टदेव आयुष्य को बाँधता है, अधिक नहीं बाँधता है, चूर्णिकार ने भी यही कहा है—यथा—

“सर्वकोसेण सत्तुल्यपुव्वकोडी आउयत्तं णिवत्तेइ ण य सम्मुच्छिन्ने पुव्वकोडी आउयत्ताओ परो अरिथि ।”

अर्थात् सम्मुच्छिन्न तिर्यंच की आयुष्य पूर्वकोटि से अधिक नहीं होती है अतः वह देवभव में भी पूर्वकोटि परिमाण की आयुष्य बाँधता है परन्तु अधिक नहीं बाँधता है।

असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त्त भी होती है और नरक में जाने वाले के अध्यवसाय स्थान अप्रशस्त होते हैं। आयुष्य की दीर्घ स्थिति हो तो—प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय हो सकते हैं।

संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय—जिसकी स्थिति जघन्य स्थिति हो तो—वह यदि नरक में उत्पन्न हो तो अप्रशस्त अध्यवसाय तथा लेश्या तीन अशुभ होती है—योग भी अशुभ होते हैं। जिस मनुष्य ने अपने जीवन में अवधिज्ञान, मनः पर्यवज्ञान तथा आहारक शरीर को प्राप्त किया है वह उससे पतित होकर नरक में जा सकता है। चूर्णिकार ने कहा है—

—ओहिणाणमणपज्जव आहारयशरीराणि लद्धूणं परिसाडित्ता उववज्जंति

—भग० श० २४।चूर्णि

अर्थात् जो मनुष्य अवधि ज्ञान, मनः पर्यवज्ञान, आहारक शरीर प्राप्त करते हैं, वहाँ से गिरकर नरक में उत्पन्न हो सकते हैं।

× × × ऐसे एकेन्द्रिय को जीव प्रथम-प्रथम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय कहते हैं। ६

प्रथम समयोत्पन्न होते हुए भी कृतयुग्म-कृतयुग्म राशि का पूर्वभव में अनुभव किया हुआ होनेसे उन्हें एकेन्द्रिय जीव प्रथम-अप्रथम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय कहते हैं। ७

प्रथम समयवर्ती और चरम समय अर्थात् मरण समयवर्ती होने से इन्हें प्रथम-चरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय कहते हैं। ८

प्रथम समय में वर्तमान तथा अचरम अर्थात् एकेन्द्रियोत्पत्ति के समयवर्ती एकेन्द्रिय जीवों को प्रथम-अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय कहा है। ९

कृतयुग्म-कृतयुग्म संख्या के अनुभव के चरम और चरम समय अर्थात् मरण समयवर्ती एकेन्द्रियों को चरमचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय कहा है। १०

कृतयुग्म-कृतयुग्म संख्या के अनुभव के चरम और अचरम समय अर्थात् एकेन्द्रोत्पत्ति के समयवर्ती एकेन्द्रिय जीव चरम-अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय है । ११

सयोगी (मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी) जीव एजनादि क्रिया करता है, अयोगी जीव के एजनादि क्रिया नहीं होती । सयोगी जीव एजन (कंपन), विशेष कंपन, चलन (एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना) स्पन्दन (थोड़ा चलना) घट्टन (सब दिशाओं में चलना) क्षुम्भित होता हुआ उदीरण आदि क्रियाएँ करता है और उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्जन, प्रसारण आदि पर्यायों को प्राप्त होता है । पूर्वोक्त क्रियाओं को करने वाला जीव सकल कर्म क्षय रूप अंतक्रिया नहीं कर सकता है । इसका कारण यह है कि उपर्युक्त क्रियाएँ करने वाला जीव आरम्भ, सरम्भ, समारम्भ करता है, इनमें प्रवृत्त होता है ।

शैलेशी अवस्था में योग का निरोध हो जाता है । इसीलिए एजनादि क्रिया नहीं होती है । एजनादि क्रिया न होने से वह आरम्भादि में प्रवृत्त नहीं होता और इसीलिए वह प्राणियों के दुःखादि का कारण नहीं बनता है । इसीलिए योग निरोध रूप शुक्ल ध्यान द्वारा अक्रिय आत्मा की सकल क्षयरूप अंतक्रिया होती है ।

किसी अपेक्षा से चौदहवें गुणस्थान में एजन क्रिया नहीं है किन्तु सिद्ध के प्रथम समय में योग का अभाव होने पर भी एजन क्रिया होती है । सिर्फ एक समय की ऋजुगति होने के समय एजन क्रिया मानी जाती है ।

कर्म-परमाणुओं को आकर्षित करने की क्रिया को भी आस्रव कहा जाता है । कर्म पुद्गल परमाणुओं का आकर्षण काययोग (शरीर प्रवृत्ति) से होता है । बाहरी पुद्गलों को आकर्षित करने वाले घटक के रूप में काययोग आस्रव बनता है । सभी कर्म परमाणु काययोग के द्वारा ही आकर्षित होते हैं । जैसे तालाब में नाले से जल आता है वैसे ही काययोग के द्वारा कर्म के परमाणु भीतर आकर जीव प्रदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं । जैसे गीले कपड़े पर वायु द्वारा लाये गये रजकण चिपकते हैं, वैसे ही राग द्वेष गीले बने हुए जीव पर काययोग द्वारा लाए गये कर्म परमाणु चिपकते हैं । जैसे तपा हुआ लोहपिंड जलकणों को आत्मसात् कर लेता है वैसे ही कषाय से उत्पन्न जीव कर्म परमाणुओं को आत्मसात् कर लेता है ।

आस्रव के पाँच प्रकार हैं—१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४ कषाय और ५ योग । कषाय के समाप्त होने पर केवल योग से पुण्य कर्म का बंध होता है ।

मनुष्य के षास प्रवृत्ति के तीन साधन हैं—मन, वचन और काय । ये तीनों योग कहलाते हैं । योग का अर्थ है—प्रवृत्ति, चंचलता या सक्रियता ।

चार आस्रवों से चैतन्य मूर्च्छित होता है, इसलिए वे दुःख के हेतु बनते हैं। योग अपने आप में सुख और दुःख का हेतु नहीं है। यह मिथ्यात्व आदि चार आश्रवों में प्रवृत्त होता है तब दुःख का हेतु बन जाता है और जब यह तपस्या में प्रवृत्त होता है तब दुःख का हेतु नहीं होता है। कहा है—

छठे गुण ठाणे जिन कहा दे,
चवदै जोग सुजोय जी ॥१३॥

—नियंठा दिग्दर्शन गा १३।पृ. ३१३ अमृत कलश भाग १

छठे गुणस्थान में कर्मण काययोग को बाद देकर चौदह योग होते हैं।

षट्खंडागम की मान्यातानुसार शुक्ललेशी संयता-संयत में नौ योग होते हैं, शुक्ललेशी प्रमत्त संयत में ग्यारह योग होते हैं, शुक्ललेशी अप्रमत्त संयत में नौ योग होते हैं तथा शुक्ललेशी अपूर्व करण गुणस्थान यावत् सयोगी केवली गुणस्थान में योग का विवेचन औधिक यंत्र की तरह जानना चाहिए।

अशुभ योग आस्रव आशा बाहर है, सावय है तथा शुभयोग आस्रव आशा में है, निरवय है, आठ आत्मा में योग आत्मा भी है। अव्यवहराशि में तीन योग-औदारिक, औदारिकमिश्र काययोग व कर्मण योग होता है। व्यवहार राशि में पन्द्रह योग होते हैं। योग चेतना की स्थूलतम हलचल है और अध्यवसाय सूक्ष्म आंतरिक। अध्यवसाय (परिणाम, विचार) चेतना की भावधारा का नाम है। तेजस् शरीर के साथ काम करने वाली भावधारा को लेश्या कहते हैं। भाव लेश्या योग के पूर्व की भावधारा है।

शुभयोग की प्रवृत्ति मात्र पुण्य बंध का हेतु है। जिस शुभयोग रूप क्रिया से निर्जरा होती है, उसी क्रिया से पुण्य का बंध होता है। प्रवृत्ति मात्र योग जन्य है। योग की उत्पत्ति द्वान्द्वात्मक है। नामकर्म के उदय और अन्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशम से योग की उत्पत्ति होती है। शुभयोग में मोह का अनुदय (उपशम, क्षय, क्षयोपशम) और जुड़ जाता है। जब योग स्वयं द्वान्द्वात्मक है तो उसकी निष्पत्ति भी द्वान्द्वात्मक है। उदयभाव से पुण्य का बंध तथा क्षायिक, क्षयोपशम, उपशम से निर्जरा होती है। प्रवृत्ति दो प्रकार की है शुभ और अशुभ। अशुभयोग से पाप का बंध होता है। शुभयोग से पुण्य का बंध तथा निर्जरा होना माना है।

शुभ लेश्या, शुभयोग से आकर्षित कर्म-वर्गणा शुभरूप में परिणत हो जाती है। अशुभ लेश्या, अशुभयोग से आकर्षित कर्म-वर्गणा अशुभ रूप में परिणत हो जाती है।

योग आश्रव के शुभ-अशुभ दो भेद हैं। प्रकारान्तर से योग आस्रव के पन्द्रह भेद भी हैं—

१. प्राणातिपात आश्रय
२. मृषावाद ”
३. अत्तादान ”
४. मैथुन ”
५. परिग्रह ”
६. श्रोत्रेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रय
७. चक्षुरिन्द्रिय ”
८. घ्राणेन्द्रिय ”
९. रसेन्द्रिय ”
१०. स्पर्शेन्द्रिय ”
११. मनप्रवृत्ति आश्रय
१२. वचन ”
१३. काय ”
१४. भंडोपकरण रखना (अयत्ना से रखना) आश्रय
१५. शूचि कुशाग्रमात्र सेवन आश्रय

योग आश्रय तेरहवें गुणस्थान तक रहता है। योग आश्रय की जनक प्रवृत्ति एक शरीर नाम कर्म की है। अशुभयोग में चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ सहायक बनती हैं।

शुभयोग भाव पाँच है—मोह कर्म का उपशम, क्षायक, क्षयोपशम, नाम कर्म का उदय, अंतराय कर्म का क्षय, क्षयोपशम तथा पारिणामिक भव है। ये पाँचों भाव शुभ योग में हैं।

योग की शुभता में मोह कर्म का अनुदय आवश्यक है। वह अनुदय उपशम, क्षायक व क्षयोपशम तीनों में से किसी एक रूप में हो सकता है, चंचलता से इसका सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध है मात्र शुभता से। यद्यपि योग की उत्पत्ति का तात्त्विक आधार अंतरायकर्म का क्षय, क्षयोपशम और नाम कर्म के उदय से योग उत्पन्न होता है। मन, वचन-काय की वर्गणा पौद्गलिक है किन्तु यही योग नहीं है। मन, वचन तथा काय का योग आत्म-प्रवृत्ति जुड़ने से जुड़ता है। वर्गणा-द्रव्य मन, द्रव्य वचन, द्रव्य काय का योग हो सकती है किन्तु भावयोग आत्मा के संयोग से ही होता है, वही योग आश्रय है।

अनुयोग द्वार सूत्र में जीवोदय निष्पन्न के भेदों में सयोगिता भी अन्तर्निहित है अतः भावयोग जीव है। भगवती में भाव लेश्या को अरूपी व जीव कहा है। भगवती सूत्र में आठ आत्मा में योग आत्मा का भी उल्लेख है, योग आत्मा योग आश्रय है। आश्रय के पाँच भेदों में योग आश्रय भी है। योग के दो प्रकार हैं—शुभयोग व अशुभयोग। उनमें अशुभयोग सावय और शुभयोग से निर्जरा होती है, इस दृष्टि से निरवय है। भाव योग अरूपी है, जीव परिणाम है।

योग अस्तव है तथा इसके विपक्ष में अयोग संवर है। सम्पूर्ण रूप से अयोग संवर चौदहवें गुणस्थान में है। बीस संवर के भेदों में एक अयोग संवर है। अशुभ प्रवृत्ति सातवें गुणस्थान में सर्वथा रुक जाती है जबकि शुभ प्रवृत्ति तेरहवें गुणस्थान तक रहती है। उनका पूर्ण निरोध चौदहवें गुणस्थान में ही होता है। अपेक्षा भेद से आंशिक अयोग संवर छठे गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक है। किसी की मान्यता है कि सातवें से तेरहवें गुणस्थान तक आंशिक अयोग संवर होते हुए भी अयोग संवर नहीं होता है। एक चौदहवें गुणस्थान में ही पूर्ण अयोग संवर पूर्ण रूप से सधता है।

पहले पुण्य का बंध होता है। योग की चंचलता के साथ शुभ कर्म वर्गणा का बंध हो जाता है।

भावक की सामायिक में छः कोटि से प्रत्याख्यान होता है। पालन आठ कोटि से होता है। कोटि का अर्थ-भंग-प्रकार। करना, करवाना और अनुमोदन, मन, वचन और काय—ये तीन योग और तीन करण से नो भंग बनते हैं। जैसे—

१. करूँ नहीं—मन से, वचन से, काय से
२. करवाऊँ नहीं—मन से, वचन से, काय से
३. अनुमोदन नहीं करूँ—मन से, वचन से, काय से

एक मान्यता है कि भावक के मन से अनुमोदन करने का त्याग नहीं हो सकता। इसलिए उसकी सामायिक आठ कोटि से होती है। दूसरी मान्यता के अनुसार भावक मन, वचन और काय से अनुमोदन का त्याग नहीं कर सकता। अतः उसकी सामायिक छह कोटि की ही होती है। भावक की सामायिक को लेकर अद्भुत मान्यता भेद संघ के विभक्तीकरण का हेतु बन गया।^१

चतुर्थ गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय शुभयोग, शुभलेश्या तथा प्रशस्त अव्यवसाय होते हैं।

सामायिक चारित्र, छेदोपस्थानीय चारित्र, परिहार विशुद्धि चारित्र, सूक्ष्म संपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति के समय—शुभयोग-शुभलेश्या होते हैं। सूक्ष्म संपराय व यथाख्यात चारित्र में नियमतः शुभयोग होते हैं (चौदहवें गुणस्थान को छोड़कर) चूंकि चौदहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र है परन्तु अयोगी है। परिहार विशुद्धि चारित्र में प्रवेश और सम्पन्नता के समय शुभयोग-शुभलेश्या है। मध्यवर्ती काल में छुओं लेश्या और शुभ-अशुभ दोनों योग होते हैं।

चारित्र-शुभ योग और अशुभ योग दोनों ही नहीं हैं क्योंकि चारित्र मोह कर्म का

१ नोट—आठ कोटि और छह कोटि—ये स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय की उपशाखाएँ हैं। भावक की सामायिक के आधार पर इन उपशाखाओं का उद्भव हुआ।

उपशम, क्षय या क्षयोपशम भाव है तथा चारित्र आत्मा है। शुभयोग—वीर्यान्तराय कर्म का क्षय, क्षयोपशम तथा शरीरनाम कर्म का उदय है। अशुभ योग मोह कर्म का उदय और शरीरनाम कर्म का उदय है। चारित्र भाव चार है—ओपशाभिक, क्षायिक, क्षयो-शमिक और पारिणामिक।

चारित्र आत्मा एक है—चारित्र।

चौदहवें गुणस्थान में योग नहीं है परन्तु चारित्र आत्मा है तथा कषाय भी नहीं है।

योग के द्वारा होनेवाली क्रिया को करण कहते हैं। उसके तीन प्रकार है—करना, कराना व अनुमोदन करना। आचार्यों ने कहीं-कहीं योग को भी करण कहा है।

तीनों करण का स्वरूप सदृश है। यदि किसी प्रवृत्ति के करने से पाप होता है तो कराने में भी पाप होता है और अनुमोदन में भी पाप होता है। इसी भाँति जिस प्रवृत्ति के करने में धर्म होता है तो उसके कराने व अनुमोदन में भी धर्म होगा।

ब्रह्मचर्य के विवक्षा से २७ भेद भी किये गये हैं—देवता, मनुष्य व तिर्य'च के साथ तीन करण व तीन योग से अब्रह्मचर्य का सेवन न करना। इस प्रकार $3 \times 3 \times 3 = 27$ विकल्प हो जाते हैं।

सुनि के शील-संयम साधना के उत्कृष्ट १८००० भेद हो जाते हैं। इन भेदों के समझाने के लिए एक गाथा उपलब्ध होती है—

जे णो करंति मणसा, णिज्जिय आहारसन्ना सोइंदिये।

पुढवि कायारंभ, खंतिजुत्ते ते सुणी वदे॥

अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, बेइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चत्सरिदिय, पंचिन्द्रिय तथा अजीव—इन दस से क्षमादि दस धर्मों से गुणन करने से १०० भेद होते हैं। $100 \times 5 = 500$ (पाँच इन्द्रिय से गुणन करने से) होते हैं। 500×4 (आहार आदि चार संज्ञा से) गुणन करने पर २००० हो जाते हैं।

एक-एक का २००० होने से तीनों योगों के (मन, वचन, काय) ६००० होंगे ! फिर करने, कराने व अनुमोदन—एक-एक ६००० होने से तीनों के (6000×3) १८००० हो जायेंगे।

दिगम्बर ग्रंथों में भी शील के १८००० भेद मिलते हैं—वे हैं—स्त्री के चार प्रकार हैं, यथा—

१—मनुष्यणी, २—देवांगना, ३—पशु स्त्री, ४—स्त्री चित्र। इन चारों के साथ तीन योग से अब्रह्म का सेवन नहीं करना। इस प्रकार ($4 \times 3 \times 3$) ३६ भेद हो गए।

इन छत्तीस प्रकारों का पाँच इन्द्रियों से सेवन न करना । इस प्रकार ($36 \times 5 = 180$) भेद हो गये ।

विषय योग उत्पन्न होने वाले दस संस्कारों (शरीर संस्कारादि) से दूर रहना । इस प्रकार ($180 \times 10 = 1800$) भेद हो गए ।

दस संभोग प्रक्रिया और परिणाम से बचना । इस प्रकार ($1800 \times 10 = 18000$) भेद हो गये । दस संभोग प्रक्रिया और परिणाम ये हैं—

१—कामचिंता, २—अंगावलोकनादि ।

महाव्रत में देव, मनुष्य, तिर्य'च संबंधी मैथुन सेवन का तीन करण व तीन योग से प्रत्याख्यान होता है । अणुव्रत में व्यक्ति स्थूल रूप में स्वदार संतोष अर्थात् परदार त्याग करता है । चतुर्थ अणुव्रत स्थूल मैथुन से विरमण रूप है । मैं जीवन-पर्यंत देवता-देवांगना संबंधी मैथुन का द्विविध-त्रिविध (दो करण व तीन योग) से प्रत्याख्यान करता हूँ । परपुरुष-स्त्रीपुरुष और तिर्य'च-तिर्य'ची संबंधी मैथुन का एक करण, एक योग—शरीर से सेवन नहीं करूँगा ।

केवल ब्रह्मचर्य का पालन भाव दो भाव—क्षायोपशमिक व पारिणामिक । आत्मा-योग व देशचारित्र । संयम युक्त ब्रह्मचर्य का पालन करना भाव चार—उदय भाव को छोड़कर । आत्मा एकचारित्र ।

चूँकि कर्म बंध का मुख्य हेतु आलस्य है । ये पाँच है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय व योग । कर्म का मन, वचन व काय योग पर गहरा प्रभाव पड़ता है । जैन मतानुसार शुभ-अशुभ घटनाएँ कर्मजन्य है । यह उनकी अवगति में सहायक बनता है और कर्म फल के विपाकोदय भूमिका निर्मित करते हैं । पुण्य बंध में नाम कर्म का उदय अनिवार्य है । और नामकर्म के उदय में पुण्य बंध की भजना है । चौदहवाँ गुणस्थान अयोगी है । बिना योग के कर्मबंध नहीं होता है अतः उसे अवंधक गुणस्थान कहा है ।

शुभ प्रवृत्ति के समय अशुभ व अशुभ प्रवृत्ति के समय शुभ कर्म का बंध नहीं होता । एक समय में एक का ही बंध होता है । यह योग से संबंधित है । कषाय, प्रमाद, अव्रत आदि से समय-समय पर अशुभ कर्म बंधता है । इस दृष्टि से शुभ-अशुभ दोनों कर्म साथ में बंध सकते हैं ।

कर्म बंध के दो प्रकार है—साम्परायिक बंध और ईर्यापथिक बंध । कषाय और योग की चंचलता से साम्परायिक कर्म का बंध होता है । दसवें गुणस्थान तक कषाय की विद्यमानता से इस कर्म का बंध होता है । ईर्यापथ का अर्थ है—योग । जहाँ मात्र योग की चंचलता है वहाँ यह ईर्यापथिक बंध होता है । यह ईर्यापथिक बंध केवल वीतरागी के होता है ।

चौदहवाँ गुणस्थान अयोगी है। बिना योग के कर्मबंध होता नहीं, अतः उसे अबंधक गुणस्थान माना है।

अन्तराल गति में स्थूल शरीर नहीं होता है। अन्तराल गति दो प्रकार की होती है—

१—ऋजुगति और २—वक्रगति।

आगम वाली के अनुसार तीर्थ'करों के प्रथम चार कल्याण (गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवलज्ञान) एक ही नक्षत्र में होते हैं—परिनिर्वाण का नक्षत्र अन्य भी हो सकता है तथा वह भी हो सकता है। इस अवसर्घिणी कालके चौबीस तीर्थ'करों के गर्भ आदि के कल्याण के समय इस प्रकार नक्षत्र रहे थे।

१—ऋषभदेव के प्रथम चार कल्याण उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में तथा परिनिर्वाण अभि-जित नक्षत्र में हुआ। (जंबू०)

२—अजितनाथ के प्रथम चार कल्याण रोहिणी नक्षत्र में तथा परिनिर्वाण मृगशिरा नक्षत्र में हुआ। (त्रिषष्टि०)

३—चन्द्रप्रभु के प्रथम चार कल्याण अनुराधा नक्षत्र में तथा परिनिर्वाण ज्येष्ठा नक्षत्र में हुआ। (उत्तर पुराण)

४—भैयासनाथ के प्रथम चार कल्याण श्रवण नक्षत्र में तथा परिनिर्वाण धनिष्ठा नक्षत्र में हुआ। (त्रिषष्टि०-उत्तर पुराण)

५—मक्षिनाथ के प्रथम चार कल्याण अश्विनी नक्षत्र में तथा परिनिर्वाण भरणी नक्षत्र में हुआ। (ज्ञाता १।८ व उत्तरपुराण)

६—वर्धमान के प्रथम चार कल्याण उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में व स्वाती नक्षत्र में परिनिर्वाण हुआ। (आया० २।१५ ठाणांग ५)

शेष तीर्थ'करों के गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवलज्ञान व परिनिर्वाण का नक्षत्र एक ही था।

१—संभवनाथ के पाँचों कल्याण-मृगशिरा नक्षत्र में हुए। (उत्तरपुराण)

२—अभिनन्दन के पाँचों कल्याण पुनर्वसु नक्षत्र में हुए। (उत्तरपुराण)

३—सुमतिनाथ के पाँचों कल्याण मघा नक्षत्र में हुए। (उत्तरपुराण)

४—पद्मप्रभु के पाँच कल्याण चित्रा नक्षत्र में हुए। (ठाणांग ५)

५—सुपाश्वनाथ के पाँच कल्याण विशाखा नक्षत्र में हुए। (उत्तरपुराण)

६—सुविधिनाथ के पाँचों कल्याण मूला नक्षत्र में हुए। (ठाणांग ५)

७—शीतलनाथ के पाँचों कल्याण पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में हुए। (,)

८—वासुपुत्र के पाँचों कल्याण विशाखा नक्षत्र में हुए। (उत्तर पुराण)

६ से १६ विमलनाथ के उत्तराभाद्र पद में, अनन्तनाथ के रेवती में, धर्मनाथ के पुष्य नक्षत्र में, शान्तिनाथ के धरणी नक्षत्र में, कुंथुनाथ के कुत्तिका नक्षत्र में, अरनाथ के रेवती नक्षत्र में, सुनिसुन्नतके भवण नक्षत्रमें तथा नमिनाथ के अश्विनी नक्षत्र में पाँचों कल्याण हुए । (ठाणांग ५)

१७-१८ नेमिनाथ के चित्रा नक्षत्र में तथा पार्श्वनाथ के विशाखा नक्षत्र में पाँचों कल्याण हुए । (ठाणांग ५, कप्प०, उत्तरपुराण) ।

योग और लेश्या में भिन्नता प्रदर्शित करने वाला एक और विषय है । वह है वेदनीय कर्म का बंधन । सयोगी जीव के प्रथम दो भंग से अर्थात् (१) बाँधा है, बाँधता है व बाँधेगा (२) बाँधा है, बाँधता है, बाँधेगा नहीं—से वेदनीय कर्म का बंधन करता है । लेकिन सलेशी जीव इन दो भंगों के अतिरिक्त चतुर्थ भंग (४) बाँधा है न बाँधता है, न बाँधेगा है, से वेदनीय कर्म का बंध करता है । सलेशी (शुक्ललेशी-सलेशी) के चतुर्थ भंग से वेदनीय कर्म का बंधन शोध का विषय है । फिर भी मूल पाठ में (भग० श २६ । उ १) यह बात है ।

टीकाकार का कहना है कि “सलेशी जीव पूर्वोक्त हेतु से तीसरे भंग को बाद देकर अन्य भंगों से वेदनीय कर्म का बंधन करता है लेकिन उसमें चतुर्थ भंग घट नहीं सकता है क्योंकि चतुर्थ भंग लेश्यारहित अयोगी को ही घट सकता है । लेश्या तेरहवें गुणस्थान तक होती है तथा वहाँ तक भावलेश्या से बंध होता रहता है । कई आचार्य इसका इस प्रकार समाधान करते हैं कि इस सूत्र के वचन से अयोगीत्व के प्रथम समय में घण्टा लाला न्याय से परम शुक्ल लेश्या संभव है तथा इसी अपेक्षा से सलेशी-शुक्ललेशी जीव के चतुर्थ भंग घट सकता है । तत्त्व बहुश्रुतगम्य है ।”

हमारे विचार से इसका एक यह समाधान भी हो सकता है कि लेश्या परिणामों की अपेक्षा अलग से वेदनीय कर्म का बंधन होता है तथा योग की अपेक्षा अलग वेदनीय कर्म का बंधन होता है तब तेरहवें गुणस्थान में कोई एक जीव ऐसा हो सकता है जिसके लेश्या की अपेक्षा से वेदनीय कर्म का बंधन रुक जाता है लेकिन योग की अपेक्षा से चालू रहता है ।

ध्यानावस्था में एक सीमा तक अवचेतन मन सक्रिय रहता है । मन अर्थात् मनो-योग । चेतन मन की जागृति में अवचेतन मन प्रायः सोया रहता है । आचार्य हरिभद्र ने योगशतक के बारहवें अध्याय में कहा है—ध्यान में श्वास, इन्द्रिय, मन और चित्त के सम्बन्ध में अनुभूतियाँ करता है—आदि-आदि । ध्यान से योग की चंचलता मिटती है ध्यान भी एक महान् कार्य है, जो शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के सघन जमाव पर निर्भर है ।

नोट—वासुपूज्य का जन्मनक्षत्र शतभिषा लिखा है (पद्म चरिय)

अस्तु भारतीय संस्कृति, जीवनदर्शन और साधना के विकास में भगवान् बुद्ध व भगवान् महावीर का अनन्य योगदान रहा है। डा० सर सी० वी रमन महान् वैज्ञानिक होने के साथ-साथ स्थिर चेता योगी भी थे। उन्होंने मन-वचन-काययोग को काफी स्थिर किया था। उनकी पत्नी का पूरा सहयोग रहा। सच्चा वैज्ञानिक वास्तव में योगी होता है।

शुभ योग या शुभ अध्यवसाय के बिना सयोगी के निर्जरा नहीं हो सकती है और पुण्य का बंध भी नहीं हो सकता। आत्मा की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—बाह्य और आभ्यन्तर। जो बाह्य प्रवृत्ति होती है उसे योग कहते हैं और जो आभ्यन्तर प्रवृत्ति होती है उसे अध्यवसाय कहते हैं। योग तथा अध्यवसाय से दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। इनकी अशुभ प्रवृत्तिसे पापकर्म बंधता है और आत्मा मलिन होती है तथा शुभ प्रवृत्ति से निर्जरा होती है, आत्मा उज्ज्वल होती है और पुण्य बंधता है। शुभयोग मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से तथा शुभ नाम के उदय से निष्पन्न होता है। वीर्यान्तराय कर्म का क्षय-क्षयोपशम भी योग में उपादान कारण है। निर्जरा शुभयोग से होती है परन्तु शुभयोग आलस्यसे नहीं। श्रीमद् जयाचार्य ने साधक-बाधक सोरठा में कहा है :—

शुभ योगां ने सोय रे, कहिये आश्रव निर्जरा ।
तास न्याय अवलोय रे, चित्त लगाई सांभलो ॥
शुभ जोगा करी तास रे, कर्म कटे तिण कारणे ।
कही निर्जरा जास रे, करणी लेखे जाणवी ।
ते शुभ जोग करीज रे, पुण्य बंधे तिण कारणे ।
आश्रव जास कही जे रे, बारू न्याय विचारिये ॥
छद्मस्थना शुभयोग रे, कर्म कटे छै तेह थी ।
क्षयोपशम भाव प्रयोग रे, शिव साधक छै तेहसू ।
छद्मस्थना शुभ योग रे, पुण्य बंधे छै तेहथी ।
उद्यभाव सूं प्रयोग रे, शिव बाधक इस कारणे ॥

तत्त्वतः शुभ योग से निर्जरा होती है अतः सुक्ति का साधक है और शुभ योग से पुण्य का बंध होता है अतः वह सुक्ति का बाधक है।

समान जाति वाले पुद्गल स्कंध को वर्गणा कहते हैं। उनके अनेक भेद हैं जैसे—, मनोवर्गणा, भाषावर्गणा व कायवर्गणा आदि। इन तीनों वर्गणा का सम्बन्ध मनोयोग, वचनयोग और काय योग से है।

१—जिन पुद्गल समूहकी सहायता से आत्मा विचार करने में प्रवृत्त होती है उसको मनोवर्गणा कहते हैं।

२—जिन पुद्गल समूह की सहायता से आत्मा बोलने में प्रवृत्ति होती है उसको भाषावर्गणा कहते हैं।

३—जिन पुद्गल समूह की सहायता से आत्मा हलन-चलन की क्रिया करती है उसको काय वर्गणा कहते हैं तथा इसकी सहायता से हलन-चलन की क्रिया होती है।

योग और आत्मा

कहिविहा णं भंते ! आया पणत्ता, गोयमा । अट्ठविहा आया पणत्ता, तंजहा
दविवाया, कसायाया, जोगाया × × × ।
—भग० श १२ । उ १०

आत्मा के आठ भेद हैं—योग आत्मा का तीसरा भेद है। जीव की मन, वचन और काय की योगमय परिणति। आत्मा जीव का पर्यायवाची शब्द है अतः योग जीव की प्रवृत्ति है। द्रव्य आत्मा व जीव का एक ही अर्थ है। जीव परिणामी नित्य है। उसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं और वे अनंत हैं। आत्मा उन-उन शब्दों का बोधक है।

सयोगी और गुणस्थान

कम्मविसोहि मग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पणत्ता, तंजहा × × × सयोगी
केवली, अजोगी केवली ।
—समवाओ १४।५

कर्म की विशुद्धिर्मागणा की दृष्टि से चौदह गुणस्थान हैं। उसमें तेरहवाँ सयोगी केवली गुणस्थान है तथा चौदहवाँ अयोगी केवली गुणस्थान है।

करण और योग

पच्चीस बोल का चौबीसवाँ बोल करण और योग के प्रत्याख्यान रूप ४६ भांगि का है। इसमें एक कोटि से नौ कोटि का प्रत्याख्यान किया जाता है।

अंक ११—एककोटि का त्याग। पहले १ का अर्थकरण व दूसरे १ का अर्थयोग है :—इसके नौ भंग बनते हैं।

- १—करूँ नहीं, मन से
- २—करूँ नहीं, वचन से
- ३—करूँ नहीं, काय से
- ४—कराऊँ नहीं, मन से
- ५—कराऊँ नहीं, वचन से
- ६—कराऊँ नहीं, काय से
- ७—अनुमोदूँ नहीं, मन से
- ८—अनुमोदूँ नहीं, वचन से
- ९—अनुमोदूँ नहीं, काय से

इसी प्रकार अन्य भंग के विषय में जान लेना चाहिए।

चौदहवाँ गुणस्थान केवल पारिणामिक भाववाला होता है। वह अयोग संवर चार भाव वाला नहीं होता।

कतिपय आचार्य सयोगी केवली के भाव मन तथा भावलेश्या नहीं मानते हैं। भगवती में मनोयोग से व शुक्ललेश्या से सयोगी केवली के वेदनीय कर्म का बंधन माना है यहाँ यह भी स्पष्ट कह देना उचित है कि कोई-कोई शुक्ललेशी केवल्य अवस्था में वेदनीय कर्म का बंधन नहीं करते हैं।

योग आखव के गौण (अवान्तर) भेद पन्द्रह हैं^१। उनका विवरण इस प्रकार है :—

१—प्राणातिपात आखव—प्राणों का अतिपात-वियोजन करना, जीव-वध करना।

२—मृषावाद आखव—झूठ बोलना

३—अदत्तादान आखव—चोरी करना

केवली समुद्धात में काययोग होते हुए आयुष्य का बंधन नहीं होता है। औदारिक तेजस और कर्मण शरीर योग के बिना भी हो सकते हैं तथा बाकी दो शरीर की सत्ता में योग की नियमा है।

योग शाश्वत भाव है। जैसे लोक-अलोक-लोकान्त-अलोकान्त, दृष्टि, ज्ञान, कर्म आदि शाश्वत भाव है वैसे ही योग भी शाश्वत भाव है।

लोक आगे भी है, पीछे भी है, योग आगे भी है, पीछे भी है—दोनों अनानुपूर्वी है इनमें आगे-पीछे का क्रम नहीं है। इसी प्रकार अन्य सभी शाश्वत भावों के साथ योग भी आगे-पीछे का क्रम नहीं है। सब शाश्वत भाव अनादि काल से है, अनंतकाल तक रहेंगे।

पुद्गल का संसारी जीवों के साथ घनिष्ठ संबंध है और वह अनेक प्रकार से काम आता है। कहा है—

“द्रव्य निमित्तं हि संसारिणां वीर्यमुपजायते”

अर्थात् संसारी जीवों का जितना भी वीर्य-पराक्रम है वह सब पुद्गलों की सहायता से होता है। पुद्गल किस प्रकार संसारी जीवों के साथ व्यवहार में आते हैं इसे समझने के लिए भिन्न-भिन्न पुद्गल वर्गणाओं को जान लेना जरूरी है। वर्गणा के नौ भेद उपलब्ध होते हैं वैसे अनेक भेद हैं।

१—मनोवर्गणा, २—भाषवर्गणा, ३—शरीरवर्गणा, ४—औदारिकवर्गणा; ५—वैक्रियवर्गणा ६—आहारकवर्गणा ७—तेजसवर्गणा, ८—कर्मणवर्गणा और ९—श्वासोच्छ्वासवर्गणा।

जीव के शुभाशुभ परिणाम को लेश्या कहते हैं। शरीर, वचन एवं मन के द्वारा होने वाले आत्म-प्रयत्न को योग कहते हैं। जैन परिभाषा में आत्मीय विचारों को भाव-

लेश्या कहते हैं और उनके सहायक पुद्गलों को द्रव्य लेश्या कहते हैं। विचारधारा की शुद्धि-अशुद्धि में अनंत गुण तरतम रहता है।

ऋजुगति-अंतराल गति का एक प्रकार है। इस अवस्था में औदारिक मिश्र काय-योग या वैक्रियमिश्र काय योग होता है। इस अवस्था में आदि के दो समुद्घात होते हैं—यथा—वेदना-कषाय समुद्घात। वक्रगति में तीन योग मिल सकते हैं—औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्रकाय तथा कर्मण काययोग। समुद्घात उपर्युक्त दो ही होते हैं।

षट्षण्डागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

संपहि मिच्छाइट्ठीणं ओघालावे भण्णमाणे अत्थि × × × । आहार-दुग्गेण विणा तेरह जोग ।

—षट्० खं० १।१। टीका । पु० २। पृ० ४१५

अर्थात् मिथ्यादृष्टि में आहारक काययोग तथा आहारकमिश्र काययोग को बाद देकर तेरह योग होते हैं। अध्यवसाय आत्मा का सूक्ष्म परिणाम है। लेश्या-योग अशुभ होते हुए भी अध्यवसाय प्रशस्त भी हो सकते हैं। चौबीस ही दंडकों में अध्यवसाय प्रशस्त भी होते हैं, अप्रशस्त भी होते हैं।^१ अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है—

सूक्ष्मेषु आत्मनः परिणामविशेषेषु ।

—अभिधान० भाग १। पृ० २३२

अर्थात् अध्यवसाय आत्मा का सूक्ष्म परिणाम है। अध्यवसाय से लेश्या व योग स्थूल है। (अध्यवसायचिन्तायां-प्रज्ञापना पद ३४) अध्यवसाय सूक्ष्म चिन्तनात्मक है। शुभ-परिणाम में योग भी आ जाता है।

योग की क्रिया पञ्चीस प्रकार की है। इनमें से २४ सांपरायिकी है और एक ईर्यापथिकी। ईर्यापथिकी तो मात्र योग से ही संबंधित रहती है परन्तु सांपरायिकी क्रियाएँ कषाय से अनुप्राणित है। इन सब में योग प्रवृत्ति रहते हुए भी इन्हें सांपरायिक नाम दिया है।

आत्म प्रदेशों के परिस्पर्दन (कंपन) को योग कहते हैं। वीर्यान्तकाय कर्म के क्षयोपशमादि की विचित्रता से योग के पन्द्रह भेद होते हैं। किसी जीव का योग दूसरे जीव की अपेक्षा जघन्य (अल्प) होता है और किसी जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है। सबसे जघन्य योग सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय के होता है। क्योंकि उनका शरीर सूक्ष्म और अपर्याप्त होने से दूसरे सभी जीवों के योगों की अपेक्षा उसका योग सबसे अल्प होता है और यह कर्मण शरीर द्वारा औदारिक शरीर ग्रहण करने के प्रथम समय में होता है। तत्पश्चात् समय-समय योगों की वृद्धि होती है और उत्कृष्ट योग तक बढ़ता है।

१. प्रज्ञापना पद ३४। सू० २०४७, ४८

आहारक नारक की अपेक्षा अनाहारक नैरयिक हीन योग वाला होता है, क्योंकि जो नारकी ऋजुगति से आकर आहारकपने उत्पन्न होता है वह निरन्तर आहारक होने के कारण पुद्गलों से उपचित (बड़ा) होता है । अतः वह अधिक योग वाला होता है । जो नारकी विग्रहगति से आकर अनाहारकपने उत्पन्न होता है—वह अनाहारक होने से पुद्गलों का अनुपचित होता है अतः हीन योग वाला होता है ॥

द्रव्य वचनयोग और भाव वचनयोग । भाषा वर्गणा के पुद्गलों को द्रव्य-वचन योग कहा जाता है और जीव का जो भाषा-प्रवर्तक प्रयत्न होता है वह भाव-वचनयोग कहलाता है ।

३—काययोग—काय-शरीर की प्रवृत्ति के लिए जो शरीर वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे हैं—द्रव्यकाय योग और उन पुद्गलों की सहायता से जो जीव की प्रवृत्ति होती है वह है—भावकाय योग ।

कर्मणकाय योगी जीव आयुष्य कर्म का बंधन नहीं करता है, कदाचित् केवल साता वेदनीय कर्म का बंधन करना है । उसके उत्कृष्ट सात कर्म का बंधन हो सकता है । तैजोलेशी असंखी जीव सयोगी होते हुए भी आयुष्य कर्म का बंधन नहीं करते हैं । तथा सम्यक्त्वी असंखी जीव भी सयोगी होते हुए भी आयुष्य का बंधन नहीं करते हैं ।

योग के पन्द्रह भेद इस प्रकार बनते हैं—

१—मनोयोग के चार भेद

(१) सत्य मनोयोग, (२) असत्य मनोयोग, (३) मिश्र मनोयोग और (४) व्यवहार मनोयोग ।

२—वचनयोग के चार भेद

(५) सत्यवचन योग, (६) असत्यवचन योग, (७) मिश्रवचन योग और (८) व्यवहार वचनयोग ।

३—काययोग के सात भेद

(९) औदारिक काययोग, (१०) औदारिक मिश्रकाय योग, (११) वैक्रिय काय योग, (१२) वैक्रिय मिश्रकाय योग, (१३) आहारक काययोग, (१४) आहारक मिश्रकाय योग और (१५) कर्मण काययोग ।

जिस प्रकार योग, ध्यान आदि के साथ लेश्या के विवेचन मिलते हैं उसी प्रकार द्रव्य लेश्या के साथ द्रव्यमन, द्रव्यवचन, द्रव्यकषाय आदि का तुलनात्मक मूल पाठ—आगम पाठ या टीकाकारोंका कथन अनेक स्थल पर है । लेश्या और योग का अविनाभाव सम्बन्ध है । प्राचीन आचार्यों ने “योगपरिणामो लेश्या” अर्थात् लेश्या-योग परिणाम—कहा

है। तथा यह भी कहा है—“कषायोदयरंजिता योग प्रवृत्ति लेश्या। अर्थात् लेश्या कषायोदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति है।

भावयोग जीवोदय निष्पन्न भाव भी है अतः कर्मों के उदय से जीव के मन-वचन-काययोग होते हैं। द्रव्ययोग पौद्गलिक है अतः अजीवोदयनिष्पन्न होने चाहिए—“पयोग-परिणामए-वण्णे, गंधे, रसे, फासे, सेत्तं अजीवोदय निष्फन्ने।”

१—द्रव्य योग क्या है ?

- (१) द्रव्य योग अजीव पदार्थ है।
- (२) मनोयोग तथा वचनयोग अनंतप्रदेशी चतुःस्पर्शी पुद्गल है, काययोग-अनंत-प्रदेशी अष्टस्पर्शी पुद्गल है।
- (३) इसकी अनंत वर्गणा होती है।
- (४) इसके द्रव्यार्थिक स्थान असंख्यात है।
- (५) इसके प्रदेशार्थिक स्थान अनंत है।
- (६) तीनों योगों में पाँच वर्ण होते हैं।
- (७) योग असंख्यात प्रदेश अवगाह करते हैं।
- (८) वे परस्पर परिणामी हैं।
- (९) यह आत्मा के सिवाय अन्यत्र परिणत नहीं होते हैं।
- (१०) यह अजीवोदयनिष्पन्नभाव है।
- (११) द्रव्ययोग—मनोयोग-वचनयोग अगुरुलघु है, काययोग गुरुलघु है।
- (१२) यह भावितात्मा अनगार के द्वारा अगोचर है अशेय है।
- (१३) यह जीवग्राही है।
- (१४) अशुभ योग-द्रव्य अशुभयोग दुर्गंधवाले है, द्रव्य शुभयोग सुगंध वाले है।
- (१५) अशुभयोग अमनोश्च रस वाले है, शुभयोग मनोश्च रसवाले है।
- (१६) द्रव्य अशुभयोग शीतरुक्ष स्पर्शवाले है, द्रव्य शुभयोग ऊष्णस्निग्ध स्पर्श वाले है।
- (१७) द्रव्य अशुभयोग वर्ण की अपेक्षा अविशुद्ध वर्णवाले है तथा द्रव्य शुभयोग विशुद्ध वर्णवाले है।
- (१८) यह कर्म पुद्गल से स्थूल है।
- (१९) यह द्रव्य कषाय से स्थूल है।
- (२०) द्रव्य लेश्या के पुद्गल से द्रव्य मनोयोग-द्रव्य वचन योग के पुद्गल सूक्ष्म है तथा काययोग के पुद्गल स्थूल पड़ते हैं।
- (२१) यह औदारिक शरीर पुद्गलों से सूक्ष्म है।

- (२२) यह शब्द पुद्गलों से सूक्ष्म भी है, स्थूल भी है ।
 (२३) इसे तैजस शरीर पुद्गलों से सूक्ष्म होना चाहिए ।
 (२४) इसे वैक्रिय शरीर पुद्गलों से सूक्ष्म होना चाहिए ।
 (२५) यह इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है ।
 (२६) यह योगात्मा के साथ समकालीन है ।
 (२७) द्रव्ययोग के साथ द्रव्य लेश्या का भी अविनाभाव सम्बन्ध है ।
 (२८) मनोयोग-वचनयोग के पुद्गल-स्निग्ध-रुक्ष-शीत ऊष्ण के होते हैं ।
 (२९) यह नो कर्म पुद्गल है, कर्म पुद्गल नहीं है ।
 (३०) यह पुण्य-पाप-बंध नहीं है ।
 (३१) यह आत्म-प्रयोग से परिणत है, अतः प्रायोगिक पुद्गल है ।
 (३२) यह पारिणामिक भाव है ।
 (३३) इसका संस्थान अज्ञात है ।
 (३४) देश बंध-सर्वबंधन का योग सम्बन्धी पाठ नहीं है ।
 (३५) यह कषाय के अंतर्गत पुद्गल नहीं है । क्योंकि अकषायी के भी योग होता है लेकिन यह सकषायी जीव के कषाय से सम्भवतः अनुरजित है । लेश्या के साथ अनुरजित है ।

२—भाव योग क्या है ?

- (१) भाव योग जीव परिणाम है ।
 (२) भाव योग अरुपी है । यह अवर्णी, अगंधी-अरसी-अस्पर्शी है ।
 (३) भाव योग अगुरुलघु है ।
 (४) विशुद्धता-अविशुद्धता के तारतम्य जी अपेक्षा इसके असंख्यात स्थान है ।
 (५) यह जीवोदय निष्पन्न है ।
 (६) आचार्यों के कथनानुसार भाव योग क्षय, क्षयोपशमन-उपशम भाव भी है ।
 (७) योग शुभ-अशुभ दोनों है ।
 (८) शुभ योग सुगति का हेतु है अशुभ योग दुर्गति का हेतु है ।
 (९) नव पदार्थ में भाव योग जीव, आस्रव व निर्जरा है ।
 (१०) आस्रव में योग आस्रव है ।
 (११) शुभ भाव योग से निर्जरा होती है ।
 (१२) शुभयोग के समय शुभ लेश्या होती है ।
 (१३) अशुभ योग के समय अशुभ लेश्या होती है ।

(१४) जो जीव सयोगी है वह नियमतः सलेशी है तथा जो जीव सलेशी है वह नियमित सयोगी है ।

प्रतीत होता है कि परिणाम, (भावयोग) अध्यवसाय व लेश्या में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है । जहाँ परिणाम शुभ होते हैं, अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं वहाँ लेश्या विशुद्धमान होती है । कर्मों की निर्जरा के समय (सयोगी अवस्था में) में परिणामों का शुभ होना, अध्यवसायों का प्रशस्त होना तथा लेश्या का विशुद्धमान होना आवश्यक है । जब वैराग्य का भाव प्रकट होता है तब इन तीनों में क्रमशः शुभता, प्रशस्तता और विशुद्धता होती है । यहाँ परिणाम शब्द से जीव के मूल दस परिणामों में किसी परिणाम की ओर इंगित किया गया है यह विवेचनीय है । अतः प्रतीत होता है कि मन व चित्त के परिणामों का (योग) का, लेश्या का और अध्यवसाय का सम्मिलित रूप से कर्म बंधन में पूरा योगदान है । इसी प्रकार कर्म की निर्जरा में भी इन तीनों का पूरा योगदान होना चाहिए । यह ध्यान देने की बात है । चौदहवें गुणस्थान में—अयोगी अवस्था में लेश्या-योग-अध्यवसाय के अभाव में भी शुक्ल ध्यान से परम निर्जरा होती है । अतः योग के बिना भी निर्जरा होती है । योगत्व को कहीं पर संसारस्थत्व-असिद्धत्व की तरह अष्ट कर्मों का उदयजन्य माना है लेकिन इससे द्रव्ययोग के ग्रहण की प्रक्रिया एक विचारणीय विषय है ।

उत्तराध्ययन ३४/२१ में तीन योगों की अगुप्ति को कृष्ण लेश्या का लक्षण कहा है । मन-वचन-काय के योगों को सलेशी कहा है अतः अशुभ लेश्याओं का समावेश तीनों योगों में होता है । केवली के तेरहवें गुणस्थान में शुक्ल लेश्या होती है । वह भाव शुक्ल लेश्या भी होती है व द्रव्य शुक्ल लेश्या भी होती है । केवली के योग तीनों होते हैं । योग शरीर नाम कर्म की परिणति विशेष है । अन्यत्र ठाणांग के टीकाकार कहते हैं कि योग वीर्य अंतराय के क्षय-क्षयोपशम से होता है ।

द्रव्यतः मनोयोग तथा वाक्ययोग के पुद्गल चतुःस्पर्शी है (शीत-ऊष्ण-रूक्ष-स्निग्ध) तथा द्रव्य काययोग के पुद्गल अष्टस्पर्शी है । द्रव्यतः भी योग और लेश्या भिन्न-भिन्न है । योग वीर्य से प्रवाहित होता है (भग० श १ । उ ३ । सू १३० ।

तेरहवें गुणस्थान के शेष के अन्तर्मुहूर्त में मनोयोग तथा वचनयोग का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है तथा काययोग का अर्धनिरोध हो जाता है तब लेश्या परिणाम तो होता है लेकिन काययोग की अर्धता-क्षीणता के कारण द्रव्य लेश्या के पुद्गलों की रुक जाना चाहिए । १४वें गुणस्थान के प्रारम्भ में जब योग का पूर्ण निरोध हो जाता है तब लेश्या का परिणमन भी सर्वथा रुक जाता है अतः तब जीव अयोगी-अलेशी हो जाता है ।

जब केवली समुद्घात करते हैं उस समय तीसरे, चौथे व पाँचवें समय में कर्मण काययोग होता है । कर्मण काययोग की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट तीन समय की होती है ।

विभिन्न जीवों में योग इस प्रकार है—

- १ सर्वजीव में—१५ योग
- २ नारकी में—११ योग (४ मन के, ४ वचन के, वैक्रिय, वैक्रियमिथ काय और कर्मण काययोग)
- ३ तिर्य'च में—१३ योग (आहारिक व आहारिक मिथकाय छोड़कर)
- ४ तिर्य'चणी में—१३ योग (, ,)
- ५ मनुष्य में—१५ योग
- ६ मनुष्यणी में—१३ योग (आहारिक, आहारिक मिथ काययोग छोड़कर)
- ७ देवों में—नारकी की तरह ११ योग
- ८ देवी में—११ योग , ,
- असंज्ञी मनुष्य में—३ योग-औदारिक, औदारिकमिथ व कर्मण काययोग
- असंज्ञी तिर्य'च पंचेन्द्रिय में—४ योग (औदारिक, औदारिकमिथ, व्यवहार भाषा व कर्मणकाय योग)
- दीखते हुए घान के दाने में—एक औदारिक काययोग
- चलती हुए मक्षिका में—दो योग-औदारिक काययोग व व्यवहार भाषा
- तीसरे गुणस्थान की नियमा में—८ योग (४ मन के व ४ वचन के योग)
- अपर्याप्त देव में—तीन योग (वैक्रिय, वैक्रियमिथ व कर्मण काययोग)
- अपर्याप्त मनुष्य में—तीन योग (औदारिक, औदारिकमिथ व कर्मणकाय योग)
- तीर्थ'कर में—५ योग (सत्य वचन, व्यवहार वचन, सत्य मनोयोग, व्यवहार मनोयोग तथा औदारिक काययोग)
- सामान्य केवली में—७ योग (अनेन्द्रिय की तरह)
- सकायी में—१५ योग
- पृथ्वीकाय में—३ योग-औदारिक, औदारिकमिथ व कर्मण काययोग
- अप्काय में— , ,
- साधारण वनस्पतिकाय में— , ,
- वनस्पतिकाय में— , ,
- अग्निकाय में— , ,
- वायुकाय में—५ योग (एकेन्द्रिय की तरह)
- त्रसकाय में—१५ योग
- सयोगी में—१५ योग
- मनोयोगी में—१४ योग (कर्मणकाय योग छोड़कर)
- वचनयोगी में— , ,
- काययोगी में—१५ योग
- अयोगी में—योग नहीं है
- सवेदी में—१५ योग
- स्त्री वेदी में—१३ योग (आहारिक व आहारिकमिथ काययोग बाह्य देकर)

पुरुष वेदी में—१५ योग

नपुंसक वेदी में—१५ योग

अवेदी में—७ सात (अनेन्द्रिय की तरह)

सकषायी में—१५ योग

क्रोध कषायी में—१५ योग

मान कषायी में—१५ योग

माया कषायी में—१५ योग

लोभ कषायी में—१५ योग

अकषायी में—सात योग (अनेन्द्रिय की तरह)

सलेशी में—१५ योग

कृष्ण लेशी में—१५ योग

नील लेशी में—१५ योग

कापोत लेशी में—१५ योग

तेजो लेशी में—१५ योग

पद्म लेशी में—१५ योग

शुक्ललेशी में—१५ योग

अलेशी में—योग नहीं है

सम्यक्त्वी में—१५ योग

सास्वादान सम्यक्त्वी में—१३ योग (आहारक व आहारकमिश्र काययोग को छोड़कर)

उपशम सम्यक्त्वी में—१५ योग

क्षायिक सम्यक्त्वी में—१५ योग

वेदक सम्यक्त्वी में—१५ योग

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी में—१५ योग

मिथ्यात्वी में—१३ योग-आहारक व आहारकमिश्र काययोग बाद देकर

सम्यग्-मिथ्यात्वी में—१० योग (४ मन के, ४ वचन, औदारिक-वैक्रिय काययोग)

सामायिक संयती में—१४ योग (कर्मण काययोग छोड़कर)

छेदोपस्थापनीय संयती में—१४ योग ,,

परिहार विशुद्धि संयती—६ योग (४ मन के, ४ वचन के योग व १ औदारिक काययोग)

सूक्ष्म-संपराय-संयती में—५ योग (तीर्थंकर की तरह)

यथाख्यात संयती में—७ योग (अनेन्द्रिय की तरह)

संयता-संयती में—१२ योग (आहारक, आहारिकमिश्र व कर्मण काययोग बाद देकर)

असंयती में—१३ योग (आहारक-आहारकमिश्र काययोग बाद देकर)

सन्नानी में—१५ योग

मतिज्ञानी में—१५ योग

श्रुतिज्ञानी में—१५ योग

अवधिज्ञानी में—१५ योग

मनःपर्यवज्ञानी में—१४ योग (कर्मण काययोग को बाद देकर)

केवलज्ञानी में—७ योग (अनेन्द्रिय की तरह)

अज्ञानी में—१३ योग (आहारक, आहारकमिश्र काययोग बाद देकर)

श्रुतिअज्ञानी में—१३ योग ,,

विभंगअज्ञानी में—१३ योग ,,

चक्षुदर्शनी में—१४ योग (कर्मण काययोग बाद देकर)

अचक्षुदर्शनी में—१५ योग

अवधिदर्शनी में—१५ योग

केवलदर्शनी में—७ योग (अनेन्द्रिय की तरह)

संयती में—१५ योग

सागारोवत्ता में—१५ योग

अणागारोवत्ता में—१५ योग

आहारिक में—१४ योग (कर्मण काययोग बाद देकर)

अणाहारिक में—१ योग कर्मण-काययोग

भाषक में—१४ योग (कर्मण काययोग बाद देकर)

अभाषक में—५ योग (औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र व कर्मण काययोग)

परित में—१५ योग

अपरित में—१३ योग (आहार, आहारकमिश्र काय योग बाद)

पर्याप्त में—१५ योग

अपर्याप्त में—५ योग-अभाषक की तरह)

सूक्ष्म में—३ योग (औदारिक, औदारिकमिश्र व कर्मण काययोग)

बादर में—१५ योग

संज्ञी में—१५ योग

असंज्ञी में—६ योग (औदारिक, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र काय, व्यवहार वचनव कर्मण काययोग)

भवि में—१५ योग

चरम में—१५ योग

अभवि में—१३ योग (अहारक व आहारकमिश्र काययोग छोड़कर)

सिद्ध में—योग नहीं है

सइन्द्रिय में—१५ योग

एकेन्द्रिय में—५ योग (औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र तथा कर्मण काययोग)

द्वीन्द्रिय में—४ योग (औदारिक, औदारिकमिश्र, कर्मण काययोग व ध्यवहार भाषा

त्रीन्द्रिय में—४ योग „ „

चतुरिन्द्रिय में—४ योग „ „

पंचेन्द्रिय में—१५ योग „ „

अनेन्द्री में—७ योग (सत्यमन, व्यवहारमन, सत्य वचन, व्यवहार वचन, औदारिक, औदारिकमिश्र तथा कर्मण काययोग

कृतयुग्म-कृतयुग्म आदि १६ महायुग्म है । प्रत्येक महायुग्म के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक है । ग्यारह उद्देशक के नाम इस प्रकार है ।

- १ औधिक कृतकृतयुग्म-कृतयुग्म
- २ प्रथम-समय „
- ३ अप्रथम-समय „
- ४ चरम-समय „
- ५ अचरम-समय „
- ६ प्रथम-प्रथम „
- ७ प्रथम-अप्रथम „
- ८ प्रथम-चरम „
- ९ प्रथम-अचरम „
- १० चरम-चरम „
- ११ चरम-अचरम „

इनमें प्रथम, तृतीय व पाँचवें उद्देशक के विवेचन में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अष्टांशी पंचेन्द्रिय में वचन योग व काययोग होते हैं तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय में तीनों योग होते हैं । अवशेष आठ उद्देशक के विवेचन में सब स्थान पर केवल काययोग कहना चाहिए ।

जरा (वृद्धावस्था) शारीरिक दुःखरूप है और शोक (खेद-हीनता) मानसिक दुःखरूप है । इसलिए जिन जीवों के मनोयोग नहीं है, उन्हें केवल जरा होती है और मनोयोग वाले जीवों को जरा और शोक दोनों होते हैं ।

पृथ्वीकायिक से चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के मनोयोग नहीं है अतः जरा है परन्तु शोक नहीं है बाकी जीवों के जरा और शोक दोनों हैं ।

१ औदारिक काययोग—औदारिक शरीर वाले मनुष्य और तिर्य'चों में शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद जो हलन-चलन की क्रिया होती है—वह औदारिक काययोग ।

२ औदारिकमिश्र काययोग—यह चार स्थान पर मिलता है ।

(क) मनुष्य एवं तिर्य'चगति में उत्पन्न होने के समय में जीव आहार ले लेता है,

परन्तु शरीर पर्याप्ति का बंध पूर्ण नहीं हो पाता, उस अवस्था में औदारिकमिश्र काययोग होता है ।

(ख) वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्य और तिर्यंच वैक्रिय रूप बनाते हैं । परन्तु जब तक वह पूर्ण नहीं होता, तब तक वैक्रिय काययोग के साथ औदारिकमिश्र काययोग होता है ।

(ग) विशिष्ट शक्ति संपन्न योगी आहारक लब्धि को काम में लाता है, परन्तु जब तक आहारक शरीर पूरा नहीं बन जाता तब तक आहारक काय योग के साथ औदारिक मिश्र काययोग होता है ।

(घ) केवली समुद्घात के दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिक-मिश्र-काय योग होता है ।

३—वैक्रिय काययोग—देवता और नारकी में शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद वैक्रिय-शरीर की तथा मनुष्य और तिर्यंच में लब्धि जन्य वैक्रिय शरीर की जो क्रिया होती है वह वैक्रिय काय योग है ।

४—वैक्रिय मिश्रकाय योग—यह दो स्थान पर उपलब्ध हो सकता है ।

(क) देव और नारकी में उत्पन्न होनेवाला जीव आहार ले लेता है परन्तु शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं बाँधता है उस अवस्था में वैक्रिय मिश्रकाय योग होता है ।

(ख) औदारिक शरीर वाले मनुष्य और तिर्यंच अपनी विशिष्ट शक्ति से वैक्रिय रूप बनाते हैं और उससे फिर समेटते हैं परन्तु जब तक औदारिक पुनः पूर्ण न बन जाए तब औदारिक काययोग के साथ वैक्रिय मिश्रकाय योग होता है ।

५—जब आहारक शरीर पूरा बनकर क्रिया करता है तब उसको कहते हैं आहारक काय-योग । आहारक काययोग वाले चौदहपूर्वी होते हैं ।

६—आहारकमिश्र काय योग—जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापस आकर औदारिक शरीर में प्रवेश करता है उस समय औदारिक के साथ आहारक मिश्रकाय योग होता है ।

७—कर्मण काययोग—एक समय वाली अंतराल गति में जीव अनाहारक नहीं होता है अतः इस अवस्था में कर्मण काययोग नहीं होता है । तीन-चार समय वाली अंतराल गति में कर्मण काययोग होता है । अंतराल गति दो प्रकार की है :—

(१) ऋणुगति और (२) वक्रगति ।

योग का एक अर्थ 'ध्यान' भी मिलता है । आचार्य हरिभद्र ने योग विन्दु में योग का जो क्रम उपस्थित किया है वह इस प्रकार है :—

अध्यात्मं भावानां ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।

मोक्षेण योजनाद् योग, एव श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ ३१ ॥

अर्थात् अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय—ये योग के भेद हैं। ये साधक को मोक्ष के साथ योजित करते हैं—जोड़ते हैं। अतएव इन्हें योग कहा जाता है। ये क्रमशः उत्तरोत्तर एक-दूसरे से उत्तम हैं।

एक अन्य अपेक्षा से तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबंध, अचर-निरनुबंध, आस्रव और निरास्रव योग के भेद हैं।^१

साश्रव वह योग है, जो आस्रव-श्रोत या प्रवाह से युक्त है। यहाँ आचार्य द्वारा अभिव्यक्त आश्रव योग में अशुभ योगास्रव का प्रवर्तन नहीं रहता लेकिन शुभ योगास्रव का रहता है। शुभ कर्म पुद्गल आत्म-संश्लिष्ट होते रहते हैं। निरास्रव योग में आस्रव का प्रवर्तन नहीं होता है। अस्तु आचार्य ने साश्रव योग से 'दीर्घसंसार' व निरास्रव योग को दीर्घ संसार नहीं कहा है।

कहा है :—“ध्यानं सुविषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंतति, ध्येय में एकाग्रता का हो जाना ध्यान है। ध्यान से मनोयोग को साधा जा सकता है।

हलन-चलन की प्रवृत्ति को काययोग कहते हैं। शरीर को प्रवृत्त करने वाली शक्ति का नाम—कायबल है। यह अंतराय कर्म के क्षय-क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

आस्रव का एक भेद योग आस्रव है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग आस्रव कहते हैं। इसके दो भेद हैं—शुभयोग आस्रव और अशुभ योग आस्रव। शुभयोग से निर्जरा होती है। उस अपेक्षा से शुभ योग आस्रव नहीं, किन्तु वह शुभ कर्म के बंध का कारण भी है। अतः वह शुभ योग आस्रव भी है।

षट्खंडागम में अप्रमत्त गुणस्थान से क्षीण कषाय गुणस्थान में नौ योग का उल्लेख किया है—चार मन के योग, चार वचन के योग तथा एक औदारिक काययोग। (यह दिग्भ्रम मान्यता है) श्वेताम्बर मतानुसार इन गुणस्थान में पाँच योग मिलते हैं—सत्यमन योग, व्यवहार मनोयोग, सत्यवचन योग, व्यवहार वचन योग तथा औदारिक काय योग। तत्त्व केवली गम्य है।

जीवाश्रित पारिणामिक भाव के दस भेदों में योग का भी उल्लेख है—

(१) गति, (२) इन्द्रिय (३) कषाय, (४) लेश्या, (५) योग, (६) उपयोग, (७) ज्ञान, (८) दर्शन, (९) चारित्र, और (१०) वेद।

प्रतिसंलीनता के चार प्रकार में एक प्रकार योग प्रतिसंलीनता है ।

१—इन्द्रिय प्रतिसंलीनता

२—कषाय ”

३—योग —

४—विविक्त शयनासन

मन, वचन व काय योग की स्थिरता को ध्यान कहते हैं । इस परिभाषा के आधार पर ध्यान के तीन प्रकार हैं—

१—मानसिक, २—वाचिक व ३—कायिक

एकाग्र चिंता को ध्यान कहते हैं । इस परिभाषा के आधार पर ध्यान के चार प्रकार होते हैं—

१—आर्त्त, २—रौद्र, ३—धर्म और ४—शुक्ल

मिथ्यात्वी की तपस्या मोह कर्म के क्षयोपशम से होती है । यह काय शुभ योग है ।

तपस्या-भाव—चार उदय को छोड़कर; आत्मा एक योग ।

दिगम्बर ग्रंथों में स्त्री के चार प्रकार का उल्लेख मिलता है—

१ मनुष्यणी

२ दिवांगना

३ पशुस्त्री

४ स्त्री-चित्र

इन चारों के साथ तीन करण व तीन योग से अब्रह्म का सेवन न करना । इस प्रकार (४ × ३ × ३) ३६ भेद शील के होते हैं ।

महाव्रत में देव, मनुष्य व तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का तीन करण व तीन योग से प्रत्याख्यान करना होता है । अणुव्रत में जीवन पर्यंत देवता, देवांगना सम्बन्धी मैथुन का दो करण व तीन योग से प्रत्याख्यान होता है परपुरुष—स्त्री-पुरुष और तिर्यंच-तिर्यंची सम्बन्धी मैथुन का एक करण व एक योग से—शरीर से सेवन नहीं करूँगा ।

केवल ब्रह्मचर्यका पालन भाव दो—क्षायोपशमिक व पारिणामिक । आत्मा—योग व देश चारित्र ।

१ लोकोत्तर दान—भाव चार औदयिक छोड़कर व आत्मा एक योग ।

२ लौकिक दान—भाव दो-औदयिक व पारिणामिक व आत्मा एक योग ।

ऋतुगति में स्थूल शरीर का योगजन्य प्रवाह रहता है। वक्रगति में कामीय योग की चंचलता रहती है। योग तेरहवें गुण स्थान तक है अतः कर्म बंध भी तेरहवें गुणस्थान तक है।

शुभ नाम कर्म बंध के चार कारण में एक कारण है—अविसंवादन योग—कथनी-करनी की समानता।

करण वीर्य का सम्बन्ध योग से है अतः योग के अभाव होने से चौदहवें गुणस्थान में करण वीर्य नहीं है। लब्धि वीर्य सभी गुणस्थान में है। योग के अभाव में भी लब्धि वीर्य हो सकता है।

करण की उत्तर प्रकृतियाँ ५५ हैं उनमें मन-वचन के योग का भी उल्लेख मिलता है—

५ द्रव्य, ५ शरीर, ५ इन्द्रिय, ४ मन के योग, ४ वचन के योग, ४ कषाय, ६ लेश्या, ४ संज्ञा, ३ दृष्टि, ७ समुद्घात, ३ वेद व ५ आस्रव = कुल ५५

कर्मों के संयोग या वियोग से होने वाली आत्मा की अवस्था को भाव कहते हैं। परिणाम विशेष को भी भाव कहा जाता है। यह मनोयोग आदि से सम्बन्धित परिणाम है। अव्यवसाय, लेश्या व योग के समन्वित रूप को ही भाव करते हैं। व्यवहार में मोक्ष के चार मार्गों में भाव का भी उल्लेख है। वह यही परिणाम विशेष भाव है।

भाव शुभ-अशुभ दोनों होते हैं। शुभ भावों में संलग्न जीव मोक्ष का उत्कृष्ट सुख पा सकता है। वहाँ अशुभ भावों में लगा जीव सातवीं नरक तक का उत्कृष्ट दुःख भी पा लेता है।

श्रेणी आरोहण के समय भावों की ही प्रधानता रहती है, पर वचन और काय योग की क्रिया भी साथ में हो सकती है।

माता मरुदेवा प्रथम गुणस्थान से सातवें, फिर श्रेणी चढ़ते हुए तेरहवें गुणस्थान में सर्वश बनीं, तत्क्षण योग निरुद्ध कर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनीं।

अशुभ योग के प्रति आकर्षण व शुभ योग के प्रति उदासीनता को रति-अरति पाप-स्थान कहते हैं। छठे गुणस्थान तक अशुभ योग है तथा तेरहवें तक शुभ योग है।

अस्तु आस्रव के पाँच प्रकार हैं—उसमें पाचवाँ योग आश्रव है। योग अर्थात् मन, वचन व काय की प्रवृत्ति। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद व वषाय आस्रव सावय है। योग के दो प्रकार हैं—शुभ योग और अशुभ योग। उनमें अशुभ योग को सावय तथा शुभयोग से निर्जरा होती है इस दृष्टि से निरवय है।

मन, वचन व काय की वर्गणा पौद्गलिक है किन्तु यही योग नहीं है। मन, वचन व काय का योग आत्म-प्रवृत्ति जुड़ने से होता है। वर्गणा-द्रव्य मन, द्रव्य वचन व द्रव्य काय

योग का हो सकता है। किन्तु भावयोग आत्मा के संयोग से ही हो सकता है वही योग आस्रव है।

आस्रवके पाँच विकल्प है। आठ आत्मामें कुछ विकल्पोंसे अभिव्यक्त किया गया है।
 मिथ्यात्व आस्रव—दर्शन आत्मा
 कषाय आस्रव—कषाय आत्मा
 योग आस्रव—योग आत्मा

शुभ योग पाँच भाव है—मोह कर्म का उपशम, क्षायिक-क्षयोपशम। नाम कर्म का उदय, अंतराय कर्म का क्षय, क्षयोपशम तथा पारिणामिक भाव। ये पाँचो भाव शुभ योग में है। निर्जरा की अपेक्षा से इनकी संगति बैठती है।

योग की शुभता में मोहकर्म का अनुदय आवश्यक है। यह अनुदय उपशम, क्षायिक, क्षयोपशम तीनों में से किसी भी रूप में हो सकता है। चंचलता से इसका सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध है मात्र शुभता से। अंतराय कर्म का क्षय, क्षयोपशम और नाम कर्म के उदय से योग उत्पन्न होता है। आस्रव को आचार्यों ने भव-हेतु कहा है।

योग आस्रव तेरहवें गुणस्थान तक है। योग आस्रव जनक प्रकृति एक शरीर नाम कर्म की है तथा अशुभ योग में चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ सहायक बनती है।

योग का पूर्ण रूप से निरोध होनेपर अयोग संवर हो जाता है। यह स्थिति चौदहवें गुणस्थान में बनती है। संवर के पाँच प्रकार है—

१ सम्यक्त्व संवर, २ व्रत संवर, ३ अप्रमाद संवर, ४ अकषात संवर तथा ५ अयोग संवर। अयोग संवर चौदहवें गुणस्थान में होता है तथा सम्पूर्ण संवर की यही अवस्था है। आंशिक अयोग संवर नीचे के गुणस्थान में भी है किन्तु आंशिक संवर का यहाँ उल्लेख नहीं है इसलिए तो पाँचवें गुणस्थान में व्रत संवर ग्रहण नहीं किया। नौवें व दशवें गुणस्थान में कषाय की अत्यल्पता के बावजूद भी अकषाय संवर नहीं माना। इसी तरह सातवें से तेरहवें गुणस्थान तक आंशिक अयोग संवर होते हुए भी अयोग संवर नहीं माना है। एक चौदहवें गुणस्थान में ही पूर्ण अयोग संवर सधता है।

मन, वचन व काय के योग को अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता तप है। किसी एक आलम्बन पर मन को एकाग्र करना या योग निरोध को ध्यान कहते हैं। केवली के योग निरोधात्मक ध्यान होता है। जहाँ शुभ योग है वहाँ नियम से निर्जरा है। जहाँ निर्जरा है वहाँ शुभयोग की भजना है।

योग की चंचलता के साथ ही शुभकर्म वर्गणा का बंध हो जाता है, निर्जरा बाद में होती है।

पुण्य का बंध नाम कर्म का उदय और पारिणामिक ये दो भाव है। आत्मा एक योग है।

निर्जरा में—आत्मा पाँच—योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, वीर्य आत्मा ।

सिद्ध अकर्मा है, अशरीरी है, वहाँ योग-जन्य क्रिया है ही नहीं ।

टीकाकारों के अनुसार जन्मना नपुंसक सम्यक्त्वी नहीं होता । महर्षि गांगेय की भाँति कृत नपुंसक के मुक्त होने में कोई विसंगति नहीं है ।

केवली समुद्धात में आठ समय लगता है । उस समय मनोयोग-वचन योग नहीं होते—केवल काययोग होता है । पहले व आठवें समय में औदारिक काय योग, दूसरे, छठे-सातवें समय में औदारिक मिश्र काययोग, तीसरे-चौथे-पाँचवें समय में कर्मण काय योग होता है ।

वैक्रिय शरीर बनाकर २० तीर्थ'करों का निर्वाण कल्याणक इन्द्र महाराज करते हैं ऐसा आचार्यों का अभिमत है ।

शरीर के बिना योग नहीं होता है लेकिन योग के बिना भी शरीर हो सकता है ।

तीर्थ'कर तीर्थ की स्थापना कर—योग का निरोध कर मुक्त होते हैं ।

मिथ्यात्वी की तपस्या को बाल तपस्या कहते हैं—इस तपस्या में शुभयोग, शुभ अध्यवसाय व शुभ लेश्या होती हैं । इससे वह देवत्व को प्राप्त करता है ।

सर्वार्थ सिद्धि नामक पाँचवें अनुत्तर विमान के देवों में शुभ-अशुभ दोनों योग होते हैं । भाव परावृत्ति के अपेक्षा वहाँ भी प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों लेश्या होती है । टीकाकारों का मत है कि लोकांतिक देव सभी सम्यक्त्वी होते हैं । वे पूर्वजन्म की अपेक्षा तेजोलेश्या व शुभ योग से अपना शरीर त्यागते हैं ।

अकर्मभूमिज मनुष्यों में कर्मभूमिज मनुष्य ही शुभ क्रिया, शुभयोग, शुभलेश्या से कृत क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं । अकर्मभूमिज मनुष्यों को जब कभी सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है उसी समय शुभ योग, प्रशस्त लेश्या व शुभ अध्यवसाय होते हैं । चूँकि अकर्मभूमिज मनुष्यों में उत्पन्न होने के समय मिथ्यात्व ही होता है । अमनस्क मनुष्यों में एक काय-क्लेश रूप निर्जरा शुभयोग से होती है ।

असंज्ञी तिर्य'च पंचेन्द्रिय में कायक्लेश रूप निर्जरा होती है । यहाँ काय का शुभ-योग होना चाहिए । यद्यपि आगम साहित्य में उनके तीन अप्रशस्तलेश्याओं का उल्लेख है । अन्तर्द्वीपज मनुष्य-युगलियों में भी तीन अप्रशस्त लेश्याओं का उल्लेख है परन्तु शुभ-योग होना चाहिये । शुभ अध्यवसाय भी होता है । संज्ञीतिर्य'च पंचेन्द्रिय में पाँचवां गुण-स्थान भी होता है । उसकी प्राप्ति में शुभयोगादि होते हैं । उस अवस्था में आयुष्य का बंधन भी शुभयोगादि में होता है । उनके अशुभयोगादि में आयुष्य का बंधन नहीं होता है ।

करण और योग जैन सिद्धांत के पारिभाषिक शब्द है। करण का अर्थ है—साधन और योग का अर्थ है—प्रवृत्ति। मन, वचन और शरीर प्रवृत्ति के साधन है। अतः ये करण है। प्रवृत्ति के तीन रूप होते हैं—करना, करवाना और अनुमोदन करना, ये योग है। दूसरी परिभाषा के अनुसार मन, वचन और शरीर—ये तीन योग है तथा प्रवृत्ति के तीनों रूप करण हैं—

पच्चीस बोलका चौबीसवां बोल भांगा ४६ का है, उसमें योग-करण की चर्चा है—

संज्ञितिर्यंच पंचेन्द्रिय भी युगलिये होते हैं उनमें भी किसी को सम्यक्त्व भी आसकता है। उसकी प्राप्ति में शुभलेश्या के साथ शुभ योग भी होता है।

नरक में निर्जरा के सात भेद होते हैं—

१. काय क्लेश, २. प्रतिसंलीनता, ३. प्रायश्चित्त, ४. विनय, ५. स्वाध्याय, ६. ध्यान, ७. व्युत्सर्ग।

काय क्लेश के अतिरिक्त छुओं भेद अधिकतर सम्यक्त्वी नरक में होते हैं। ये नमस्कार महामन्त्रादि का यथा समय स्वाध्याय भी करते हैं। अनित्य-चित्तन (ध्यान) भी करते हैं। विनय वे ज्ञान, दर्शन आदि के रूप में करते हैं। निर्जरा में शुभयोग वहाँ होता है। नारक जीवों के सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय शुभयोग के साथ साता-वेदनीय भी होता है। तीर्थ'करों के पाँच कल्याणक के समय सात-वेदनीय कर्म का विपाकोदय हो सकता है।

सातवीं नरक के नारकियों को औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय शुभयोग-शुभलेश्यादि होते हैं।

नरकगति में औपशमिक, क्षयोपशमिक, सास्वादान, क्षायिक साम्यक्त्व होता है लेकिन वेदक अभ्यक्त्व नहीं होता है।

यद्यपि नरकगति में क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। वेदक सम्यक्त्व नहीं होता है। औपशमिक, क्षयोपशमिक व सास्वादान सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय शुभयोग व शुभलेश्या होती है।

‘ज्ञान के पाँच भेद है—१. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्यव-ज्ञान और ५. केवलज्ञान।

इन पाँचों ज्ञान की प्राप्ति के समय शुभ—योग व प्रशस्त लेश्या होती है। विभंग-ज्ञान की प्राप्ति के समय भी शुभलेश्या-शुभयोग होते हैं। यद्यपि केवलज्ञान की प्राप्ति के समय सिर्फ शुक्ललेश्या होती है। अन्य ज्ञानों की प्राप्ति के समय तीन प्रशस्त लेश्या में से किसी एक प्रशस्त लेश्या होती है। जाति-स्मरण ज्ञान के समय भी शुभयोग-शुभलेश्या होती है।

योग आत्मा—आत्मा के आठ भेदों में एक योग आत्मा भी है। योग आत्मा-भाव आत्मा है। आत्मा के गुण और क्रियाओं को भाव आत्मा कहते हैं। योग की प्रवृत्ति पहले से तेरहवें गुणस्थान तक है अतः योग आत्मा पहले से तेरहवें गुणस्थान तक है।

अध्यवसाय-चेतना की भावधारा का नाम है। चेतना की प्रारंभिक हलचल की पर्याय ही अध्यवसाय है। वह अव्यक्त रूप से होती है। योग चेतना की स्थूल हलचल है और अध्यवसाय आंतरिक है।

लेश्या के दो प्रकार हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। द्रव्यलेश्या पौद्गलिक है, अतः अजीव है। भावलेश्या योग के पूर्व की भावधारा है। तेरहवें गुणस्थान में एक ऐसी अवस्था भी बनती है कि लेश्याजनित कर्मबंध नहीं है परन्तु योग जनित कर्म बंध है।^१ लेश्या की तरह योग भी जीव-अजीव दोनों है।

द्रव्यलेश्या के पुद्गल द्रव्ययोग के—काययोग के अंतर्गत होते हैं। चूंकि मनोयोग व वचनयोग के पुद्गल चतुःस्पर्शी है, काययोग के पुद्गल अष्टस्पर्शी है। छुओं लेश्या के पुद्गल अष्टस्पर्शी होते हैं—ऐसा भगवती सूत्र में कहा गया है। ध्यान-योग बिना भी होता है चूंकि चौदहवें गुणस्थान में ध्यान है परन्तु योग नहीं है। जब तेरहवें गुणस्थान में ध्यान होता है वहाँ सिर्फ काययोग है लेकिन मनोयोग व वचन योग नहीं है।

जहाँ योग है वहाँ लेश्या नियम से है, जहाँ लेश्या है वहाँ योग नियम से है। योग और लेश्या में क्या फर्क है इसका पूरा निर्णय सर्वज्ञ ही दे सकते हैं।^२

अशुभयोग छठे गुणस्थान से आगे नहीं होता है तथा शुभयोग तेरहवें गुणस्थान में भी है। छठे गुणस्थान को प्रमत्त संयत गुणस्थान कहा है। भगवती में अशुभ योग की अपेक्षा प्रमत्त संयत को आरम्भी कहा है परन्तु अनारंभी नहीं। यद्यपि शुभयोग की अपेक्षा प्रमत्त संयत को अनारम्भी कहा है, आरम्भी नहीं।

देशविरत, प्रमत्त संयत तथा अप्रमत्त संयत के अशुभ योग-अशुभ लेश्या में आयुष्य का बंधन नहीं होता। मनुष्य तथा तिर्य'च पंचेन्द्रिय के चतुर्थ गुणस्थान में अशुभ योग-अशुभ लेश्या में आयुष्य का बंधन नहीं होता परन्तु देव नारकी के चतुर्थ गुणस्थान में अशुभ लेश्या में आयुष्य का बंधन हो सकता है।

जातिस्मरणज्ञान, विभंगज्ञान, अवधिज्ञान की उत्पत्ति के समय में शुभलेश्या-शुभयोग होता है। परन्तु अशुभलेश्या अशुभयोग नहीं। सम्यक्त्व के प्राप्ति के समय शुभयोग तथा शुभलेश्या होती है। अशुभयोग-अशुभ लेश्या में सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है।

योग निरोधात्मक ध्यान में मनोयोग व वचनयोग नहीं होते हैं सिर्फ काययोग होता है। परन्तु काययोग के बिना भी योग निरोधात्मक ध्यान हो सकता है।

प्रवृत्ति मात्र योग जन्य है। योग की उत्पत्ति द्वन्द्वात्मक है। नाम कर्म के उदय और अंतराय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से योग की उत्पत्ति होती है। शुभ योग में मोहनीय कर्म का अनुदन (उपशम, क्षय, क्षयोपशम) और जुड़ जाता है। जब योग स्वयं द्वन्द्वात्मक है तो उसकी निष्पत्ति भी द्वन्द्वात्मक है। उदय भाव से पुण्य का बंधन तथा क्षय-क्षयोपशम व उपशम से निर्जरा होती है। मन, वचन, काययोग से बंधनेवाले शुभ कर्म-पुण्य रूप है। संयमी के सावद्य योग का सर्वथा त्याग होता है। उसका खाना-पीना आदि समस्त क्रियाएँ निरवद्य है शुभयोग रूप है। शुभयोग मात्र पुण्यबंध का हेतु है तथा शुभयोग से निर्जरा भी होती है। शुभयोग से पुण्य का बंध तथा निर्जरा होना माना है।

शुभ लेश्या, शुभ योग से आकर्षित कर्मवर्गणा शुभ रूप से परिणत हो जाती है। अशुभ लेश्या, अशुभ योग से आकर्षित कर्मवर्गणा अशुभ रूप से परिणत हो जाती है। शुभता-अशुभता ग्रहण की हुई हर कर्मवर्गणा में विद्यमान है। जिस रूप में कर्म बंधते हैं, उतने समय विशेष के लिए तदनुरूप कर्मवर्गणा शुभ-अशुभ फल देने वाली हो जाती है। अतः कर्मवर्गणा के पुद्गल स्कंध अलग-तलग नहीं है। जिस प्रवृत्ति से कर्म बंधते हैं, वे उसके अनुरूप बन जाते हैं।

शुभयोग से पहले पुण्यबंध तथा निर्जरा बाद में होती है। उपशम भाव मोह की सम्पूर्ण अनुदय अवस्था है। उसमें योग केवल शुभ ही होंगे, अशुभ नहीं! जहाँ शुभयोग है वहाँ निर्जरा है। इस दृष्टि से उपशम भाव को निर्जरा में सहयोगी माना है।

२३ अप्रमत्त अवस्था में योग जन्य केवल पुण्य का बंध होता है।

५४ युगलिये में ११ योग होते हैं, ४ मन के, ४ वचन के, ओदारिक, ओदारिक-मिथ, कामणकाय योग।

६७ उपयोग के बिना योग हो सकता है—जैसे चौहदवें युगस्थान में, सिद्ध में उपयोग है परन्तु योग नहीं है।

८३ योग के द्वारा होने वाली क्रिया को करण कहते हैं। उसके तीन प्रकार हैं—करना, कराना व अनुमोदन करना। आचार्यों ने कहीं-कहीं योग को भी करण कहा है।

८७ प्रतिसंलीनता तप के चार भेदों में एक भेद योग प्रतिसंलीनता है। मन, वचन-काय के योग को अन्तर्मुखी बनाना है—योग प्रतिसंलीनता है।

योग निरोध को ध्यान कहा जाता है इस परिभाषा से ध्यान के तीन प्रकार होते हैं—मानसिक, वाचिक व कायिक। मिथ्यात्वी के तपस्या मोहकर्म के क्षयोपशम से होती है। यह काय का शुभ योग है। तपस्या एक योग आत्मा है।

१०३ परिणाम विशेष को भाव कहते हैं। यह मनोयोग से संबंधित परिणाम है। अध्यवसाय, लेश्या व योग के समुचित रूप को ही भाव कहते हैं। भाव, शुभ-अशुभ दोनों होते हैं। व्यवहार में मोक्ष के चार मार्गों में भाव का भी उल्लेख है। यही वह परिणाम विशेष भाव है। भाव शुभ-अशुभ दोनों होते हैं।

अमनस्क जीवों की क्रिया भाव शुन्य होती है। उन जीवों में अध्यवसाय तो होता है किन्तु मनोयोग न होने से जो भी क्रिया होती है उसमें भावों का अभाव रहता है।

माता मरुदेवा प्रथम गुणस्थान से चौथे, सातवें, फिर श्रेणी चढ़ते हुए तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञ बनी, तत्क्षण योग निरुद्ध कर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनीं।

जीव की अवस्था रूप भाव-औदायिक आदि पाँच भाव है। जीव के उदय निष्पन्न के तेतीस प्रकार है—

चार गति, छह काय, छह लेश्या, चार कषाय, तीन वेद, मिथ्यात्व, अविरति, अमनस्कता, अज्ञानित्व, आहारता, सयोगिता, संसारता, असिद्धता, अकेवलित्व, छद्मस्थता।

जीवाभित पारिणामिक के दस भेद हैं—गति, कषाय, योग, ज्ञान, चारित्र, इन्द्रिय, लेश्या, उपयोग, दर्शन व वेद।

कुछ उदय जन्य प्रकार क्षयोपशमिक भाव के साहचर्य से निरवद्य माने गये हैं। जैसे—तीन शुभ लेश्या (शुभयोग भी)।

देवायु के बंध के चार कारणों में एक कारण अकाम निर्जरा है। यह निर्जरा भी शुभयोग या शुभलेश्या या शुभ अध्यवसाय के बिना नहीं होती है।

करण की उत्तर प्रकृतियाँ ५५ हैं—५ द्रव्य, ५ शरीर, ५ इन्द्रिय, ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, ४ कषाय, ६ लेश्या, ४ संज्ञा, ३ दृष्टि, ७ समुद्घात, ३ वेद, ५ आस्रव = कुल ५५।

शुभ प्रवृत्ति के समय अशुभ व अशुभ प्रवृत्ति के समय शुभ कर्म का बंध नहीं होता। एक समय में एक का ही बंध होता है। यह योग से संबंधित है।

कर्मबंध के दो प्रकार हैं—

(१) सांपरायिक बंध और (२) ईयापथिक बंध।

जो सकषायी है उनके सांपरायिक क्रिया से बंध होता है। कषाय और योग की चंचलता सांपरायिक क्रिया का मुख्य हेतु है। दसवें गुणस्थान तक कषाय की विद्यमानता से इस क्रिया में बंध होता है। ईयापथिक का अर्थ है—योग। जहाँ मात्र योग की चंच-

लता होती है, वहाँ पर ईर्यापथिक बंध होता है। यह पुण्य का बंधन है। इसकी स्थिति दो समय की है व यह ईर्यापथिक बंध केवल वीतराग के होता है।

अंतराल गति में स्थूल शरीर तो नहीं होता, योग जन्य प्रवाह (धक्का) रहता है। वक्रगति में कामर्ण काययोग की चंचलता रहती है। ऋजुगति—एक समय की है अतः कामर्णकाय योग नहीं होता है—औदारिक-मिश्र काय योग होता है।

- १ से ३—प्राणातिपात आश्रव, मृषावाद आश्रव व अदत्तादान आश्रव
- ४—मैथुन आश्रव—अब्रह्मचर्य सेवन न करना।
- ५—परिग्रह आश्रव—घन, धान्य, मकान आदि पर ममत्व न रखना
- ६—श्रोत्रेन्द्रिय आश्रव—श्रोत्रेन्द्रिय की द्वारा द्वेष युक्त प्रवृत्ति
- ७—चक्षुरिन्द्रिय आश्रव—चक्षुरिन्द्रिय ”
- ८—घ्राणेन्द्रिय आश्रव—घ्राणेन्द्रिय ”
- ९—रसेन्द्रिय आश्रव—रसेन्द्रिय ”
- १०—स्पर्शेन्द्रिय आश्रव—स्पर्शेन्द्रिय ”
- ११—मन आश्रव—मन की प्रवृत्ति आश्रव
- १२—वचन आश्रव—वचन ”
- १३—काय आश्रव—काया ”
- १४—भंडोप करण आश्रव—भण्ड-पात्र-उपकरण-वस्त्र आदि को यत्नपूर्वक न रखना।
- १५—सूचि कुशाय मात्र आश्रव—किंचित मात्र भी पापयुक्त प्रवृत्ति।

इनमें मन आश्रव, वचन आश्रव व काययोग शुभ और अशुभ दोनों है। बाकी अशुभ योग आश्रव के भेद हैं। शुभ कर्म योग की प्रवृत्ति से शुभ कर्म का बंध होता है और अशुभयोग आश्रव से अशुभ कर्मों का बंध होता है।

आठवाँ बोल योग पन्द्रह—

मनोयोग के चार भेद :

- १—सत्य मनोयोग
- २—असत्य ”
- ३—मिश्र ”
- ४—व्यवहार ”

वचनयोग के चार भेद :

- ५—सत्य वचनयोग
- ६—असत्य ”
- ७—मिश्र ”
- ८—व्यवहार ”

काययोग के सात भेद :

- ६—औदारिक काययोग
- १०—औदारिकमिश्र ,,
- ११—वैक्रिय ,,
- १२—वैक्रियमिश्र ,,
- १३—आहारक ,,
- १४—आहारकमिश्र ,,
- १५—कामण ,,

—पच्चीस बोल—अमृत कलश पृ० २२२

—काल्प तत्त्व शतक पहला वर्ग २३६

जैन दर्शन समितिके अध्यक्ष श्रीअभयसिंह सुराना, परामर्शक श्रीनवरतनमल सुराना, श्रीहीरालाल सुराना, श्रीमोहनलाल बेद, डा०सत्यरंजन बनर्जी, गणेश ललवाना तथा दिवंगत आत्मा मोहनलाल बाँठिया के भी हम कम आभारी नहीं हैं जो हमें इस कार्य के लिए सतत प्रेरणा तथा उत्साह देते रहे। सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स के संचालक श्री भागचन्द सुराना तथा उनके कर्मचारी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस पुस्तक का सुन्दर मुद्रण किया है।

श्वेताम्बर परम्परा में यद्यपि स्त्रीमुक्ति प्राप्त कर सकती है। किन्तु उसे दृष्टिवाद पढ़ने का अधिकार नहीं है। पूर्वों की विद्या की ज्ञाता स्त्री नहीं होती है अतः आहारक काययोग व आहारकमिश्र काययोग स्त्री को नहीं होता है। ये योग चतुर्दश पूर्वधारी को होते हैं। ग्यारह अंगों को पढ़कर पश्चात् दृष्टिवाद को पढ़ा जाता था।

आचार्य धरसेन महाकर्म प्रकृति प्राभूत के ज्ञाता थे। उन्होंने भूतबली-पुष्पदन्त को समस्त महाकर्म प्रकृति प्राभूत पढ़ाया और भूतबली-पुष्पदन्त ने महाकर्म प्रकृति प्राभूत का उपसंहार करके षट्खंडागम के सूत्रों की रचना की। इसके टीकाकार वीरसेन स्वामी थे। बीर सेन स्वामी और उनके गुरु एलाचार्य दोनों सिद्धान्त ग्रंथों के ज्ञाता थे। गोम्मटसार आचार्य नेमिचन्द्र की प्रमुख रचना है। त्रिलोकसार की अन्तिम गाथा में नेमिचन्द्र मुनि का नाम अवश्य है और उन्हें अभयनन्द का शिष्य कहा है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती की तीन ही रचनाएँ समुपलब्ध हैं—गोम्मटसार, लब्धिसार और त्रिलोकसार। गोम्मटसार का ऊपर नाम पंच संग्रह भी है। मूलाचार जैन मुनि के आचार का एक प्राचीन ग्रन्थ है।

अस्तु गोम्मटसार में सयोगी केवली के मनोयोग की संभावना सहेतुक बतलायी है। योग ही जीव के प्रति कर्मों के आखव का प्रमुख कारण है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। जो योग सहित होते हैं उन्हें सयोगी कहते हैं। इस तरह जो योग सहित केवलशानी होते हैं उन्हें सयोग-केवली कहते हैं। इसमें जो सयोग पद है वह नीचे के बारह गुणस्थानों में योग का अस्तित्व सूचक है। जिनके योग नहीं होता है वे अयोगी होते

ऐसे योगरहित केवलज्ञानी अयोग केवली होते हैं। योग मार्गणा—मार्गणाका अर्थ है खोजना है। योग को खोजना-योग मार्गणा। ग्यारह मार्गणा में योग मार्गणा चतुर्थ है। मन, वचन व कायके निमित्तसे होने वाली क्रिया से युक्त आत्मा के जो शक्ति विशेष उत्पन्न होती है जो कर्मों के ग्रहण में कारण है उसे योग कहते हैं। योग के प्रकारान्तर से पन्द्रह भेद है जिसमें काययोग के सात भेद हैं। मन और वचन योग के चार-चार भेद हैं।

उदार अर्थात् महत् शरीर को औदारिक कहते हैं। उसके निमित्त से होने वाले योग को औदारिक काययोग कहते हैं। औदारिक जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है। उसके द्वारा होनेवाला योग—औदारिकमिश्र काययोग है। अनेक गुणों और ऋद्धियों से युक्त शरीर को वैक्रियक शरीर कहते हैं। उसके द्वारा होने वाले योग को वैक्रियिक काययोग कहते हैं। वैक्रियिक शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक वैक्रियिक मिश्र काययोग है। जिसके द्वारा मुनि संदेह होने पर सूक्ष्म अर्थों को ग्रहण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं। उससे जो योग होता है उसे आहारक काययोग कहते हैं। जब तक आहारक शरीर पूर्ण नहीं होता है तब तक उसे आहारकमिश्र कहते हैं और उससे होने वाले योग को आहारकमिश्र योग कहते हैं।

कर्म ही कर्मण शरीर है। उसके निमित्त से जो योग होता है वह कर्मण काय योग है। तिर्यंच और मनुष्यों के औदारिक काय योग व औदारिक मिश्रकाय योग होते हैं। देव और नारकियों के तथा वैक्रियलब्धि संपन्न कुछ मनुष्यों तिर्यंचों के भी वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्रकाय योग होते हैं। ऋद्धि प्राप्त मुनियों के आहारक काय-योग व आहारक मिश्रकाय योग होते हैं। विग्रहगति में स्थित चारों गतियों के जीवों तथा प्रतर और लोकपूर्ण समुद्रघात प्राप्त केवलि-जिनके कर्मण काययोग होता है।

आहारक काय योग व आहारक मिश्रकाय योग एक प्रमत्त संयत गुणस्थान में ही होता है।

अस्तु इन्द्रिय अर्थात् मतिज्ञान से रहित सयोगी केवली में मुख्यरूप से मनोयोग का अभाव होने पर भी उपचार से मनोयोग है। उपचार के होने से निमित्त और प्रयोजन दो कारण होते हैं। निमित्त इस प्रकार है—जैसे हमारे जैसे मन से युक्त छद्मस्थ जीवों के तत्पूर्वक अर्थात् मनपूर्वक ही वचन अर्थात् वर्णपद वाक्यात्मक वचन व्यापार देखा जाता है अतः केवली के मनोपूर्वक वचन कहा है। मुख्य मनोयोग का केवली के अभाव होने से मनोयोग की कल्पना का उपचार कहा है।

केवली के अंगोपांग नाम कर्म का उदय होने से हृदय के अंतर्मन में खिले हुए आठ बल वाले कमल के आकार द्रव्य मन होता है। उसके परिणमन के कारण मनोवर्णणा के स्कन्धों के आने से द्रव्य मन का परिणमन होता है। अतः प्राप्ति रूप प्रयोजन से तथा पूर्वोक्त निमित्त से और मुख्य मनोयोग का अभाव होने से उपचार से मनोयोग कहा है। अथवा आत्म-प्रदेशों के कर्म और नो कर्म को आकृष्ट करने की शक्ति रूप भाव मनोयोग

है। उससे उत्पन्न हुआ मनोवर्गणा का द्रव्य मन रूप से परिणमन रूप द्रव्य मनोयोग है। पूर्वोक्त उपचार का प्रयोजन तो सब जीवों पर दया, तत्त्वार्थ का उपदेश, शुद्धध्यान आदि का केवली में होता है।^१ चूँकि श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों मान्यताओं में सयोगी केवली में सत्यमनोयोग, व्यवहार मनोयोग स्वीकृत किया है। अतः सयोगी केवली में मन से मतिज्ञान का न होना स्वीकृत है परन्तु उपचारगत भाव मनोयोग मानना पड़ता है। अशुभ योग प्रमाद के दिगम्बर साहित्य में पन्द्रह भेद किये हैं—यथा, विकथा चार, कषाय चार, इन्द्रियाँ पाँच, निद्रा एक, स्नेह एक।

अस्तु अनुभूत अर्थ की ग्रहण करना तथा उसकी योग्यता मनः प्राण है। यह प्राण सयोगी केवली के भी होता है। गोम्मटसार में चक्रवर्ती के भी वैक्रिय काययोग माना है।^२ वासुदेव के भी वैक्रियकाय होता है। अतः चक्रवर्ती तथा वासुदेव में योग बारह होते हैं—चार मन के, चार वचन के, औदारिक काययोग, वैक्रिय काययोग, औदारिक मिश्रकाय योग तथा वैक्रिय मिश्रकाय योग।

अस्तु प्रमत्तविरत में वैक्रिय काययोग क्रिया और आहारक काययोग क्रिया—ये दोनों एक साथ नहीं होती है क्योंकि उसके आहारक ऋद्धि और वैक्रिय ऋद्धि दोनों के एक साथ होने में निरोध है। तथा योग भी एक काल में अर्थात् अपने योग्य अन्तर्मुहूर्त में नियम से एक ही होता है। दो या तीन योग एक जीव में एक साथ नहीं होते हैं। ऐसा होने पर एक योग के काल में अन्य योग का कार्य रूप गमनादि क्रिया के होने में कोई निरोध नहीं है क्योंकि जो योग चला गया उसके संस्कार से एक योग के काल में अन्य योग की क्रिया होती है।

जैसे कुम्हार दंड के प्रयोग से चाक को घुमाता है। पीछे दंड का प्रयोग नहीं करने पर भी संस्कार के बल से चाक घूमता रहता है। या धनुष से छूटने पर बाण जब तक उसमें पूर्व संस्कार रहता है तब तक जाता है। पीछे संस्कार नष्ट होने पर गिर जाता है। इस प्रकार संस्कार के वश एक साथ अनेक योगों की क्रिया के होने का प्रसंग उपस्थित होने पर प्रमत्तविरत में वैक्रिय और आहारक शरीर की क्रियाओं के एक साथ होने का निषेध गोम्मटसार में किया है। अर्थात् ये दोनों योग रूप क्रिया संस्कारवश भी एक साथ नहीं होती।

तीन योग में सबसे कम कामाँण काययोगी वाले, उससे असंख्यात गुण अधिक औदारिकमिश्र योग वाले, उससे संख्यात गुण अधिक औदारिक काययोग वाले हैं। उपर्युक्त तीनों योग वाले जीव प्रत्येक अनंतानंत जानना चाहिए। औदारिकमिश्र काययोग का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। उससे औदारिक काययोग का काल संख्यात गुण अधिक है।

१ गोजी० गा० २२७ से २२६। टीका

२ गोजी० गा० २३३ टीका

गोम्मटसार में आहारक काययोग के धारक एक समय में एक साथ उरकुण्ड ५४ होते हैं तथा आहारकमित्र काययोगी सत्ताइस होते हैं ।

गोम्मसार की मान्यता के अनुसार गुणस्थान में योग के विषय में ऐसा विवेचन मिलता है ।

पर्याप्त गुणस्थानों में योग ११, अपर्याप्त गुणस्थानों में योग ४, विभंग ज्ञान सहित मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में योग १३ (आहारक द्वयरहित , पर्याप्त मिथ्यादृष्टि में योग १० अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि में योग ३, सास्वादान गुणस्थान में योग १३, पर्याप्त सास्वादान में योग १०, अपर्याप्त में योग ३, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में योग १०, असंयत सम्यग्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में योग १३, इसके पर्याप्त में १० योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं । देश संयत गुणस्थान में ६ योग, प्रमत्त संयत में ११ योग होते हैं । अप्रमत्त संयत से क्षीण कषाय गुणस्थान में ६ योग होते हैं । सयोगि-केवलि गुणस्थान में ७ योग होते हैं । अयोगी केवली गुणस्थान में योग नहीं होता है ।^१ गुणस्थान में मान्यता भेद—

दिग्भर मान्यता	श्वेताम्बर मान्यता
देशविरत में—	१२ योग
प्रमत्त संयत में—	१४ योग
अप्रमत्त से क्षीण कषायीतक—६ योग	५ योग

प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक सभी जीव सयोगी होते हैं अतः सयोगी होने से वे सक्रिय हैं व सलेशी हैं । वे सयोगी प्रतिक्षण कोई न कोई क्रिया करते रहते हैं । किसी भी क्षण में अक्रिय नहीं होते हैं अतः उनके आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन होता रहता है । विग्रहगति में भी जीव कर्मण काययोग से क्रिया करता है । जीव क्रिया सभी शरीरों से करता है । ये सभी क्रियाएँ परिस्पंदनात्मक हैं । नरक-तिर्यंच तथा देवगति के जीव नियम से सयोगी होते हैं वे अयोगी कभी भी नहीं हो सकते हैं । मनुष्य सयोगी भी होते हैं अयोगी भी होते हैं । कहा है—

नत्थि हु सक्खिरियाणं अबंधगकिंचि इह अणुट्ठाणं ।

—आव० मलय टीका उक्त भा० गा । १४६

अर्थात् क्रिया करता हुआ ऐसा कोई जीव नहीं है जो कर्म का बंध न करता है । अयोगी के कर्म बंध नहीं होता है, सयोगी के कर्म बंध होता है ।

योग, शरीर तथा इन्द्रिय का निर्माण करते हुए जीव के कार्याकी क्रिया पंचक की कदाचित् तीन, कदाचित् चार, कदाचित् पाँच क्रियाएँ होती हैं । कषाय आदि सातों समुद्घात में सयोगी होता है । आचार्य मलयगिरि ने आवश्यक की टीका में एवभूत

नयकी अपेक्षा से सावय का अर्थ केवल मात्र कर्म-बंध-क्रिया है। (एवं खलु तस्स तत्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ) ईयावधिक क्रिया का तेरहवें गुणस्थान में वर्णन किया है। इसके शेष में भी उक्त वाक्य का प्रयोग है।

मनःपर्ययज्ञान द्रव्य मन से ही उत्पन्न होता है ऐसा नियम है। शरीर के अन्य प्रदेशों में उत्पन्न नहीं होता है। उस द्रव्यमन में भावमन और मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होते हैं।^१

गोम्मटसार में अयोगी केवली की उत्कृष्ट संख्या ५६८ बतलाई है।^१ विग्रहगति में आये हुए चारों गतियों के जीव, प्रतर और लोक पूर्ण समुदघात करने वाले सयोगी जीव में एक कर्मण काययोग होता है। मूल शरीर को छोड़कर कर्मण और तैजस रूप उत्तर शरीर से युक्त जीव के प्रदेश समूह को शरीर से बाहर निकालना समुदघात है।

विभंग ज्ञानी मनुष्य-तिर्यंच में कर्मण काययोग नहीं होता है। चक्षुर्दर्शनी में भी कर्मण काययोग नहीं होता है। तीर्थंकर में पाँच योग होते हैं—सत्यमनोयोग, व्यवहार मनोयोग, सत्यवचन योग, व्यवहारवचन योग व औदारिक काययोग। तीर्थंकर के केवल समुदघात नहीं होता है अतः औदारिक मिश्र काययोग व कर्मण काययोग नहीं होता है।

दस अच्छेरों में दसवाँ अच्छेरा असंयमी की पूजा (असंयते पूजा) का है। प्रवचन-सारोद्धार में कहा है :—

असंजयाण नवमजिणे ८८८, ८८९

“सर्वथा तीर्थच्छेदरूप असंयती पूजा सुविधनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद तथा शीतलनाथ तीर्थंकर के होने के पूर्व हुई। ठाणांग की टीका में कहा है—“सुविधनाथ तीर्थंकर से सोलहवें तीर्थंकर के समय तक असंयती पूजा हुई।

सुविधनाथ स्वामी के निर्वाण के कुछ काल पश्चात् हुण्डा-अवसर्पिणी काल के दोष से भ्रमण नियन्त्र का विच्छेद हो गया अर्थात् एक भी साधु नहीं रहा। शीतलनाथ के संघ स्थापन के पूर्व संघ-विच्छेद हो गया। रात्रि में उत्सव के राजत्व की तरह उसी समय ब्राह्मणों का एकच्छत्र राज्य स्थापित हो गया। इस प्रकार शांतिनाथ के पूर्व अन्य छह वार भ्रमणधर्मका विच्छेद हुआ। इससे असंयत अविरतों की पूजा होने लगी।

कलिकाल सर्वश हेमचन्द्राचार्य ने योग शास्त्र के मंगलाचरण में लिखा है :—

“नमो दुर्वारागदि वेरिषार निवारणे ।

अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने ॥

अर्थात् जिनको जितना कठिन है, ऐसे रागद्वेषादि वैरियों के समूह को निवारण करने वाले चार घाति-कर्मों का नाश करने वाले, योगियों के नाथ और प्राणी-मात्र के संरक्षक भगवान् महावीर को नमस्कार हो। पातञ्जल योग शास्त्र में कहा है—

“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। चित्तवृत्ति के निरोध के लिए साधन रूप अष्टांग योग बताये हैं।

“यमनियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि” यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये अष्टांग योग हैं।

अहिंसा सर्व श्रेष्ठ धर्म है। भगवान् शांतिनाथ ने मेघराजा के भव में एक कबूतर को जान बचाने के लिए अपने प्राणों की परवाह नहीं की। भगवान् अरिष्टनेमि ने प्राणियों की रक्षा के लिए अपनी बारात लौटा ली। भगवान् पार्श्वनाथ ने नाग-नागिन के जोड़े को जलने से बचाया। मेतार्य सुनि ने एक सुर्गी की जान बचाने के लिए प्राणों की आहुति दे दी। जैन इतिहास दयालुता और अहिंसा के दृष्टान्तों से भरा पड़ा है।

अयोग संवर—संवर के बीस भेद होते हैं जिसमें अयोग संवर पाँचवाँ है। सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग—इन पाँच संवरों के अतिरिक्त जो पन्द्रह भेद हैं वे व्रत संवर के ही हैं। अप्रमाद, अकषाय, अयोग—ये तीन संवर परित्याग करने से नहीं होते हैं, किन्तु तपस्यादि साधनों के द्वारा आत्मिक उज्ज्वलता से ही होते हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा है—

प्रमाद आस्रव ने कषाय योग आस्रव,
ये तो नहीं मिटे, कियों पचचक्खाण।
ये तो सहजे मिटै छे कर्म अलग हुआ,
तिण री अंतरंग कीजो पहिचान।

—नवपदार्थ संवर, ढाल १। गा ६

अस्तु प्रवृत्ति करना योग आस्रव है अतएव पन्द्रह आस्रव-योग आस्रव के अन्तर्गत होते हैं। उन पन्द्रह आस्रवों का प्रत्याख्यान करने से अत्याग-भावना रूप अव्रत आस्रव का निरोध होता है अतः व्रत संवर होता है। शुभ-अशुभ योग का निरोध-सर्वथा होने से अयोग संवर होता है। अपेक्षादृष्टि से आंशिक रूप से अयोग संवर हो भी सकता है पर वह अयोग संवर का अंश कहलाता है, अयोग संवर नहीं।

आठ आत्मा में एक योग आत्मा है। आत्मा जीव का पर्यायवाची शब्द है। द्रव्य आत्मा और जीव का एक ही अर्थ है। जीव का मन, वचन और काय—इन तीन का योगमय परिणति को योग आत्मा कहते हैं। अभव्य जीव के योग आत्मा अनादि अनंत है अतः शाश्वत भाव है। अपेक्षा दृष्टि से द्रव्य आत्मा शाश्वत है योग आदि सात आत्मा अशाश्वत है। योग आत्मा में द्रव्य आत्मा दर्शन आत्मा, उपयोग आत्मा तथा वीर्य आत्मा

की नियमा है तथा ज्ञान आत्मा, चारित्र आत्मा, कषाय आत्मा की भजना है। शुभ योग आत्मा उज्ज्वलता की दृष्टि से व करणी की दृष्टि से निरवय है। अशुभ योग आत्मा-सावय है।

द्रव्य आत्मा में योग आत्मा की नियमा है, कषाय आत्मा में योग आत्मा की भजना है। उपयोग आत्मा, ज्ञान, दर्शन, वीर्य आत्मा में योग आत्मा की भजना है। चारित्र आत्मा में योग आत्मा की भजना है।

वीर्य के दो भेद है—लब्धिवीर्य और करणवीर्य। करणवीर्य का संबंध योग आत्मा से है। लब्धिवीर्य चौदहवें गुणस्थान तक है।

कर्मणकाय योग स्थूल शरीरधारी (औदारिक, वैक्रिय, आहारिक) के नहीं होता है। आहारिक काययोग व आहारिक मिश्र काययोगी नियमतः भव्य जीवधारी के—प्रमत्त संयत के होते हैं। अवशेष तेरह योग भव्य-अभव्य दोनों के होते हैं।

चूंकि अंतराल गति में केवल कर्मण काय योग होता है लेकिन कृष्णादि छाओं लेश्या में से कोई भी एक लेश्या हो सकती है। व्यक्तिगत रूप से पन्द्रह योगों में से किसी भी योग के साथ लेश्या का अविनाभाव संबंध नहीं है। लेश्या के साथ किसी न किसी प्रकार का काययोग होता है।

अपूर्ण रूप से कर्मों का क्षय होना निर्जरा है और पूर्ण रूप से कर्मों का क्षय होना मोक्ष है।

जेन परिभाषा में आत्मीय विचारों को भावलेश्या और उनके सहायक पुद्गलों को द्रव्यलेश्या कहते हैं। कहा है—

“द्रव्य निमित्तं हि संसारिणां वीर्यपजायते” अर्थात् संसारि जीवों का जितना भी वीर्य पराक्रम है वह सब पुद्गलों की सहायता से होता है।

नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने कहा है—

एकारसजोगाणं पुण्णगहाणं सपुण्ण आलाओ
मिस्सच्चलककस्स पुणो सगएक्क अपुण्ण आलाओ

—गोजी० ७२३

अर्थात् पर्याय अवस्था में होने वाले चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक, वैक्रिय और आहारिक काययोग—इन ग्यारह योगों में अपना-अपना पर्याप्त आलाप होता है। जैसे सत्य मनोयोग के सत्य मन पर्याप्त आलाप होता है। चार मिश्र योगों में अपना-अपना एक अपर्याप्त आलाप होता है। जैसे—औदारिक मिश्र के औदारिक अपर्याप्त आलाप होता है।

भाव से नपुंसक द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्री द्रव्य से पुरुष के प्रपन्न संयत में आहारक-आहारकभिन्न काय योग का आलाप नहीं होता है। पन्द्रह योग वाले जीव हैं और योग रहित जीव है।^१

केवलज्ञान सयोगी, अयोगी और सिद्धों में होता है। मनःपर्यव ज्ञानी व चक्षुदर्शनी अनाहारक नहीं होते हैं अतः कर्मण काय योग भी नहीं होता है।

चूँकि देव अर्धमागधी भाषा बोलते हैं—ऐसा भगवई श० ५ उ ४ में कहा है। इसी सूत्र में कहा है कि केवली प्रकृष्ट मन और वचन को धारण करते हैं। उस प्रकृष्ट मन-मनोवर्गणा के पुद्गलों को कितनेक वैमानिक देव जानते हैं, देखते हैं। चूँकि मनोयोग की प्रवृत्ति में मनोवर्गणा के पुद्गल सहायक होते हैं।

अनुत्तरीपातिक देव (अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए) अपने स्थान पर रहे हुए ही यहाँ रहे हुए केवली के साथ आलाप-संलाप करने में समर्थ है। उन देवों को अनंत मनोवर्गणालब्ध है, प्राप्त है—अभिसमन्वागत है अतः यहाँ रहे हुए केवली महाराज द्वारा कथित अर्थादि को यहाँ रहे हुए ही जानते हैं, देखते हैं। उनके अवधि ज्ञान का विषय संभिन्न लोकनाड़ी है। (लोकनाड़ी से कुछ कम) जो अवधिज्ञान लोकनाड़ी का ग्राहक होता है, वह मनोवर्गणा को जानने वाला होता ही है। चूँकि वह अवधिज्ञान मनोद्रव्य को जानता है, देखता। वे देव मन से केवली को प्रश्न पूछते हैं केवली मन से उसका उत्तर देते हैं।

केवली भगवान के वीर्य प्रधान योग वाला जीव द्रव्य होता है। इससे उनके हाथ आदि अंग चलायमान होते हैं। हाथ आदि अंगों के चलित होने के कारण वर्तमान समय में जिन आकाश प्रदेशों को अवगाहित कर रखा है, उन्हीं आकाश प्रदेशों पर भविष्यत् काल ये केवली भगवान हाथ आदि से अवगाहित नहीं कर सकते हैं। अतः केवली भी अस्थिर योग वाले हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाली शक्ति को 'वीर्य' कहते हैं। वह वीर्य जिन मानस आदि व्यापारों में प्रधान हो—ऐसे जीव द्रव्य को वीर्य-सयोग जडद्रव्य कहते हैं। वीर्य का सद्भाव होने पर भी योगों के व्यापार के बिना चलन नहीं हो सकता है। वीर्यप्रधान मानसादि योग युक्त आत्म द्रव्य को वीर्यसयोग स्वद्रव्य कहते हैं। अथवा वीर्यप्रधान योग वाला और मनादिवर्गणा से युक्त जो हो, उसे वीर्य-सयोग सद्रव्य कहते हैं। कहा है—“वीरिय-सजोग-सद्बवदाए।” वीर्य सयोग सद्रव्यता के कारण केवली भगवान के अंग अस्थिर होते हैं। अतः उन्हीं आकाश प्रदेशों पर वे अपने अंगादि को भविष्यत् काल में नहीं रख सकते हैं अतः कतिपय आचार्यों की मान्यता है कि केवली के उपचार से प्रकृष्ट भाव मन तथा द्रव्य मनोयोग दोनों होते हैं।

कहा जाता है कि भगवान् महावीर उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन के बाद सैंतीसवाँ प्रधान नामक मरुदेवी का अध्ययन कहते-कहते पर्यंकासन में स्थिर हुए, क्रमशः बाह्य वचनयोग का निरोध किया। वाणी के, मन के सूक्ष्म योग को निरोध किया। शुक्लध्यान के सूक्ष्म उपचार से क्रिया-अप्रतिपाती तीसरे चरण को प्राप्त कर सूक्ष्म काययोग का निरोध किया। अनिवृत्ति के चौथे चरण में पहुँचे। अयोगी अवस्था में रहे। सिद्ध के प्रथम समय में चार अघाति-कर्म का क्षय कर परिनिर्वाण प्राप्त किया।

पूर्वधर श्री यशोभद्रसूरि की भविष्य वाणी के अनुरूप जैन धर्म की उदय-उदय पूजा उत्कर्ष के रूप में तेरापंथ का प्रादुर्भाव हुआ।

श्वेताम्बर मतानुसार तीर्थंकरों के प्रथम चार कल्याण (गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवल ज्ञान) एक ही नक्षत्र में होते हैं परन्तु परिनिर्वाण उसी नक्षत्र में हो सकता है, अन्य नक्षत्र में भी हो सकता है। इसके विपरीत दिगम्बर मतानुसार तीर्थंकरों के कल्याण के विषय में अलग मान्यता है। नक्षत्र भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। यथा—भगवान् महावीर के पाँच कल्याण का नक्षत्र इस प्रकार रहा—

- १ गर्भ—उत्तराषाढा नक्षत्र
- २ जन्म—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र
- ३ दीक्षा— „
- ४ केवलज्ञान—मघा नक्षत्र
- ५ परिनिर्वाण—स्वाति नक्षत्र

कहा है—

आहारो पज्जत्ते इदरे खलु होदितस्स मिस्सोदु ।

अतो सुहुत्तकाले छट्ठ गुणट्ठाणे होदि आहारो ॥

—गोजी० ६८३

आहारक काययोग संज्ञीपर्याप्त छट्टे गुणस्थान में जघन्य और उत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्त काल में ही होता है। आहारकमिथ काययोग संज्ञी अपर्याप्त अवस्था में छट्टे गुणस्थान में जघन्य-उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल में ही होता है।

अस्तु आहारक काययोग व आहारकमिथ काययोग चतुर्दशपूर्वधर को होता है। कहा है।

ओरालियमिस्सं वा चउगुणट्ठाणेषु होदिकम्मइयं ।

चदुग्गहिविग्गहकाले जोगिस्स य पदरलोग पुरणो ॥

—गोजी० गा ६८४

अर्थात् औदारिकमिथ काययोग की तरह कर्मण काययोग चार गुणस्थानों में होता

है। अतः वह चार गति सस्वन्धी विग्रहगति के काल में और सयोगी केवली के प्रतर और लोकप्रण समुदघात के काल में होता है।

गोम्मटसार में कहा है—सयोगी केवली के भी उपचार वश मनोयोग कहा गया है। अर्थात् उपचार से मनोयोग का अस्तित्व माना गया है।

योगमार्गणा में कर्मण काययोगियों का जितना प्रमाण कहा है उतना ही अनाहारको का प्रमाण है। चूँकि कर्मण काययोग का काल जघन्य एक समय, उत्कृष्ट तीन समय का है। औदारिकमिश्र काययोग का काल अंतर्मुहूर्त है। औदारिककाय योग का काल उससे संख्यात गुणा है।^१ नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मटसार में कहा है—

“मङ्गिम चउमणवयणे सण्णप्पहुडिंसु जाव खीणोत्ति ।

सीसाणं जोगित्ति य अणुभयवयणं तु वियलादो ॥६७२॥

अर्थात् मध्यम अर्थात् असत्य और उभय मनोयोग और वचनयोग इन चार में संज्ञी मिथ्यादृष्टि से क्षीणकषाय पर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं। तथा सत्य और अनुभय मनोयोग और सत्यवचन योग में संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि से सयोगी केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। अनुभय वचन योग में विकलत्रय मिथ्यादृष्टि से तेरह गुणस्थान होते हैं।

कम्मइयकायजोगी होदि अणाहारयाण परिमाणं । गोजी० गा ६७१

औदारिक काययोग एकेन्द्रिय स्थावरकाय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि से सयोगी केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानों में होता है। औदारिक मिश्रकाय योग अपर्याप्त अवस्था में चार गुण स्थानों में होता है (पहला, चौथा, दूजा व तेरहवाँ)^२

औदारिक और औदारिक मिश्र योग मनुष्य तथा तिर्यंच गति में होते हैं। गोम्मट-सार में औदारिक काय योग में सात जीव के भेद पर्याप्त माने हैं। तथा औदारिकमिश्र काय योग में सात भेद अपर्याप्त, और सयोगी केवली के एक जीव समास होता है। इस तरह आठ जीव के भेद होते हैं।^३

कहा है—

वेगुव्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्संसु ।

सुरणिरय चउट्ठाणे मिस्से णहि मिस्स जोगोय ॥

— गोजी० ६८२

१ गोजी० गा० ६७१

२ गोजी० या ६७६

३ गोजी० या ६६१

वैक्रियिक काययोग पर्याप्त देवनारकियों के मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानों में होता है। वैक्रियिक मिश्र काययोग मिश्र गुणस्थानमें तो नहीं होता। अतः देव व नारकियों के मिथ्यादृष्टि, सास्वादान और असंयत गुणस्थानों में ही होता है। जीव समास उनमें से वैक्रियिक में संज्ञी पर्याप्त और वैक्रियिक मिश्र में संज्ञी अपर्याप्त होता है।

श्वेताम्बर मान्यतानुसार उत्तर वैक्रिय मनुष्य और तिर्य'चों में भी होता है। अतः उपर्युक्त दोनों योग चारों गति में होते हैं।

अस्तु लेश्याकोश, क्रियाकोश आदि की तरह योगकोश को हमने दशमलव वर्गीकरण से विभाजित किया है। हमने योग कोश को दो खण्डों में विभाजित किया है। जिसका प्रथम खण्ड आपके सामने है।

उन विद्वानों को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने लेश्याकोश, क्रियाकोश, मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास, वर्धमान जीवन कोश के तीनों खण्डों पर अपनी-अपनी सम्मतियाँ भेजकर हमारा उत्साह वर्धन किया है।

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी तथा युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ की महान दृष्टि हमारे पर रही है जिसे हम भूल नहीं सकते। आचार्य तुलसी ने प्रस्तुत कोश पर आशीर्वाद लिखा—हम उनके प्रति कृतज्ञ है।

हम जैन दर्शन समिति के सभापति—श्री अभयसिंह सुराना, मंत्री—श्री पदमचंद नाहटा, श्री जवरमल भंडारी, स्व० मोहनलाल बांठिया, श्री सुमेरमल सुराना, श्री मांगीलाल लूणिया, श्री इन्द्रमल भंडारी, कमलकुमार जैन आदि-आदि सभी बन्धुओं को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने हमारे विषय कोश निर्माण कल्पना में हमें किसी न किसी रूप से सहयोग दिया है।

कलकत्ता युनिवर्सिटी के भाषा विज्ञान के प्राध्यापक डॉ० सत्यरंजन बनर्जी को हम सदैव याद रखेंगे जिन्होंने हमारे अनुरोध पर योग कोश पर भूमिका लिखी।

जैन दर्शन समिति

१६/सी, डोवर लेन, कलकत्ता-७०००२६

१०-१२-१९६३

—श्रीचन्द्र खोरड़िया, न्यायतीर्थ (द्वय)

आशीर्वचन

विक्रम संवत् २०१२ में आगम संपादन का कार्य शुरू हुआ। संपादन के लिए जो कल्पना की गई, उसका एक अंग था, आगमों का विषयीकरण। प्रारम्भ में आगमों के अनुवाद, टिप्पण आदि का कार्य शुरू किया। विषयीकरण का कार्य भविष्य के लिए स्थगित कर रखा था। मोहनलालजी बाँठिया ने विषयीकरण का कार्य अपने हाथ में लिया। पूरी योजना बनाई। कार्य शुरू किया। उनके कार्य को हमने देखा और आगम सम्पादन के पूरक कार्य के रूप में उसे स्वीकार किया।

मोहनलाल जी विद्वान, अध्ययनशील और कर्मनिष्ठ भावक थे। उन्हें श्रीचंद्र चोरड़िया का योग मिला। इस योग ने उनके कार्य को गतिशील बना दिया। योजना बहुत विशाल है, गति मंथर है। कितने दशक और लगेंगे, कहा नहीं जा सकता फिर भी जैन दर्शन समिति में इस कार्य के लिए उत्साह है, यह प्रसन्नता की बात है।

प्रस्तुत पुस्तक योग कोश है। इसके अवलोकन से एक धारणा बनसी है—इसमें संग्रह अधिक है, उसके तात्पर्य का अर्थ बोध स्वल्प है। कुछ विषयों पर पुनर्विचार करना भी आवश्यक लगता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक अनुसंधित्सु के लिए कोश का उपयोग है। यह उपयोगिता ही इस कार्य की समृद्धि के लिए पर्याप्त प्रमाण है।

—आचार्य तुलसी

१ जनवरी, ६४

जैन विश्वभारती

लाडनूँ, (राजस्थान)

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
—संकलन-सम्पादन में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची	4
—जैन वाङ्मय का दशमलव वर्गीकरण	6
—जीव परिणाम का वर्गीकरण	9
दो शब्द	10
प्रकाशकीय	13
भूमिका (Forword)	15
प्रस्तावना	17
आशीर्वाचन	74
.०० शब्द विवेचन	१
.०१ शब्द व्युत्पत्ति	१
.०१ प्राकृत में 'जोग' शब्द की व्युत्पत्ति	१
.०२ पाली में 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति	१
.०३ संस्कृत में 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति	२
.०२ विभिन्न भाषाओं में 'जोग' शब्द के विभिन्न अर्थ	२
.०१ प्राकृत भाषा में 'जोग' शब्द के अर्थ	२
.०२ पाली भाषा में 'योग' शब्द के अर्थ	३
.०३ संस्कृत भाषा में 'योग' शब्द के अर्थ	३
.०३ योग शब्द के पर्यायवाची शब्द	३
.०४ सविशेषण-ससमास-सप्रत्यय 'जोग' शब्द की परिभाषा	६
.०५ परिभाषा के उपयोगी पाठ	६७
.०१ वीर्यान्तराय कर्म का क्षय-क्षयोपशम	६७
.०२ लेश्यासहित वीर्य-पराक्रम योग है	६७
.०३ योग परिणाम-जीव परिणाम का भेद	६७
.०४ द्रव्य योग पुद्गल है	६८
.०५ योग मूल प्रत्यय है	६८
.०६ पायाश्रव का कारण	६८
.०७ योग कर्म का निमित्त है	६८
.०८ योग अजीव द्रव्य परिणाम है	६९
.०९ योग क्षीरास्त्रव आदि लब्धकलाप है	६९
.१० योग आस्त्रव द्वार है	६९

.११ योग मार्गणा का एक भेद है	६६
.१२ योग सत्य पर्याप्ति का एक भेद है	६६
.१३ योग द्वार का एक भेद है	७०
.१४ योग बंध का कारण	७०
.०२ मनोयोग की परिभाषा	७०
.०१ सत्य मनोयोग की परिभाषा	७१
.०२ असत्य मनोयोग की परिभाषा	७२
.०३ सत्यमृषा मनोयोग की परिभाषा	७३
.०४ असत्यामृषा मनोयोग की परिभाषा	७३
.०५ वचनयोग की परिभाषा	७४
.०६ सत्यवचन योग की परिभाषा	७५
.०७ असत्य वचन योग की परिभाषा	७५
.०८ सत्यमृषा वचन योग की परिभाषा	७५
.०९ असत्यामृषा वचनयोग की परिभाषा	७५
.१० सत्यवचन योग की परिभाषा	७६
.११ मृषावचन योग की परिभाषा	७६
.१२ सत्यमृषा वचन योग की परिभाषा	७६
.१३ असत्यामृषावचन योग की परिभाषा	७६
.१४ काययोग के लक्षण (परिभाषा)	७७
.१५ औदारिक मिश्र काययोग की परिभाषा	७७
.१६	७८
.१७ वैक्रिय काययोग की परिभाषा	८०
.१८ औदारिक काययोग की परिभाषा	८१
.१९ वैक्रियमिश्र काययोग की परिभाषा	८२
.२० आहारक काय योग की परिभाषा	८३
.२१ आहारकमिश्र काययोग की परिभाषा	८३
.२२ कामैर्ण काययोग की परिभाषा	८४
.२३ सत्य मनोयोग का लक्षण	८६
.२४ असत्य मनोयोग के लक्षण	८६
.२५ सत्यमृषा मनोयोग के लक्षण	८७
.२६ असत्यमृषा मनोयोग के लक्षण	८७
.२७ सत्य वचनयोग का लक्षण	८७
.२८ मृषा वचनयोग का लक्षण	८७
.२९ सत्यमृषा वचनयोग के लक्षण	८७
.३० असत्यामृषा वचनयोग का लक्षण	८७
.३१ औदारिक काययोग का लक्षण	८८

.३२ औदारिकमिश्र काययोग का लक्षण	८८
.३३ वैक्रिय काययोग का लक्षण	८८
.३४ वैक्रियमिश्र काययोग का लक्षण	८८
.३५ आहारक काययोग का लक्षण	८८
आहारकमिश्र काययोग का लक्षण	८९
.३६ कामाण काययोग का लक्षण	८९
*०५ परिभाषा के उपयोगी पाठ (आगम सम्मत)	८९
*०५.१ द्रव्ययोग की परिभाषा के उपयोगी पाठ (वर्ण-गंध-रस-स्पर्श)	८९
*०२ पुद्गल भी वर्ण-गंध-रस-स्पर्शी है अतः द्रव्ययोग पुद्गल है	८९
*०३ द्रव्ययोग पुद्गल है अतः पुद्गल के गुण भी द्रव्ययोग में है	८९
*०४ योग और गुरु-लघु	९०
*०५ द्रव्ययोग गुरु-लघु-अगुरु-लघु है	९०
*०६ द्रव्ययोग अजीवोदय निष्पन्न भाव है क्योंकि जीव द्वारा ग्रहण होने के बाद द्रव्य योग प्रायोगिक परिणमन होता है	९०
*०७ द्रव्ययोग जीव ग्राह्य है	९१
*०८ द्रव्ययोग चतुस्पर्शी भी है, अष्टस्पर्शी भी है	९१
*०९ द्रव्ययोग अनंतस्पर्शी है	९१
*१० द्रव्ययोग असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र अवगाह करता है	९१
*११ द्रव्ययोग की अनंत वर्गणा होती है ।	९१
*१२ द्रव्ययोग के असंख्यात स्थान है	९१
*५२ भावयोग की परिभाषा के उपयोगी पाठ	९१
*१ भावयोग जीव परिणाम है	९१
*२ भावयोग अवर्णी-अगंधी-अरधी अस्पर्शी है	९१
*३ भावयोग अवर्णी-अगंधी-अरधी अस्पर्शी है तथा जीव परिणाम है अतः जीव है	९१
*४ भावयोग अगुलघु है	९२
*५ भावयोग उदय निष्पन्न भाव है	९२
*६ विभिन्न आचार्यों द्वारा की गई परिभाषा	९२
*७ योग के भेद	१०४
*१ दो भेद	१०४
द्रव्य और भाव	१०५
प्रशस्त-अप्रशस्त	१०५
शुभ-अशुभ	१०५
*०२ योग परिणाम के भेद	१०५
*०३ योग के तीन भेद	१०५

जीव और प्रयोग	१०६
•०३ प्रयोग के चार भेद	१०६
•०४ योग के पन्द्रह भेद	१०६
•०५ प्रयोग के पन्द्रह भेद	१०७
•०६ एकांतानुवृद्धि योग का स्वामित्व	१०७
•०७ उपपाद योग का स्वामित्व	१०७
•०८ परिणाम योग का स्वामित्व	१०७
•०९ वचन योग के भेद	१०८
•१० मनयोग के भेद	१०८
•११ सत्य (वचनयोग) के भेद	१०८
•१२ मृषा वचनयोग के भेद	१०८
•१३ सत्यमृषा वचनयोग के भेद	१०९
•१४ काययोग के भेद	१०९
•०८ योग पर विवेचन	१०९
•१० लेश्या और कर्म	१२२
•११ सलेशी और सयोगी	१२२
•१२ योग आश्रव और लेश्या	१२३
•१३ योग और प्रमाद आश्रव	१२३
•१४ योग और लेश्या	१२३
•१५ योग और निर्जरा	१२३
•१७ अयोग संवर और भाव	१२४
•१८ योग और आत्मा	१२४
•१९ योग और धर्म-अधर्म	१२४
•२० योग आत्मा एक नहीं —अनेक है	१२४
•२१ योग आत्मा और सावद्य-निरवद्य	१२४
•२२ योग और भाव आत्मा	१२५
•२३ योग आत्मा द्रव्य जीव नहीं है—भाव जीव है	१२५
•२४ योग आत्मा और कर्म बंधन का टूटना	१२५
•२५ योग और करनी	१२५
•२६ अशुभ योग और मुनि	१२५
•२७ योग आत्मा और सर्व उत्तर गुण	१२५
•२७ योग आत्मा और देश उत्तर गुण	१२५
•२८ योग आत्मा और निर्जरा	१२६
•२९ योग आत्मा और कर्म	१२६
•३० योग और प्रमाद आश्रव	१२६
•३१ योग आत्मा और भाव	१२७

.३२ योग आत्मा (अशुभ योग निन्दनीय भी है ।)	१२७
.३३ योग आत्मा और सप्रदेशी-अप्रदेशी	१२७
.३४ योग आत्मा और उपयोग	१२७
.३५ योग आत्मा और कार्य रूप-व्यापार	१२७
.३६ योग आत्मा और नियमा-भजना	१२७
.३७ योग आत्मा और आहार	१२८
.३८ योग और स्नातक निर्ग्रन्थ	१२८
.३९ योग और गुणस्थान	१२८
.४० योग और आस्रव	१२९
.४१ मिथ्यादृष्टि में कितने योग	१२९
.०६ योग का नय और निक्षेप की अपेक्षा विवेचन	१२९
.१ नय की अपेक्षा योग का विवेचन	१२९
.१ वचन योग और मनोयोग पर नय की अपेक्षा विवेचन	१३०
.२ योग का निक्षेप की अपेक्षा विवेचन	१३०
.२ द्रव्य योग और भाव योग	१३२
.३ मनोयोग का मूल कारण	१३४
.४ वचनयोग का मूल कारण	१३४
.५ वैक्रियकाय योग की संभावना	१३४
.५ सयोगी केवली के मनोयोग की संभावना	१३४
.६ योग स्थान	१३५
.७ द्रव्ययोग और स्थान	१३७
.८ भाव योग और स्थान	१४०
.०६.६ योग स्थान प्ररूपणा के कारण	१४०
०१ द्रव्य योग (प्रायोगिक) अजीव है, रूपी है	१४१
.११ द्रव्ययोग और प्रदेशावगाह-क्षेत्रावगाह	१४१
.१२ द्रव्ययोग की स्थिति	१४२
.१३ द्रव्ययोग और भाव	१४२
.१४ योगस्थान के दस अनुयोग द्वार	१४२
.१५ औघिक सयोगी जीवों में अल्पबहुत्व	१४३
.१६ योग और द्रव्य परिणाम (एक द्रव्य की अपेक्षा)	१४३
.१ मनोयोगी और वचनयोगी तथा एक द्रव्य परिणाम	१४३
.२ काययोगी और एक द्रव्य परिणाम	१४५
.३ औदारिक काययोगी और एक द्रव्य परिणाम	१४६
.४ औदारिकमिश्र काययोगी और एक द्रव्य परिणाम	१४८
.५ वैक्रिय-काय-योगी और एक द्रव्य परिणाम	१४८

.६ वैक्रियमिभ्र काययोगी और एक द्रव्य परिणाम	१४६
.७ आहारक काययोगी और एक द्रव्य परिणाम	१५०
.८ आहारकमिभ्र काययोगी	१५०
.९ कर्मण काययोगी	१५१
.१० मनोयोगी और वचनयोगी और दो द्रव्य परिणाम	१५२
.११ सयोगी जीव और तीन द्रव्य परिणाम	१५३
.१२ सयोगी जीव और चार द्रव्य परिणाम	१५४
.१३ द्रव्ययोग को जीवग्रहण करता है	१५४
.१४ सयोगी और द्रव्य-ग्रहण	१५५
.१५ योगवर्गणा और लेश्या	१५६
.०२ भाव योग (प्रायोगिक) अरूपी है जीव है	१५६
.२१ भाव योग जीव परिणाम है	१५६
.२२ भाव योग की स्थिति	१५६
.२३ भाव योग और भाव	१५६
.२४ भाव योग और उपयोग	१५७
.२५ भाव योग की चंचलता-अस्थिर योग	१५७
.२६ भाव योग और वर्गणा	१५८
.२७ योग और भाषा	१५९
.२८ योग और परमपुण्य का उपार्जन	१६०
.२९ प्रदेशबंध और योगस्थान	१६०
.३० प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाला जीव और योग	१६१
.३१ भाव योग-प्रकृति और प्रदेश बंध का हेतु	१६१
.३२ भावयोग और निर्जरा	१६२
.३३ भावयोग की परिभाषा	”
.३४ भावयोग के भेद	”
.३५ योग और संवर	”
.३६ भावयोग परिणाम के भेद	१६३
.३७ विभिन्न जीवों में योग परिणाम	१६३
*१ नारकियों में	१६३
*२ भवनपति देव में	१६३
*३ वाणव्यंतर देव में	१६३
*४ ज्योतिषी देव में	१६३
*५ वैमानिक देव में	१६३
*६ तिर्य'च में	१६४
पृथ्वी काय में	१६४
अपकाय में	१६४
तेलकाय में	१६४

०४ वायुकाय में	१६४
०५ वनस्पतिकाय में	१६४
०६ द्वीन्द्रिय में	१६४
०७ त्रीन्द्रिय में	१६४
०८ चतुरिन्द्रिय में	१६४
०९ तिर्य'च पंचेन्द्रिय में	१६५
१० मनुष्य में	१६५
५ योग और जीव	१६५
५११ योग की अपेक्षा जीव के भेद	१६५
१ जीवों के दो भेद	१६५
२ जीवों के तीन भेद	१६६
३ जीव के चार भेद	१६६
५२ योग की अपेक्षा जीव की वर्गणा	१६६
५३ विभिन्न जीवों में योग	१६६
०१ औघिक जीव में	१६६।१६८
०११ औघिक अपर्याप्त जीवों में	१६८
०१२ औघिक पर्याप्त जीवों में	१६८
०२ औघिक नारकी में	१७०
०२१ औघिक नारकी अपर्याप्त जीवों में	१७१
०२२ औघिक नारकी पर्याप्त जीवों में	१७२
०३ प्रथम पृथ्वी के नारकी में	१७२
०३१ प्रथम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकी में	१७२
०३२ प्रथम पृथ्वी के पर्याप्त नारकी में	१७२
०४ द्वितीय पृथ्वी के नारकी में	१७३
०४१ द्वितीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकी में	१७३
०४२ द्वितीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकी में	१७४
०५ तृतीय औघिक नारकी में	१७४
०५१ तृतीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकी में	१७५
०५२ तृतीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकी में	१७५
०६ चतुर्थ पृथ्वी औघिक नारकियों में	१७५
०६०१ चतुर्थ पृथ्वी अपर्याप्त नारकियों में	१७५
०६०२ चतुर्थ पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में	१७६
०७ पंचम पृथ्वी के औघिक नारकियों में	१७६
१ पंचम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में	१७६
२ पंचम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में	१७६

*०८ षष्ठम पृथ्वी के औघिक नारकियों में	१७६
'१ षष्ठम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में	१७७
'२ षष्ठम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में	१७७
*०९ सप्तम पृथ्वी के औघिक नारकियों में	१७७
'१ सप्तम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में	१७८
'२ सप्तम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में	१७८
*०१० औघिक तिर्य'चों में	१७८
'१ अपर्याप्त तिर्य'चों में	१७९
'२ पर्याप्त तिर्य'चों में	१७८
*०११ औघिक एकेन्द्रियों में	१७९
'१ अपर्याप्त एकेन्द्रियों में	१८०
'२ पर्याप्त एकेन्द्रियों में	१८०
*११'३ सूक्ष्म एकेन्द्रियों में	१८०
'१ अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में	१८०
'२ पर्याप्त ',	१८०
'३ लब्धि अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में	१८०
'४ निवृ'त्ति पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में	१८०
*११'०४ बादर एकेन्द्रियों में	१८१
'१ बादर अपर्याप्त एकेन्द्रियों में	१८१
'२ पर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में	१८१
'३ लब्धि अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में	१८१
'४ निवृ'त्ति पर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में	१८१
*१२ पृथ्वीकाय में	१८२
'१ अपर्याप्त पृथ्वीकाय में	१८२
'२ पर्याप्त पृथ्वीकाय में	१८२
'३ सूक्ष्म पृथ्वीकाय में	१८२
*१२'३'१ अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में	१८२
'२ पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वी काय में	१८२
'३ लब्धि अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में	१८२
'४ निवृ'त्ति पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में	१८३
*१२'३'२ पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में	१८३
*१२'४ बादर पृथ्वीकाय में	१८३
'१ अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में	१८३
'२ पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में	१८३

'३ लब्धि अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में	१८३
'४ निवृत्ति पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में	१८३
'१३ अपकाय में	१८४
'१ अपर्याप्त अपकाय में	१८४
'२ पर्याप्त अपकाय में	१८४
'३ सूक्ष्म अपकाय में	१८४
'४ अपर्याप्त सूक्ष्म अपकाय में	१८४
'१३'३'०२ पर्याप्त सूक्ष्म अपकाय में	१८५
'३ लब्धि अपर्याप्त सूक्ष्म अपकाय में	१८५
'४ निवृत्ति पर्याप्त सूक्ष्म अपकाय में	१८५
'१३'४ बादर अपकाय में	१८५
'१ अपर्याप्त बादर अपकाय में	१८५
'२ पर्याप्त बादर अपकाय में	१८५
'३ लब्धि-अपर्याप्त बादर वायुकाय में	१८६
'४ निवृत्ति पर्याप्त बादर अपकाय में	१८६
'१४ तैलकाय में	१८६
'१ अपर्याप्त तैलकाय में	१८६
'२ पर्याप्त तैलकाय में	१८६
'१४'०३ सूक्ष्म तैलकाय में	१८७
'१ अपर्याप्त सूक्ष्म तैलकाय में	१८७
'२ पर्याप्त सूक्ष्म तैलकाय में	१८७
'३ लब्धि अपर्याप्त सूक्ष्म तैलकाय में	१८७
'४ निवृत्ति पर्याप्त सूक्ष्म तैलकाय में	१८७
'१४'४ बादर तैलकाय में	१८७
'१ अपर्याप्त बादर तैलकाय में	१८८
'२ पर्याप्त "	१८८
'३ लब्धि अपर्याप्त "	१८८
'४ निवृत्ति बादर पर्याप्त "	१८८
'१५ वायुकाय में	१८९
'१ अपर्याप्त वायुकाय में	१८९
'२ पर्याप्त वायुकाय में	१८९
'३ सूक्ष्म वायुकाय में	१८९
'१५'३'१ अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में	१८९
'२ पर्याप्त "	१८९
'३ लब्धि अपर्याप्त "	१८९

*४ निवृत्ति पर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में	१६०
*१५ बादर वायुकाय में	१६०
१ अपर्याप्त बादर वायुकाय में	१६०
२ पर्याप्त ,,	१६०
३ लब्धि अपर्याप्त ,,	१६०
४ निवृत्ति पर्याप्त ,,	१६०
*१६ वनस्पतिकाय में	१६१
१ अपर्याप्त वनस्पतिकाय में	१६१
२ पर्याप्त वनस्पतिकाय में	१६१
३ प्रत्येक शरीर-वनस्पतिकाय में	१६१
*१६.३.१ अपर्याप्त ,,	१६१
२ पर्याप्त ,,	१६१
३ लब्धि अपर्याप्त प्रत्येक शरीर-वनस्पति काय में	१६२
४ निवृत्ति पर्याप्त प्रत्येक शरीर-वनस्पति काय में	१६२
*१६.४ साधारण वनस्पतिकाय में	१६२
१ अपर्याप्त साधारण वनस्पतिकाय में	१६२
२ पर्याप्त साधारण वनस्पतिकाय में	१६२
३ सूक्ष्म साधारण शरीर-वनस्पतिकाय में	१६२
*१६.४.३.१ अपर्याप्त ,,	१६३
२ पर्याप्त ,,	१६३
*१६ उत्पल आदि दस प्रत्येक वनस्पतिकाय में	१६३
शाली-बीहि आदि वनस्पतिकाय में	१६४
*१७ द्वीन्द्रिय में	१६५
*१८ त्रीन्द्रिय में	१६५
*१९ चक्षुरिन्द्रिय में	१६५
*२० अस्पर्शी तिर्य'च पंचेन्द्रिय में	१६५
*२१ तिर्य'च पंचेन्द्रिय में	१६६
*२२.१ तिर्य'च पंचेन्द्रिय स्त्री-जीव में	१६६
*२३ मनुष्य में पन्द्रह प्रकार के प्रयोग	१६७
१ मनुष्य में	१६७
२ मनुष्यणी में	१६८
३ लब्धि अपर्याप्त मनुष्य में	१६८
*२४ देव में	१६८
१ देवी में	१६८
*२५ भवनपति देव में	२००

.२६ वाणव्यंतर देव में	२००
.२७ ज्योतिषी देव में	२००
.२५.१ भवनपति देवी में	२००
.२६.१ वाणव्यंतर देवी में	२००
.२७.१ ज्योतिषी देवी में	२००
.२८ वैमानिक देव में	२००
.१ वैमानिक देवी में	२००
.२ वैमानिक देव के विभिन्न भेदों में	२०१
.२८.२.१ सौधर्म-ईशानदेव में	२०१
.२८.१.२ सनत्कुमार-माहेन्द्रदेव में	२०१
.३ ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर देव में	२०१
.४ लांतव कापिष्ठ देवों में	२०१
.५ शुक्र-महाशुक्र देवों में	२०२
.६ शतार सहस्रार कल्पवासी देवों में	२०२
.७ आनत-प्राणत-आरण-अच्युत कल्पवासी देवों में	२०२
.८ नौ ग्रैभेयक कल्पातीत देवों में	२०२
.९ नौ अनुदिश विमानवासी देवों में	२०२
.१० चार अनुत्तर विमानवासी देवों में	२०३
.११ सर्वाथ सिद्धि देवों में	२०३
.२९ संज्ञी जीव में	२०३
.३० असंज्ञी जीव में	२०४
.३१ सकायिक जीव में	२०४
.३२ त्रसकायिक जीव में	२०४
.३३ सहन्द्रिय जीव में	२०५
.३४ अनिन्द्रिय जीव में	२०५
.३५ सयोगी में	२०५
.३६ मनयोगी में	२०५
.३७ सत्य मनयोगी में	२०६
.३८ मृषा मनयोगी जीव में	२०६
.३९ सत्यमृषा-मनयोगी जीव में	२०६
.४० असत्यमृषा मनयोगी जीव में	२०६
.४१ वचनयोगी जीव में	२०६
.४२ सत्य वचनयोगी जीवों में	२०७
.४३ मृषा ,,	२०७
.४४ सत्यमृषा ,,	२०७

.४५ असत्यमृषा वचनयोगी जीव में	२०७
.४६ काययोगी में	२०८
.४७ औदारिक काय योगी में	२०९
.४८ औदारिक मिश्र काययोगी में	२१०
.४९ वैक्रिय काययोगी में	२१०
.५० वैक्रिय मिश्र काययोगी में	२११
.५१ आहारक काययोगी में	२११
.५२ आहारक मिश्र काययोगी में	२११
.५३ कर्मण काययोगी में	२११
.५४ अयोगी में	२१२
.५५ सयोगी में	२१२
.५६ स्त्री वेदी में	२१२
.५७ पुरुष वेदी में	२१३
.५८ नपुंसक वेदी में	२१३
.५९ अपगतवेदी में	२१४
.६० सकषायी में	२१४
.६१ क्रोध कषायी में	२१५
.६२ मान कषायी में	२१५
.६३ माया कषायी में	२१६
.६४ लोभ कषायी में	२१६
.६५ अकषायी में	२१६
.६६ मति अज्ञानी में	२१६
.६७ श्रुत अज्ञानी में	२१६
.६८ विभंग अज्ञानी में	२१७
.६९ मति ज्ञानी में	२१७
.७० श्रुत ज्ञानी में	२१७
.७१ अवधि ज्ञानी में	२१७
.७२ मनःपर्यव ज्ञानी में	२१८
.७३ केवल ज्ञानी में	२१८
.७४ चक्षुदर्शनी में	२१८
.७५ अचक्षु दर्शनी में	२१८
.७६ अवधि दर्शनी में	२१९
.७७ केवल दर्शनी में	२१९
.७८ सलेशी में	२२०
.७९ कृष्ण लेशी में	२२०
.८० नील लेशी में	२२०

'८१ कापोत लेशी में	२२१
'८२ तेजो लेशी में	२२१
'८३ पद्म लेशी में	२२२
'८४ शुक्ल लेशी में	२२३
'८५ अलेशी में	२२४
'८६ भवसिद्धिक में	२२४
'८७ अभव्यसिद्धिक में	२२४
'८८ आहारक में	२२४
'८९ अनाहारक में	२२५
'९० सम्यग्दृष्टि में	२२६
'९१ असंयत में	२२८
'९२ संयत में	२२८
'९३ निर्ग्रन्थ में	२३०
'९४ अश्रुत्वा केवली में	२३१
'९५ श्रुत्वा केवली के होने वाले जीव के अवधि ज्ञान प्राप्ति करने की अवस्था में	२३१
'९६ किसी एक योनि से स्व/पर योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में कितने योग	२३२
'९७ महायुग्म जीवों में योग	२५७
'९८ लेशी महायुग्म में योग	२५६
'९९ भवसिद्धिक महायुग्म में योग	२६०
'१०० अभवसिद्धिक महायुग्म में योग	२६१
'१०१ महायुग्म द्वीन्द्रिय में योग	२६१
'१०२ महायुग्म तेइन्द्रिय में योग	२६२
'१०३ महायुग्म में चतुरिन्द्रिय में योग	२६२
'१०४ महायुग्म असंशी तिर्य'च पंचेन्द्रिय में योग	२६२
'१०५ महायुग्म संशी पंचेन्द्रिय में योग	२६२
'१०६ सयोगी और गुणस्थान की अपेक्षा योग	२६७
'१०७ एकेन्द्रिय में योग	२६७
'१०८ जीव समूहों में योग	२६८
'१ योग और जीव	२६८
मनोयोग किसके होता है	२६८
'२ असत्य मनोयोग-उभय मनोयोग किसके होता है	२७०
'३ वचनयोग किसके होता है	२७१
'४ मृषावचनयोग-सत्य मृषा वचनयोग किसके होता है	२७२
'५ आहारक-आहारकमिथ काययोग किसके होता है	२७३

६ वैक्रिय वैक्रियमिश्र काययोग किसके होता है	२७४
७ औदारिक काययोग किसके होता है	२७५
८ कर्मण काययोग किसके होता है	२७६
९ से १८ विविध योग जीव में	२८०
१९ एकयोगी	२८६
५४ विविन्न जीव और योग स्थिति	२८६
१ से ३ सयोगी जीव की सयोगीत्व की अपेक्षा स्थिति	२८६
४ सयोगी जीव अणाहारिक केवली	२९१
५ लेश्या और योग का तादात्म्य	२९१
६ सयोगी जीव और संवर की स्थिति	२९२
७ प्रथमानुगम की अपेक्षाकृति	२९२
८ संजयानुगम में क्षेत्रानुगम की अपेक्षा योगी जीवों की क्षेत्र-स्थिति	२९३
९ स्पर्शानुगम में संचित योगी जीवों का स्पृष्ट क्षेत्र	२९३
१० अयोगी जीव अनाहारक होते हैं	२९४
११ सिद्ध-योग व लेश्या रहित होते हैं	२९४
१२ विशेष जीवों में	२९४
१२.१ मकई आदि वनस्पतिकाय में	२९४
२ अलसी आदि वनस्पतिकाय में	२९५
३ बांस आदि वनस्पतिकाय में	२९५
४ इक्षु आदि वनस्पतिकाय में	२९५
५ सेडिय आदि तृष्ण विशेष वनस्पतिकाय में	२९५
६ अभ्ररूह आदि वनस्पतिकाय में	२९६
७ तुलसी आदि वनस्पतिकाय में	२९६
८ ताल-तमाल आदि वनस्पतिकाय में	२९६
९ लीमड़ा, आम्र आदि वनस्पतिकाय में	२९७
१० अगस्तिक आदि वनस्पतिकाय में	२९७
११ बेंगन आदि वनस्पतिकाय में	२९७
१२ सिरियक आदि वनस्पतिकाय में	२९८
१३ पुसफलिका आदि वनस्पतिकाय में	२९८
१४ आलुक आदि साधारण वनस्पतिकाय में	२९८
१५ लोही आदि वनस्पतिकाय में	२९९
१६ आय आदि वनस्पतिकाय में	२९९
१७ पाठा आदि वनस्पतिकाय में	२९९
१८ मासवर्णी आदि वनस्पतिकाय में	२९९
१९ पृथ्वीकाय में	३००

.२० अप्काय में	३००
.२१ वनस्पतिकाय में	३०१
.२२ तेउकाय में	३०१
.२३ वायुकाय में	३०१
.२४ द्वीन्द्रिय में	३०१
.२५ त्रीन्द्रिय में	३०१
.२६ चतुरिन्द्रिय में	३०२
.२७ नारकी में	३०२
.२८ संमुच्छिन्न तिर्य'च पंचेन्द्रिय में	३०२
.१ जलचर संमुच्छिन्न तिर्य'च पंचेन्द्रिय में	३०२
.२ स्थलचर संमुच्छिन्न तिर्य'च पंचेन्द्रिय में	३०२
.३ खेचर संमुच्छिन्न तिर्य'च पंचेन्द्रिय में	३०३
.२९ गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में	३०३
.१ जलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में	३०३
.२ स्थलचर	,,
.३ खेचर	,,
.३० मनुष्य में	३०४
.१ संमुच्छिन्न मनुष्य में	३०४
.२ गर्भज मनुष्य में	३०४
.३१ औघिक देव में	३०४
.३२ गुणस्थान के अनुसार जीव में	३०४
.३३ चौदह जीव-भेद के अनुसार जीव में	३०५
.५५ जीव और योग समपद	३०६
.५६ सयोगी जीव और अन्तर काल	३०७
.५७ जीव समूहों में कितने योग	३०८
.१ पृथ्वीकायिक जीव समूहों में योग	३०८
.२ अप्कायिक जीव समूहों में योग	३०८
.३ अग्निकायिक जीव समूहों में योग	३०८
.४ वायुकायिक जीव समूहों में योग	३०८
.५ वनस्पतिकायिक जीव समूहों में योग	३०८
.६ द्वीन्द्रिय जीव समूहों में योग	३१०
.७ त्रीन्द्रिय जीव समूहों में योग	३१०
.८ चतुरिन्द्रिय जीव समूहों में योग	३१०
.९ पंचेन्द्रिय जीव समूहों में योग	३१०

*६ से '८ सयोगी जीव	३१०
*६१ सयोगी जीव और समपद	३१०
*६२ सयोगी जीव और प्रथम-अप्रथम	३११
*६२.२ अयोगी जीव और प्रथम-अप्रथम	३११
*६३ सयोगी जीव और चरम-अचरम	३११
*६४ सयोगी जीव की सयोगीत्व की अपेक्षा स्थिति	३१२
*६५ सयोगी जीव का, सयोगी की अपेक्षा अन्तरकाल	३१२
*१ मनोयोगी और वचन योगी का एक जीव की अपेक्षा अन्तरकाल	३१२
*२ काययोगी का एक जीव की अपेक्षा अन्तरकाल	३१४
*३/४ औदारिक काययोगी तथा औदारिक मिश्रकाययोगी का एक जीव की अपेक्षा अन्तरकाल	३१४
*५ वैक्रिय काय योगी की एक जीव की अपेक्षा अन्तरकाल	३१५
*६ वैक्रिय मिश्रकाय योगी का एक जीव की अपेक्षा अन्तरकाल	३१६
*७/८ आहारक काययोगी तथा आहार-मिश्र-काययोगी का एक जीव भी अपेक्षा अन्तरकाल	३१८
*९ कामणकाय योगी का एक जीव का अपेक्षा अन्तरकाल	३१९
*१० अयोगी का अन्तरकाल	३२०

.०४.०५ योग-कोश

.०० शब्द विवेचन

.०१ व्युत्पत्ति

.०१.०१ प्राकृत में 'जोग' शब्द की व्युत्पत्ति

रूप—जोग, जोअ

पद—संज्ञा

लिंग—पुँल्लिङ्ग

धातु—√जुञ्ज (युज्) > जुञ्जइ—जोड़ना, युक्त करना

√जुंज (युज्) > जुंजइ—जोड़ना, युक्त करना

जोग—संस्कृत के 'योग' शब्द' में 'आदेर्यो जः' (हेम० ८।१।२४५ । (पदादेर्यस्य जादेशः जसो जाइ जमो यथा—स्वोपज्ञ वृत्ति) सूत्र से आद्य यकार को जकार आदेश होकर प्राकृत का 'जोग' शब्द निष्पन्न होता है ।

प्राकृत 'जोग' शब्द में विकल्प से 'ग' का लोप होकर 'अ' बनता है । क-ग-ञ-ज-त-द-प-य-चां प्रायो लुक् (हेम० ८।१।७७) (स्वरात् परोऽसंयुक्ता अनादि-भूतास्तु सन्ति ये तेषाम् । क-ग-ञ-ज-प-य-चानां प्रायो लुक् प्राकृते भवति ॥ के-ति-त्थयरो लोओ गे-नयरे स्यात् नओ मयंको च । (स्वोपज्ञ वृत्ति) ।

ठाण० स्था ३।७२। सू १२४ की टीका में अभयदेव सूरि ने 'तिविहे जोए' शब्द का प्रयोग किया है । अन्यत्र प्रायः 'जोग' शब्द मिलता है ।

'जोए-जोअ' रूप का प्रयोग भिन्न अर्थ में 'सूरपण्णत्ती' में मिलता है ।

जोए—तत्थ खलु इमे दसविहे जोए पन्नत्ते, तं जहा वसुभाणजोए × × ×

वरमसमए ।

—सूर० प्रा १२ । सू ७८

यहाँ 'जोए' शब्द का अर्थ है—ग्रह-नक्षत्रों का विशिष्ट आकारात्मक संयोग ।

.०१.०२ पाली में 'बोग' शब्द की व्युत्पत्ति

रूप—योग

पद—संज्ञा

लिंग—पुँल्लिङ्ग, नपुंसक

धातु—√युज् > युञ्जति, युनक्ति, युङ्क्ते ।

पाली के 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'योग' शब्द के अनुसार ही समझनी चाहिए ।

०१०३ संस्कृत में 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति

रूप—योग

पद—संज्ञा

लिंग—पुल्लिंग

धातु—√युज् > युनक्ति, युङ्क्ते

योग शब्द युज् धातु से तीन प्रकार से निष्पन्न हो सकता है—भावे, कर्मणि तथा करणे ।

भावे—युज् धातु से 'योजनं योगः' (युज् + घञ्) ।

कर्मणि—युज्यते (कर्मणि घञ्)—धावनबल्लगनादिक्रियासु धापायंत इति योगः ।

करणे—युज्यते—सम्बध्यते धावनबल्लगनादि क्रियासु जीवोऽनेनेति 'पुंनामि घः' (हेम० ५।३।१३०)

०२ विभिन्न भाषाओं में 'जोग' शब्द के विभिन्न अर्थ

०२०१ प्राकृत भाषा में 'जोग' शब्द के अर्थ

(क) संज्ञा—सामान्य अर्थ सम्बन्ध, संयोग, मेलन ; ईप्सित वस्तु का लाभ (पाइअ०)

(ख) विशेषार्थ—वश करने के लिए या पागल आदि बनाने के लिए फेंका जाता चूर्ण-विशेष (पाइअ०)

(ग) व्याकरण—शब्द का अवयवार्थ सम्बन्ध (पाइअ०)

(घ) पारिभाषिक अर्थ—

धर्म—

दर्शन—मन, वचन, शरीर का व्यापार ; मनः-प्रणिधान, चित्त-निरोध समाधि ; बल, वीर्य, पराक्रम ; (पाइअ०)

विज्ञान—

वशीकरण—ते तं धणकणगरयणनिचयं पिंडिता × × × जोगजुंजणाओ × × × पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाणं सव्वलोए । —पण्हा श्रु १।अ५। सू १६

टीका—× × × विविधांश्च योग-योजनान् बहु-प्रकारांश्च वशीकरण-प्रयोगान् परिग्रहवशीकरणार्थं शिक्षन्ति ।

सम्बन्ध—मणूसाणं पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते तंजहा × × × ।

—सम० सम १५।सू ७

टीका—‘पओगे’ त्ति प्रयोजनं प्रयोगः सपरिरूपन्द आत्मनः क्रिया परिणामो व्यापार इत्यर्थः, अथवा प्रकर्षेण युज्यते-संयुज्यते सम्बध्यतेऽनेन क्रियापरिणामेण कर्मणा सहात्मेति प्रयोगः ।

‘०२’०२ पाली भाषा में ‘योग’ शब्द के अर्थ

- (क) संज्ञा—सामान्यार्थ—बन्धन, संयोग, सम्बन्ध ।
- (ख) विशेषार्थ—शारीरिक सम्बन्ध, पूर्व जन्म के शरीर या पूर्व क्रिया के सम्बन्ध, चेष्टा, प्रयास, साधन, उपचार ।
- (ग) पारिभाषिक अर्थ—
 ज्योतिष—ग्रह और तारों का मिलन ।
 दर्शन—संसार तथा संसार की वासनाओं के साथ सम्बन्ध और जिससे पुनर्जन्म के साथ बन्धन हो, विवेचन ।
 मंत्र-तंत्र—मंत्र का प्रभाव, मंत्र-शक्ति, मंत्र-क्रिया, मंत्र-योजना ।
 धर्म—ध्यान, भक्ति ।

‘०२’०३ संस्कृत भाषा में योग शब्द के अर्थ

- (१) संज्ञा (पुंलिङ्ग)
 (क) सामान्य अर्थ—जोड़ना, दो पदार्थों का मिलन, स्पर्श, सम्बन्ध ।
 (ख) विशेषार्थ—तरीका, उपाय, यान, वाहन, कवच, कार्य, व्यापार, धन, सार पदार्थ ।
- (ग) विज्ञान—
 चिकित्सा—औषध-अनुपान
 ज्योतिष—ग्रह-नक्षत्रों का मिलन, तारों का संयोग, काल का विभाजन, चन्द्रमण्डल का प्रमुख तारा ।
 (घ) मंत्र विद्या—कवच (स्तोत्र), ताबीज़ (यन्त्र) ।
 (ङ) नीति—नियम, विधान, पारस्परिक निर्भरता ।
 (च) व्युत्पत्ति, अभिधार्थ ।
 (छ) दर्शन—मन की एकाग्रता, ध्यान, ब्रह्मलीनता, पतञ्जलि के दर्शन का नाम, भगवद्भक्ति, अकाम कर्म, संन्यास ।
 (ज) गणित—जोड़ना ।

‘०३ योग शब्द के पर्यायवाची शब्द

जोगो वीरियं थामो उच्छाह परक्कमे तहा चेह्ठा ।

सत्ती सामत्थयंति य जोगस्स हवंति पज्जाया ॥

—ठाण० स्था ३ । उ । १ । सू १२४ । टीका

तिविहे करणे × × × ।

टीका—× × × योगप्रयोगकरणशब्दानां मनः प्रभृतिकर्मभिधेयतया योगप्रयोगकरणसूत्रेष्वभिहितमिति नार्थभेदोऽन्वेषणीयः, त्रयाणामप्येषामेकार्थ-तया आगमे बहुशः प्रवृत्तिदर्शनात्, तथाहि-योगः पञ्चदशविधं शतकादिषु व्याख्यातः, प्रज्ञापनायां त्वेवमेवायं प्रयोगशब्देनोक्तः, तथाहि—“कतिविहे णं भंते ! पओगे पन्नत्ते, गोयमा ! पन्नरसविहे” इत्यादि, तथा आवश्यकेऽयमेव करणतयोक्तः, तथाहि—“जुंजणकरणं तिविहं मणवतिकाए य मणसि सञ्चाइ । सट्ठाणे तेसि भेओ चउ चउहा सत्तहा चेव ॥१॥” इति ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १२४

‘जोग’ के पर्यायवाची शब्द—

वीरिय (वीर्य), थाम (स्थाम), उच्छाह (उत्साह), परक्कम (पराक्रम), चेष्टा (चेष्टा) सत्ती (शक्ति), सामत्थय (सामर्थ्य), पओग (प्रयोग) और करण (करण) ।

.३.०१ वीरिय (वीर्य)—

× × × सकरणस्यैव त्रिस्थानकावतारित्वाद् अतस्तत्रैव व्युत्पत्तिस्तमेव चाश्रित्य सूत्रव्याख्या, युज्यते जीवः कर्मभिर्येन ‘कम्मं जोगनिमित्तं बडझइ’ त्ति वचनात् युङ्क्ते प्रयुङ्क्तेयं पर्यायं स योगो-वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीव-परिणामविशेष इति, आह च—“मणसा वयसा काएणा वावि जुत्तस्स विरिय-परिणामो । जीवस्स अप्पणिउज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ ॥१॥ तेओजोगेण जहा रत्तत्ताई घडस्स परिणामो । जीवकरणप्पओगे विरियमवि तहप्पपरिणामो॥” इति × × × ।

ठाण—स्था ३ । उ १ । सू १२४ । टीका

वीर्य के दो (अकरण-सकरण) भेदों में सकरण वीर्य योग का पर्यायवाची है ।

जिसके द्वारा जीव कर्मों से युक्त होता है—वह योग है तथा वह योग वीर्यान्तराय के क्षय तथा उपशमजनित जीवपरिणाम विशेष है ।

मन, वचन तथा काय—इन तीनों में से किसी से युक्त जीव के जो स्वकीय आत्म सम्बन्धी वीर्यपरिणाम हैं उनको तीर्थ-करों ने ‘योग’ कहा है । जिस प्रकार अग्नि के संयोग से घट में रक्त आदि परिणाम होते हैं उसी प्रकार करण प्रयोग करने पर वीर्य भी जीव का आत्मपरिणाम होता है ।

•०३•०२ थाम (स्थाम) —पाइअ०

•०३•०३ उच्छाह (उत्साह)

× × × शक्तिरुत्साहः × × × ।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १६४

शक्ति और उत्साह एकार्थवाची शब्द हैं ।

०३०४ परक्रम (पराक्रम)

× × × वीर्य — पराक्रम × × × ।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १६४

वीर्य और पराक्रम एकार्थवाची शब्द हैं ।

०३०५ चेष्टा (चेष्टा) — पाहअ०**०३०६ सत्ती (शक्ति)**

× × × शक्तिरुत्साहः × × × ।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १६४

शक्ति और उत्साह समानार्थक है ।

०३०७ सामर्थ्य (सामर्थ्य)

× × × सामर्थ्यमतिशयवती चेष्टा × × × ।

—सिद्ध० अ ६ । सू ६ । पृ० १६४

मन, वचन और काय की बलवती चेष्टा सामर्थ्य है ।

०३ 'योग' के पर्यायवाची शब्द**०३०८ पओग (प्रयोग)**

× × × प्रयोग इति प्रपूर्वस्य 'युजिरायोगे' इत्यस्य घञन्तस्य प्रयोगः, परिरूपन्दक्रिया आत्मव्यापार इत्यर्थः, अथवा प्रकर्षेण युज्यते—व्यापार्यते क्रियासु सम्बन्ध्यते वा साम्पारिकेर्यापथकर्मणा सहात्मा अनेनेति प्रयोगः × × × ।

—पण० प १६ । सू २०२ । टीका

'पओगे' ति प्रयोजनं प्रयोगः सपरिरूपन्द आत्मनः क्रियापरिणामो व्यापार इत्यर्थः, अथवा प्रकर्षेण युज्यते—संयुज्यते सम्बन्धतेऽननेति क्रियापरिणामेण कर्मणा सहात्मेति प्रयोगः ।

—सम० सम १५ । सू ७ । पृ० ४४

प्रयोग—परिरूपन्द क्रिया अर्थात् आत्मव्यापार । आत्मा का परिरूपन्दन युक्त क्रियापरिणाम या व्यापार प्रयोग है । अथवा जिस क्रियापरिणामन रूप व्यापार से आत्मा प्रकृष्टता से कर्मों से युक्त होता हो—संयुक्त होता हो या सम्बद्ध होता हो—उसको प्रयोग कहा जाता है ।

०३०९ व्यापार

कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्यः ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः ।

विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥

—योगस० गा २

टीका—××× धर्मयोगो धर्मव्यापारः, यः इति योऽर्थः वन्दनाविषयः स इच्छायोग उच्यते ।—हरिभद्र

—करण प्रवसा०-गा० ८४८

तिविहे करणे इत्यादि × × × क्रियते येन तत्करणं मननादिक्रिय प्रवर्त-
मानस्यात्मन उपकरणभूतस्तथा तथा परिणामवत्पुद्गल स्वभाव इतिभावः
× × × । —ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १२५ टीका

योग—आत्मपरिणाम ।

—भग० श २० । उ ३ । सू १

धार्मिक क्रिया-कलापों में व्यापृत होना धर्म योग है । धर्म योग अर्थात् धार्मिक
क्रिया-कलापों में व्याप्त होना ।

.०४ सविशेषण-ससमास-सप्रत्यय 'जोग' शब्द की परिभाषा

.०१ अकुसलजोगनिरोहो (अकुशलयोगनिरोध) —ओघ० भाष्य गा १६७
मन आदि की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना ।

इंदियविसयनिरोहो पत्तेसुवि रागदोसनिग्गहणं ।

अकुसलजोगनिरोहो कुसलोदय एगभावो वा ॥

टीका—'अकुसलजोगनिरोहो' अकुशलानाम्-अशोभनानां मनोवाकाय-
योगानां-व्यापाराणांयो निरोधः सा त्रिविधकरणायुक्तता × × × ।

मन, वचन और काय—इन तीनों के अयुक्त अर्थात् संयम-विरोधी कार्यकलापों को
रोकना—अकुशलयोगनिरोध ।

.०२ अचरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाने (अचरमसमयअयोगिभवस्थकेवल-
ज्ञान) —ठाणा० स्था २।उ १।सू ६१।पृ० ५०७

अन्त समय से पूर्व योगरहित मनुष्य का होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—अजोगिभवत्थकेवलणाने दुविहे पणत्ते, तं जहा—× × × ।

अहवा —× × × अचरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाने चेव ।

—टीका—न सन्ति योगा यस्य स न योगीति वा योऽसावयोगी × × ×

'अथवे'—त्यादि, चरमः—अन्त्यः समयो यस्य सयोग्यवस्थायाः स तथा,
× × × 'एव' मिति सयोगिसूत्रवत्प्रथमाप्रथमचरमाचरमविशेषणयुक्तमयोगि-
सूत्रमपि वाच्यम् ।

जिसके मन आदि के व्यापार नहीं है अथवा जो मन आदि का व्यापार नहीं करता
उस भवस्थ मनुष्य का अन्तिम समय से पूर्व होनेवाला केवलज्ञान—अचरमसमयअयोगि-
भवस्थकेवलज्ञान ।

.०३ अचरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाने (अचरमसमयसयोगिभवस्थकेवल-
ज्ञान) —ठाणा० स्था २।उ १।सू ६०।पृ० ५०६

अन्त्य समय से पूर्व सयोगि अवस्था में होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—सजोगिभवत्थकेवलणाणे दुविहे पणत्ते, तं जहा—पढम- × × × ।
अहवा— × × × अचरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव ।

टीका—सह योगैः—कायव्यापारादिभिर्यः स सयोगी × × × । ‘अथवे’
त्यादि, चरमः—अन्त्यः समयो यस्य सयोग्यवस्थायाः स तथा ।

कायादि के व्यापार से युक्त सयोगी अवस्था के अन्तिम समय से पूर्व होनेवाला
केवलज्ञान—अचरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान ।

सयोगिभवस्थ केवलज्ञान का यह एक वैकल्पिक भेद है ।

.०४ अजोग (अयोग)

—सम० सम ५।सू ५।पृ० १३

मन-वचन-काय की अप्रवृत्ति ।

मूल—पंच संवरदारापणत्ता, तंजहा—सम्मत्तं × × × अजोगा ।

टीका—संवरस्य—कर्मानुपादानस्य द्वाराणि—उपायाः संवरद्वाराणि—
मिथ्यात्वाद्याश्रवविपरीतानि सम्यक्त्वादीनि ।

संवर अर्थात् कर्मों के न ग्रहण करने के एक उपायभूत मन, वचन और काय की
अप्रवृत्ति—अयोग ।

संवर के पाँच कारणों में एक कारण अयोग भी है तथा कर्मादान के पाँच कारण—
मिथ्यात्वादि के पाँचों विपरीत हैं ।

.०५ अजोगा (अयोग)

—सम० सम ५।सू ५

योग रहित अवस्था विशेष ।

पंच संवरदारा पणत्ता, तंजहा—सम्मत्तं चिरई अप्पमाया अकसाया
अजोगा ।

टीका—संवरस्य कर्मानुपादानस्य द्वाराणि—उपायाः संवरद्वाराणि—
मिथ्यात्वाद्याश्रवद्वारविपरीतानि सम्यक्त्वादीनि ।

संवर अर्थात् कर्म पुद्गलों के अग्रहण के लिए एक कारण विशेष—अयोग ।

संवर के सम्यक्त्व आदि पाँच कारणों में अन्तिम कारण अयोग है ।

.०६ अजोगिजिणे (अयोगिजिन)

—गोक० गा ६३८

योग रहित होकर जिन स्वरूप होनेवाले ।

मिच्छादिगोदभंगा पण च्छु तिसु दोणिण अट्ठणेषु ।

एक्केक्काजोगिजिणे दो भंगा होंति णियमेण ॥

गोत्रकर्म का एक-एक भंग अर्थात् उच्चगोत्र या नीचगोत्र होनेवाला स्थान या
पात्र—अयोगिजिन ।

.०७ अजोगिभवत्थकेवलणाणं (अयोगिभवत्थकेवलज्ञान) —नंदी० सू ३५

योगरहित अवस्था में होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—से किं तं भवत्थकेवलणाणं ? भवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णतं ।
तं जहा—× × × अजोगिभवत्थकेवलणाणं च ।

टीका—योगोऽस्य विद्यते इति योगी न योगी अयोगी अयोगी चासौ भवत्थश्च अयोगिभवत्थः शैलेश्यवस्थामुपगत इत्यर्थः तस्य केवलज्ञानमयोगि-भवत्थ केवलज्ञानम् ।

जिस साधक के मन, वचन और काय के व्यापार अतीत हो गये हैं अर्थात् शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर गया है, उसके उस स्थिति में रहने वाला केवलज्ञान—अयोगिभवत्थ-केवलज्ञान ।

अयोगिभवत्थकेवलज्ञान भवत्थकेवलज्ञान का दूसरा भेद है ।

.०८ अजोगिभवत्थकेवलणाणे (अयोगिभवत्थकेवलज्ञान)

—ठाणा० स्था २।उ १।सू ८६।पृ० ५०६

योगरहित अवस्था में रहनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—भवत्थकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा — × × × अजोगिभवत्थ-केवलणाणे चेव ।

टीका—न सन्ति योगा यस्य स न योगीति वा योऽसाधयोगी—शैलेशी-करणव्यवस्थितः, × × × ।

जिसके मन, वचन, काय का व्यापार नहीं है अथवा जो योगी—मन, वचन, काय को व्यापृत करनेवाला नहीं है उसका केवलज्ञान-अयोगि-भवत्थज्ञान ।

.०९ अयोगिग्मि (अयोगी)

—गोक० गा ७०३

मन, वचन और काय की चेष्टाओं से रहित ।

जोगिग्मि अजोगिग्मि य तीसिगितीस णवट्ठयं उदओ ।

सीदादिचऊल्लक्कं कमसो सत्तं समुद्दिट्ठं ॥

.१० अजोगत्तं (अयोगत्व)

—उत्त० अ २६।सू ३८

मन, वचन और काय की प्रवृत्तिहीनता ।

जोगपच्चक्खणाणेणं अजोगत्तं जणयइ । अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ पुव्वबन्धं निज्जरेइ ।

नये कर्मों के उपादान को रोकने तथा पूर्वबद्ध कर्म को निर्जीर्ण करने में निमित्त-भूत—अयोगत्व ।

.०११ अजोगि सत्ताण (अयोगिसत्त्व)

—गोक० गा ४४५

अयोगियों में होनेवाली सत्त्व प्रकृतियाँ ।

ओकट्टणकरणं पुण अजोगिसत्ताण जोगिचरिमोस्ति ।

खीणं सुहुमंताणं खयदेसं सावलीय समयोस्ति ॥

सयोगी के अन्त समय तक अपकर्षण करण में कर्मभूत अयोगी की सत्त्व प्रकृतियाँ—
अयोगिसत्त्व ।

.०१२ अजोगी (अयोगी)

—उत्त० अ २६ । सू ३८

जिनके मन, वचन, काय के व्यापार नष्ट हो गये हैं ।

जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ । अजोगीणं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ
पुव्वबद्धं निज्जेरेइ ।

योग-प्रत्याख्यान के द्वारा अयोगत्व को प्राप्त—अयोगी ।

अयोगी जीव के नये कर्मों का बन्ध नहीं होता है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा
होती है ।

.०१३ अजोगी केवली (अयोगी केवली)

—सम० सम १४।सू ५।पृ० ४१

मन, वचन, काय के व्यापार से रहित केवलज्ञानी ।

मूल—कम्मविसोहिमगगणं पडुच्च खडइसजीबड्डाणा पणत्ता—तंजहा—
मिच्छदिट्ठी × × × अजोगी केवली ।टीका—अयोगी केवली—निरुद्धमनः प्रभृतियोगः शैलेशोगतो ह्रस्वपञ्चा-
क्षरोद्गिरणमात्रं कालं यावदिति चतुर्दशं जीवस्थानमिति ।शैलेशी अवस्था को प्राप्त पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण यावत् कालवर्ती जीव के
कर्म-विशोधन के द्वारा प्राप्त होनेवाला स्थान—गुणस्थान—अयोगी केवली ।

जीव के चौदह गुणस्थानों में यह चौदहवाँ गुणस्थान है ।

.०१४ अज्झप्प जोगसुद्धादाणे (अध्यात्म योगशुद्धादान)—सूय० श्रु १।अ १६।गा ३

अध्यात्म योग के द्वारा निर्मल चारित्र वाला ।

एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते दविए वोसट्टकाए संविधु-
णीय विरूवरूवे परीसहोवसगो अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठियप्पा संखाए
परदत्तभोई भिक्खूत्ति वच्चे ।टीका—× × × अध्यात्मयोगेन—सुप्रणिहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन
शुद्धम्—अवदातमादानं—चारित्रं यस्य स शुद्धादानो भवति ।अन्तःकरण की एकाग्रता रूप धर्मध्यान के द्वारा जिस साधक का चारित्र विशुद्ध हो
गया है वह—अध्यात्मयोगशुद्धादान ।

.०१५ अजोगिठाणं (अयोगिस्थान)

—गोक० गा ४६४

योगरहित स्थान अर्थात् अयोगिकेवली गुणस्थान ।

तिसु तेरं दस मिरुसे णव सत्तसु छट्ठयम्मि एकारा ।

जोगिमि सत्त जोगा अजोगिठाणं हवे सुण्णं ॥

जहाँ पर योग की सत्ता शून्य हो जाय वह—अयोगिस्थान अर्थात् अयोगिकेवली गुणस्थान ।

.०१६ अणाभियोगिएसु-अणाभिओगिएसु (अणाभियौगिक)

—भग० श ३।७ प्र २२०।पृ० १६६

अभियोग—विकुर्वणा से रहित देवों का एक वर्ग विशेष ।

मूल—अमायी णं भंते ! तस्स ठाणस्स आलोइय-पडिक्कंते कालं करेइ,

× × × अण्णयरेसु अणाभियोगिएसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जइ ।

टीका—तत्र आभियोगोऽपि विकुर्वणा इति मन्तव्यम् ।

मायारहित आलोचना-प्रतिक्रमण कर काल करने वाले साधुओं का परमव के उत्पत्ति स्थान में देवों का वर्ग विशेष अनाभियौगिक ।

अच्युतकल्प से ऊपर के देव अनाभियौगिक कहलाते हैं ।

.०१७ अनुवीइसमितिजोगेण (अनुवीतिसमययोग)

—पण्हा० अ ७।द्वार २ सू १७।पृ० ६६१

वचन बोलते समय संयम रूप योग—व्यापार ।

मूल - पढमं—सोऊण संवरट्ठं परमट्ठं × × × समिक्खितं संजतेण कालम्मि य वत्तव्वं । एवं अनुवीइसमितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा × × × सच्चज्जवसंपण्णो ।

टीका—समीक्षितं, पूर्व बुद्ध्या पर्यालोचितं, एतादृशं संयमवता—साधुना काले—अवसरे वक्तव्यं नाऽन्यथा । एवममुना प्रकारेण अनुचिन्त्य—पर्यालोच्य भाषणरूपया समित्या सम्यग्-योगयुक्तो भवति अन्तरात्मा—जीवः ।

अन्तरात्मा को भावित करने में एक कारणभूत, सुनी हुई बात के लिए भी संयम-पूर्वक पूर्णरूपेण सोचकर साधु का समयानुसार भाषा का प्रयोग करना—अनुवीतिसमितियोग ।

.०१८ अणेयजोगंधराण (अनेकयोगधर)

—सूय० भ्रु १।अ १।निगा १६

अनेक प्रकार के योग—चेष्टाओं का धारक ।

वइजोगेण पभासियमणेगजोगंधराण साहूणं ।

तो वयजोगेण कयं जीवस्स सभावियगुणेण ॥

टीका— $\times \times \times$ किन्त्वनेकयोगधराः । तत्र योगः क्षीराश्रवादिलब्धि-
कलापस्तं धारयन्तीत्यनेक योगधराः $\times \times \times$ ।

क्षीराश्रवादि लब्धि-समुदाय को धारण करने वाला—अनेक योगधर ।

.०१९ अद्भुतजोगं (अद्भुतयोग) —षट्० खं ४, २, ४।सू २६।टीका।पु १०।पृ० १०१
योगकाल का अर्ध भाग ।

$\times \times \times$ अद्भुतजोगमुक्कस्ससंखेज्जेण खंडिइण तत्थेगखंडेण अव्ववहिय-
जोगट्ठाणं णिरूंभिइण वड्ढिपुरुषणा कायव्वा ।

वृद्धि प्ररूपण करने के लिए अर्धयोग को उत्कृष्ट संख्यात से खण्डित कर उनमें से एक खण्ड अधिक योगस्थान विवक्षित करना आवश्यक है ।

.०२० अन्नोन्नकरण जोएसु (अन्योन्य करणयोग) —पठम० उ २।श्लो ६३

दंसण-नाण-चरित्ते, सुद्धा अन्नोन्नकरणजोएसु ।

देहेवि निरवयवखा, सिद्धि पावेस्ति धुयकम्मा ॥ ९३ ॥

जो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में तथा परस्पर करण और योग में शुद्ध होते हैं और जो देह में भी अनासक्त होते हैं वे अपने कर्मों का नाश करके मुक्ति प्राप्त करते हैं ।

.०२१ अपज्जत्तजोगे (अपर्याप्त योग) —षट्० खं १।१।पु २।पृ० ६५४

मन, वचन, काय के व्यापार की अपूर्णता ।

कवाडगद-केवलस्स अपज्जत्तजोगे चट्टमास्स पुव्विल्ल-सरीरेण सह
सम्बन्धाभावादो ।

कपाट-समुद्धातगत सयोगिकेवली के पूर्व शरीर के साथ सम्बन्ध न रहने के कारण उनके योग को अपर्याप्त योग कहा जाता है ।

.०२२ अप्पमायजोगो (अप्रमादयोग) —सम० प्रकी ६६

प्रमाद अर्थात् अनवधानता से रहित योग ।

मूल—अंतगडदसासु $\times \times \times$ तह अप्पमायजोगो सज्झायज्झाणेण य
उत्तमाणं दोण्हंपि लक्खणाइं पत्ताण य संजमुत्तमं $\times \times \times$ ।

टीका—अप्रमादयोगः स्वाध्यायध्यानयोश्च उत्तमयोर्द्वयोरपि लक्ष-
णानि—स्वरूपाणि, तत्र स्वाध्यायस्य लक्षणं 'सज्झाएणपसत्थं ज्ञाण' मित्यादि,
ध्यानलक्षणं यथा—“अंतोमुहुत्तमित्तं चित्तावत्थाणमेग वत्थुंमी” त्यादि व्वाख्या-
यन्त इति सर्वत्र योगः $\times \times \times$ ।

स्वाध्याय तथा अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त चित्त को एक वस्तु में स्थिर रखना—ध्यान रूप योग को अप्रमाद योग कहा गया है ।

‘२३ अपढमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाने (अप्रथमसमयअयोगिभवत्थकेवल-
ज्ञान) —ठाण० स्था २।उ १।सू ६१।पृ० ५०६

द्वितीयादि समय में होनेवाला अयोगी-योगरहित साधु का होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—अजोगिभवत्थकेवलणाने दुचिहे पणत्ते, तंजहा—× × × अपढम-
समयअजोगिभवत्थकेवलणाने चेव ।

टीका—न सन्ति योगा यस्य स न योगीति वा योऽसावयोगी × × ×
एवमप्रथमो—द्व्यादिसमयो यस्य स तथा ।

जिसके योग—कायादि के व्यापार नहीं है अथवा जो योगी—कायादि के व्यापार
से युक्त नहीं है उस भवस्थ मनुष्य के अप्रथम—द्वितीयादि समय में होनेवाला केवलज्ञान—
अप्रथमसमयअयोगिभवत्थकेवलज्ञान ।

‘२४ अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाने (अप्रथमसमयसयोगिभवत्थ केवल-
ज्ञान) —ठाण० स्था २।उ १।सू ६०।पृ० ५०६

योगयुक्त अवस्था के द्वितीयादि समय में होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—सयोगिभवत्थकेवलणाने दुचिहे पणत्ते, तं जहा—× × × अपढम-
समयसजोगिभवत्थकेवलणाने चेव ।

टीका—सह योगैः—कायव्यापारादिभिर्यः स सयोगी इन्समासान्त-
त्वात् स चासौ भवत्थश्च तस्य केवलज्ञानमिति विग्रहः, × × × एवमप्रथमो—
द्व्यादिसमयो यस्य स तथा × × ×

‘२५ अपरितंतजोगी (अपरितान्तयोगी)

—पण्हा० अ ६ । द्वा १ । सू १४ । पृ० ६८६

मन-वचन-काय की अभ्रान्तता ।

मूल—अण्णाए अगट्ठिए अदुट्ठे × × × अपरितंतजोगी × × × सव्व-
दुक्खपावाण विओसमणं ।

टीका—अपरितान्ताः—अभ्रान्ताः योगाः—मनःप्रभृतयो यस्य सः
अपरितान्तयोगी सदनुष्ठानेषु ।

सदनुष्ठानों में अर्थात् संयम-पालन में होने वाले कष्टों से मन, वचन और काय में
भ्रान्ति का आभास न होना—अपरितान्तयोगी ।

‘२६ अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो (अप्रशस्त योग)

—उत्त० अ २६।सू ८

मन-वचन-काय की असत्प्रवृत्ति ।

गरहणयाए णं अपुरकारं जणयइ । अपुरकारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो
जोगेहिंतो नियत्तेइ × × × ।

आत्मनम्रता में व्याघात उत्पन्न करनेवाला—अप्रशस्त योग ।

आत्मनम्रता की प्राप्ति में आत्मगर्ही—आत्मनिन्दा को कारण माना गया है ।
आत्मनम्रता प्राप्त हो जाने से अप्रशस्त योगों से सहज निवृत्ति हो जाती है ।

•२७ अप्पिदजोगजीवरासिपमाणं (विवक्षितयोगजीवराशिप्रमाण)

—षट्० खं १, ङसू १११।टीका।पु ५।पृ० २६१

सयोगी जीवों की विवक्षित—कल्पित जीवराशि रूप ।

एत्थ वि जहा ओघम्मिह गुणगारो साहिदो तहा साहेदब्बो । णवरि
अप्पिदजोगजीवरासिपमाणं णादूण अप्पाबहुअं कायत्वं ।

योग की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का साधन करने में आवश्यक सयोगी जीवों की
विवक्षित अर्थात् अपेक्षित जीवराशि—अप्पिदजोगजीवराशिप्रमाण ।

•२८ अप्पिदजोगद्धाए (विवक्षितयोगाद्धा)

—षट्० खं १, ङसू ११६ । टीका । पु । ५ । पृ० २६२

विवक्षित योग का कालमान ।

जोगद्धाणं समासं कादूण तेण सामण्णरासिमोचट्टिय अप्पिदजोगद्धाए
गुणिदे इच्छिद इच्छिदरासीओहोति ।

अपेक्षित योग का आगमोक्त कालमान—विवक्षित योगाद्धा ।

•२९ अपुण्णजोगगदं (अपूर्णयोगगत)

—गोक० गा ४६५

मन, वचन और काय की चेष्टाएँ जिनकी अपूर्ण है ।

मिच्छे सासण अयदे पमत्तधिरदे अपुण्णजोगगदं ।

पुण्णगदं च य सेसे पुण्णगदे मेलिदं होदि ॥

मिथ्यात्व, सास्वादन, असंयत और प्रमत्तसंयत—इन चार गुणस्थानों में स्थानसंख्या
और प्रकृतिसंख्या जानने में पर्याय योग के साथ अपर्याय योग अर्थात् योग की अपूर्णता की
भी गणना होती है ।

•३० अलियणियडिसादिजोगबहुलं (अलीकनिकृतिसादिओगबहुल)

—पण्हा० द्वार २ । अ २ । सू १६

मायापूर्वक मिथ्याभाषण रूप सारम्भ योग की प्रचुरता ।

एयं तं वितियंपि अलियवयणं × × × अलिय-नियडि-सादि-जोगबहुलं
× × × पुण्णभवकरं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं ।

टीका—अलीकं—मृषाभाषणं निवृत्तिमीयामयं तद्योगप्रचुरं × × ×
पुनर्भवकारणं चिरपरिचितं दुरन्तं × × × ।

बार-बार संसार में जन्म-मरण का कारण—मायायुक्त मिथ्याभाषण रूप वचनयोग का आरम्भ करना—अलीक-निवृत्ति-सादि-योगबहुल ।

‘३१ अवाधार विडसजोगजुत्ते (अव्यापार व्युत्सृष्ट योग युक्तः)

—ठाण० स्था ६ । सू ६२ । १० ८६६

भावि तीर्थंकर—प्रथम तीर्थंकर महापद्म जो आगामी उत्सर्पिणी काल में होंगे । दीक्षा के पश्चात् वे अभिग्रह भी धारण करेंगे ।

(महापद्मं) तपणं से भगवंअणगारे भविस्सति इरियासमिते भासा-
समिते एवं जहा वद्धमाणसामी तं चेव णिरवसेस जाव अवाधार विडसजोग
जुत्ते ।

महापद्म भगवान् दीक्षित होने के पश्चात्—ईयांसमिति, भाषासमिति [भगवान् वर्धमान की भाँति सम्पूर्ण विषय वक्तव्य है, यावत्] के अव्यापार तथा व्युत्सृष्ट योग से युक्त होंगे ।

‘३२ अबिसंवादनाजोगे (अबिसंवादनायोग) — ठाण स्था ४ । उ १ । सू २५४

जिस प्रकार कहा जाय उसी रूप में विश्वास कर लेना ।

मूल—चउव्विहे सल्ले पणन्ते तं जहा—कायडजुयया × × × अबिसंवा-
यणाजोगे ।

टीका—अनाभोगादिना गवादिकमश्वादिकं यद्वदति कस्मैचित्किञ्चिद-
भ्युपगम्य वा यन्न करोति सा विसंवादना तद्विपक्षेण योगः—संबन्धोऽ
विसंवादनायोग इति ।

अनाभोगादि के कारण किसी के पास जाकर गो, अश्व आदि कुछ कहना, परन्तु इस कथन को अस्वीकार कर देना विसंवादना है और इसके विपक्ष के साथ अर्थात् जो कुछ कहा जाय उसको सत्य मानकर उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करना—अविसंवादनायोग है ।

अविसंवादनायोग चतुर्विध सत्य का चतुर्थ भेद है ।

‘३३ असच्चवइप्पओगे (असत्यवचनप्रयोग) — पण्ण० प १६ । सू १०६८

सत्य के विपरीत अर्थात् मिथ्या वचन का प्रयोग करना ।

पण्णरसविहे पओगे पणन्ते, तं जहा—(मोसचइप्पओगे) एवं चइप्प-
ओगेयि चउहा × × × ।

टीका—‘एवं चइप्पओगेवि चउहा’ इति, यथा मनः प्रयोगश्चतुर्धा तथा

वाक्प्रयोगोऽपि चतुर्धा, तद्यथा—मृषावाक्प्रयोगः $\times \times \times$, एताश्च सत्य-
वागादयः सत्यमनः प्रभृतिवद्भाचनीया इति ।

एक दृष्टान्त के आधार पर यथा जीव एकान्त सद्रूप नहीं है इस प्रकार कुविकल्प पूर्ण वचन का प्रयोग करना—असत्यवचन प्रयोग ।

*३४ असञ्चमणप्पओगे (असत्यमनप्रयोग)

—पण्ण० प १६ । सू १०६८

असत्य रूप मन का व्यापार ।

पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते, तं जहा— $\times \times \times$ असञ्चमणप्पओगे $\times \times \times$ ।

टीका—‘असञ्चमणप्पओगे’ इति, सत्यविपरीतमसत्यं, यथा-नास्ति जीवः एकान्तसद्रूपो वेत्यादिकुविकल्पनपरं, तच्च तन्मनश्च तस्य प्रयोगो-
ऽसत्यमनः प्रयोगः $\times \times \times$ ।

सत्य से विपरीत असत्य, यथा जीव एकान्ततः सद रूप नहीं है या है—इस प्रकार कुविकल्प पूर्वक चिन्तन करना—असत्यमनः प्रयोग ।

*३५ असञ्चामोसमणप्पओगे (असत्यामृषामनः प्रयोग)

—पण्ण० प १६।सू १०६८

सत्य और मिथ्या दोनों से विपरीत मन का व्यापार ।

पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते तं जहा— $\times \times \times$ असञ्चामोसमणप्पओगे
 $\times \times \times$ ।

टीका—‘असञ्चामोसमणप्पओगे’ इति यन्न सत्यं नापि मृषा तदसत्यमृषा, इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतानुसारेण विकल्प्यते यथा अस्ति जीवः सदसद्रूप इति तत्किल सत्यं परिभाषितमाराधकत्वात्, यत्पुर्विप्रति-
पत्तौ सत्यां यद्वस्तुप्रतिष्ठाशयाऽपि सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते यथा नास्ति जीवः एकान्तनित्यो वेत्यादि तदसत्यं विराधकत्वात्, यत्पुर्वस्तुप्रतिष्ठाशामन्त-
रेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरं यथा देवदत्तात् ३ घट आनेतव्यो गौर्याच-
नीया इत्यादिविन्तनपरं तत् असत्यामृषा, इदं हि स्वरूपमात्रपर्यालोचन-
परत्वात् न यथोक्तलक्षणं सत्यंनापि मृषा, एतदपि व्यवहारनयमतापेक्षया द्रष्टव्यं, अन्यथा विप्रतारणबुद्धिपूर्वकमसत्येऽस्तर्भवति अन्यत्तु सत्ये, तच्चा
तन्मनश्च तस्य प्रयोगोऽसत्याऽमृषामनः प्रयोगः ।

किसी पदार्थ के प्रतिपादन करने के निमित्त यथा जीव का सत्-असत् रूप स्वीकार करना, सर्वज्ञ मतानुसार परिभाषित होने से मिथ्या के विपरीत अर्थात् सत्य है तथा जीव को एकान्त नित्य स्वीकार नहीं करना विराधकतावश सत्य के विपरीत है । इस प्रकार सत्य और मिथ्या दोनों से विपरीत मन का व्यापार—असत्यामृषामनः प्रयोग ।

०३६ असत्त्वामोसवइप्पओगे (असत्त्वामृषावचन प्रयोग)

—पण० प १६ । सू १०६८

सत्य और मिथ्या दोनों से विपरित वचन का प्रयोग करना ।

पणरसविहे पओगे पणत्ते, तं जहा—(असत्त्वामोसवइप्पओगे) एवं वइप्पओगेवि चउहा × × × ।

टीका—‘एवं वइप्पओगेविचउहा’ इति, यथा मनःप्रयोगश्चतुर्द्धा तथा वाक्प्रयोगोऽपिचतुर्द्धा, तद्यथा × × × असत्त्वामृषावाक्प्रयोगः, एताश्च सत्य-वागादयः सत्यमनःप्रमृतिचद्भावनीया इति ।

किसी पदार्थ के प्रतिपादन करने के निमित्त सर्वज्ञ मतानुसार विकल्प उपस्थित करना, यथा जीव सत्-असत् रूप है, यह तो परिभाषित होने के कारण मिथ्या के विपरीत अर्थात् सत्य है, पुनः संशय उपस्थित होनेपर सर्वज्ञ मत से बाह्य जीव को एकान्त नित्य स्वीकार नहीं करना सत्य के विपरीत है—इस प्रकार के वचन का प्रयोग करना—असत्त्वामृषावचनप्रयोग ।

०३७ असंसक्तवासवसहीसमितियोगेण (असंसक्तवासवसतिसमितियोग)

—पण० अ ६। द्वा ४। सू ७। पृ० ७०१

स्त्रियों से असंसक्त अर्थात् रहित वास-वसति रूप संयम का पालन ।

मूल—पढमं—सयणासण-घरदुवारअंगण × × × तं तं वज्जेउज वज्ज-भीरु अणायतणं अंतपंतवासी । एवमसंसक्तवासवसहीसमितियोगेण भावितो भवति अंतरप्पा, × × × जित्तेदिण बंभचेरगुत्ते ।

टीका—एवं अनन्तरोक्तस्त्रीभिरसंसक्तवासो वसतिः योऽसौ साधुः तद्विषयो यः समितियोगः—सदाचरणप्रवृत्तिसम्बन्धः स तथा तेन भावितो—वासितो अंतरप्पा-अन्तरात्मा जीवः ।

अन्तरात्मा को भावित करने के लिए साधु का स्त्रियों के हास्य शृङ्गारि की कथाओं से असंसक्त स्थान में जहाँ सदाचार में बाधा न हो, ऐसे स्थान में वास-वसति रूप संयम में आरुढ़ रहना—असंसक्तवासवसतिसमितियोग ।

०३८ असुहं जोगं (अशुभयोग)

—भग० श १। उ १। प्र ४८

आरम्भ-समारम्भ रूप अशुभ प्रवृत्ति ।

× × × । तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते × × × असुहं जोगं पडुच्च आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, णो अणारंभा ।

टीका—प्रमत्तसंयतस्य हि शुभोऽशुभश्च योगास्स्यात् संयतत्वात्, पमादपरत्वाच्च । × × × । अशुभयोगस्तु तदेवाऽनुपयुक्तया । आह च—

“पुढवी-आउक्काय-तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं पडिलेहणापमत्तो छण्हंपि धिरा-
हओ होइ ।” तथा “सव्वो पमत्तजोगो समणस्सओ होइ आरंभो” त्ति । अतः
शुभाऽशुभौ योगावात्मारम्मादिकारणमिति ।

आत्मारम्भ, परारम्भ, उभयारम्भ रूप अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति—अशुभ योग ।

यहाँ पर प्रमत्तसंयत की अपेक्षा से कथन है । प्रमत्तसंयत में अनारम्भ के कारण
शुभ तथा आरम्भ रहने के कारण अशुभ दोनों प्रकार के योग होते हैं ।

.०३९ आओगपओगसंपउत्ते (आयोगप्रयोगसम्प्रयुक्त) — सूय० श्रु २।अ ७।गा ६६
अर्थ-साधन तथा प्रायोगिक साधनों से युक्त ।

तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई × × × आओग-
पओगसंपउत्ते × × + बहुजणस्स अपरिभूए याधि होत्था । + + + ।

टीका— + + + आयोगः अर्थोपायाः यानपात्रोष्ट्रमण्डलिकादयस्तथा
प्रयोजनमयोगः प्रायोगिकत्वं तैरायोगप्रयोगैः सम्प्रयुक्तः समन्वितः + + + ।

यान, पात्र, उष्ट्र, माण्डलिकादि आर्थिक साधन तथा जिन वस्तुओं का यात्रादि में
प्रयोजन होता है उनसे युक्त-आयोग-प्रयोगसम्प्रयुक्त ।

यह लेप गाथापति का विशेषण है ।

.०४० आदेसुक्कस्सजोगट्ठाणदव्वं (आदेश उत्कृष्ट योगस्थानद्रव्य)

— षट्० खं ४, २, ४.सू ४६।टीका पु १०।पृ० २६६

प्रक्षेपाहार का प्रमाण निकालने में उपयोगी उत्कृष्ट योगस्थान द्रव्य ।

आउअउक्कस्सदव्वे उक्कस्सबंगगद्धाए ओवट्ठिदे आदेसुक्कस्सजोगट्ठाण
दव्वं होदि ।

आयुष्य के उत्कृष्ट द्रव्य को उत्कृष्ट बन्धक काल से अपवर्तित करने पर प्राप्त होने
वाला संख्याप्रमाण—आदेश उत्कृष्ट योगस्थानद्रव्य ।

.०४१ आभियोगिएसु—आभियोगेसु (आभियौगिक)

— भग० श ३।उ ५।प्र २१६।पृ० १६६

अभियोग में रत रहनेवाला देवों का एक वर्ग विशेष ।

मूल—मायी णं भंते ! तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं
करेइ, × × × अणयरेसु आभियोगिएसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ ।

टीका—तत्र आभियोगिऽपि विकुर्वणा इति मन्तव्यम्—विक्रियारूपत्वात्
तस्य । ‘अन्नयरेसु’ त्ति आभियोगिकदेवा अच्युतान्ता भवन्ति इति कृत्वा
अन्यतरेषु इत्युक्तम् ।

अभियोग—विक्रिया के द्वारा नये-नये रूप धारण करनेवाला एक देवों का वर्ग तथा

अभियोगी भावना के द्वारा ख्याति की इच्छा रखनेवाले साधुओं का परभव में उत्पत्ति स्थान—आभियौगिक ।

अच्युत कल्प पर्यन्त के देव आभियौगिक कहलाते हैं ।

०४२ आयजोगे (आत्मयोग)

—सूय० श्रु २।आ२।सू ४२

स्वस्थ मन की शुभ प्रवृत्ति ।

× × × एवं से भिक्खू आयही × × × आयजोगे × × × आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि × × × ।

टीका—× × × आत्मयोगः कुशलमनः प्रवृत्तिरूपः स यस्यास्ति—स आत्मयोगी × × × आत्मानं संयमेन संसारचक्रान्निष्कासयतीति × × × ।

संयम के द्वारा संसारचक्र से आत्मा को निष्कासित करने के लिए अध्यवसाय के द्वारा स्वस्थ मन की संयम की दिशा में प्रवृत्ति—आत्मयोग ।

०४३ आयप्पओगेण (आत्मप्रयोग)

—भग० श ३।उ ४।प्र १६८।पृ० १६३

स्वकीय प्रयोग अर्थात् पराक्रम ।

मूल—गोयमा ! आयप्पओगेण गच्छइ, नो परप्पओगेण गच्छइ ।

टीका—‘आयप्पओगेण’ ति न परप्रयुक्त इत्यर्थः ।

यहाँ प्रकरण वायुकाय का है । किसी भी काय की गति करने में निमित्तभूत स्वकीय प्रयोग अर्थात् पराक्रम—आत्मप्रयोग ।

०४४ आययट्ठिया जोगा (आयतार्थ योग)

—उत्त० अ २६।गा ३४

यथालाभ से सन्तोष तथा पर लाभ के प्रति इच्छा न करानेवाला योग ।

संभोगपच्चक्खाणेणं आलम्बणाइं खवेइ । निरालम्बणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति । सएणं लाभेणं संतुस्सइ परलाभं तो आसाएइ × × × ।

संभोग प्रत्याख्यान से जिनके आलम्बन नष्ट हो गये हैं उनके अर्थात् निरालम्बन साधक के होनेवाला योग—आयतार्थ योग ।

०४५ आराहिय-नाण-दंसण-चारित्तजोग (आराधित-ज्ञान-दर्शन-चारित्र्ययोग)

—सम० प्रकी ६४

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना ।

आराधिता ज्ञानदर्शनचारित्र्ययोगा येस्ते × × × ।

जिस साधना के द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना होती है वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र्ययोग ।

०४६ आहारगामीससरीरकायप्पओगे (आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोग)

आहारकमिश्र शरीर रूप काय का व्यापार ।

—पण्ण० १६।सू १०६८

पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा— $\times \times \times$ आहारगामीससरीरकाय-
प्पओगे १४ $\times \times \times$ ।

टीका—आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगः आहारकादौदारिकं प्रविशतः, एतदुक्तं भवति—यदा आहारकशरीर भूत्वाकृतकार्यः पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति तदा यद्यपि मिश्रत्वमुभयनिष्ठं तथाप्यौदारिके प्रवेश आहारकबलेनेत्याहारकस्य प्रधानत्वात् तेन व्यपदेशो नौदारिकेणाहारकमिश्रमिति ।

आहारक शरीर धारण कर उस शरीर से कृतकार्य होकर पुनः औदारिक शरीर में प्रवेश करते समय यद्यपि मिश्रता दोनों की समान रहती है तथापि आहारक शरीर के बल से प्रवेश करने के कारण आहारक शरीर-काय-प्रयोग ।

०४७ आहारगसरीरकायप्पओगे (आहारकशरीरकायप्रयोग)

—पण्ण० व १६।सू १०६८

आहारक शरीर रूप काय का व्यापार ।

पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा— $\times \times \times$ आहारगसरीरकाय-
प्पओगे १३ $\times \times \times$ ।

टीका—आहारकशरीरकायप्रयोगः आहारकशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य ।

आहारक शरीर की पर्याप्ति से पर्याप्त आहार शरीर रूप काय का व्यापार—आहारक शरीर काय प्रयोग ।

०४८ आहारसन्नजोगा (आहारसंज्ञायोग)

—प्रवसा० द्वा । गा ८४५

आहारसंज्ञा प्राप्ति निमित्त होनेवाली चेष्टा ।

सोइंदिण एवं सेसेहिवि जं इमं तओ पंच ।

आहारसन्नजोगा इय सेसाहि सहस्सदुगं ॥

टीका—‘पृथिवीकाये’ पृथिवीकायामाश्रित्य पृथिवीकाथारम्भमित्यभिलापेनेत्यर्थः सम्भवन्ति—स्युर्दश भेदाः—दश शीलविकल्पाः, अप्कायादिष्वपि नवसु स्थानेषु, अपिशब्दो दशेत्यस्येह सम्बन्धनार्थः इत्यनेन क्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः ‘पिण्डियं तु’ त्ति प्राकृतत्वात् पिण्डिताः पुनः सन्तः अथवा पिण्डितं—पिण्डमाश्रित्य शतं शतसंख्याः स्युरिति, श्रोत्रेन्द्रियैतत् शतं लब्धं, शेषैरपि चक्षुरादिभिर्यद्—यस्यादिदं शतं प्रत्येकं लभ्यते, ततो मिलितानि पञ्च शतानि स्युः, पञ्चत्वादिन्द्रियाणं, एतानि आहारसंज्ञायोगलब्धानि इति, एवं शेषा-

भिरपि भयसंज्ञादिभिस्तिसृभिः पञ्च पञ्च शतानि स्युः सर्वमीजने च सहस्र-
द्वयं स्यात्, यतश्चतस्रः संज्ञा इति, एतत्सहस्रद्वितयं मनोयोगेन लब्धं × × × ।

पृथ्वीकाय, अप्काय आदि १० के आरम्भ में श्रोत्रेन्द्रिय की अपेक्षा से प्रत्येक में दस भेद होते हैं, जो आहार संज्ञायोग से प्राप्त होते हैं ।

०४९. आहारसमित्तियोगेण (आहारसमित्तियोग)

—पण्हा० अ ६।द्वा १ सू २०।पृ० ६८८

साधु का आहार में संयम रूप व्यापार ।

चउत्थं-आहारएसणाए सुद्धं उंछं × × × आहार समित्तियोगेण
भाविओ भवति अण्पा, × × × अहिंसए संजए सुसाहू ।

टीका—प्राणधारणार्थतया—जीवितव्यरक्षणायेत्यर्थः, संयतेन—साधुना
समितं यतनापूर्वकं एवमुना प्रकारेण आहारसमित्तियोगेन भावितो भवति
अन्तरात्मा ।

आत्मा को भावित करने में एक कारण भूत, साधु का शुद्ध तथा अल्प मात्रा में
ग्रहण करने में यत्नवान् रहना—आहार-समित्तियोग ।

०५०. इत्थीकहविरतिसमित्तियोगेण (स्त्रीकथाविरतिसमित्तियोग)

—पण्हा० अ ६।द्वा ४।सू ८।पृ० ७०१

स्त्री सम्बन्धी कथा के प्रति विरति रूप संयम का होना ।

मूल—चित्तिं—नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा—× × × एवं
इत्थीकहविरतिसमित्तियोगेण भावितो भवति अंतरण्पा, × × × जित्तेदिण
बंभवेरगुत्ते ।

टीका—× × × स्त्री-सम्बन्धीनीः कथाः × × × तपःसंयमब्रह्मचर्यो-
पघातिनीः न कथाः कथयितव्याः । × × × एवं स्त्रीकथाविरतिः एवमुना
प्रकारेण स्त्रीकथाविरतिसमित्तियोगेन भावितो—वासितो भवति अन्तरात्मा-
जीवः ।

आत्मा को भावित करने में बाधक, संयम और ब्रह्मचर्य के उपघातक स्त्री-सम्बन्धी
कथादि के प्रति विराग धारण कर संयम में रहना—स्त्रीकथाविरतिसमित्तियोग ।

०५१. इत्थीरूपविरतिसमित्तियोगेण (स्त्रीरूपविरतिसमित्तियोग)

—पण्हा० अ ६।ज १।सू ६।पृ० ७०२

स्त्री रूप—सौन्दर्य के प्रति विराग रूप संयम का पालन ।

मूल—तत्तिं—नारीण हसिय-भणिय-चेट्ठिय × × × अणुचरमाणेण
बंभवेरं न चख्खुसा न मणसा न वयसा णत्थेयव्वाइं पावकम्माइं । एवं इत्थी-

रूपविरतिसमितियोगेन भावितो भवति अंतरप्पा, × × × जितेदिण
बंभचेरगुत्ते।

टीका—नारीणां—स्त्रीणां हसितं हास्यं विकारं नर्मादि भणितं × × ×
अनुचरता—ब्रह्मव्रतमासेवता यतिना न चक्षुषा द्रष्टव्यानि अभिलाषतया दृष्टा-
दृष्टि न वध्नातीत्यर्थः । न मनसा चिन्तयितव्यानि । × × × एवमुक्तप्रकारेण
स्त्रीरूपविरतिसमितियोगेन भावितो भवति अन्तरात्मा—जीवः × × × ।

आत्मा को भावित करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का सेवन करने वाले साधु का नारी
के सौन्दर्य को देखने, हास्यादि के सुनने या मन में अभिलाषा करने के प्रति विराग धारण
कर संयम का पालन करना—स्त्रीरूपविरतिसमितियोग ।

.०५२ इरियासमितियोगेन (ईर्यासमितियोग)

—पण्हा० अ ६।६। १।सू १७।पृ० ६८७

ईर्या-गमन में सावधानता रूप योग-व्यापार ।

मूल—एवं इरियासमितियोगेन भावितो × × × अहिंसए संजए
सुसाह ।

टीका—ईरितव्यं—गन्तव्यं × × × । ईर्यासमितिव्यापारेण भावितो—
वासितो भवति अन्तरात्मा—जीवः ।

अन्तरात्मा को वासित—पवित्र करने में एक कारणभूत गमन करते समय क्षुद्र
जन्तुओं की हिंसा से बचने के लिए संयम बरतना—ईर्यासमितियोग ।

.०५३ उक्कडजोगी (उत्कटयोगी)

—कर्म० भा ५।गा ८६।पृ० १०५

योग का उत्कृष्ट व्यापार करनेवाला ।

अप्पयएपयडिबंघी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो ।

कुणइ पएसुक्कोसं, जहन्नयं तस्स बच्चासे ॥

टीका—‘उत्कटयोगी’ उत्कटवीर्यवान्, सर्वोत्कृष्टयोगव्यापारे वर्तमान
इत्यर्थः ।

उत्कृष्ट प्रदेशों को बाँधने के लिए सर्वतः उत्कृष्ट योग-व्यापार में वर्तमान संशी
पर्याप्त जीव—उत्कटयोगी ।

.०५४ उक्कडजोगी (उत्कृष्टयोग)

—गोक० गा २१०

उत्कृष्ट योग का धारक ।

उक्कडजोगो सण्णी पज्जत्तो पयडिबंघमप्पदरो ।

कुणदि पदेसुक्कस्सं जहण्णये जाण विवरीयं ॥

जो संज्ञी पर्याप्त जीव अल्प प्रकृति बन्ध तथा उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है उसको उत्कृष्ट मन, वचन, काय योग का कर्ता या 'उत्कृष्ट योग' कहा गया है।

.०५५ उक्कस्सजोगट्ठाणजीवे (उत्कृष्टयोगस्थानजीव)

—षट्० खं ४, २, ४।सू २८।टीका।पृ १०।पृ० ६८

उत्कृष्ट योगस्थान में बरतने वाले जीव।

पुणो जवमज्झं पडिरासिय तत्थ एगपक्खेवे अवणिदे तदणंतरजोगट्ठाण-जीवपमाणं होदि। तं पडिरासिय विदियपक्खेवे अवणिदे तदणंतरउवरिम-जोगट्ठाणजीवपमाणं होदि। एवं णेद्वं जाव उक्कस्सजोगट्ठाणजीवे।

(यवमध्य में सबसे अधिक जीवों की सत्ता रहती है) यवमध्य को प्रति राशि में उसमें से एक प्रक्षेप के कम करने पर उससे आगे के योगस्थान के जीवों का प्रमाण सिद्ध होता है। उसको प्रतिराशि में विभाजित कर उसमें से द्वितीय प्रक्षेप के कम करने पर उससे ऊपर के योगस्थान के जीवों का प्रमाण होता है। इस प्रकार विभाजित करते जाने पर अन्त में प्राप्त होनेवाला जीव प्रमाण —उत्कृष्टयोगस्थानजीव।

.०५६ उक्कस्सजोगकाले (उत्कृष्टयोगकाल)

—षट्० खं ४, २।सू १०।टीका।पृ १०।पृ० ३६

योग का उत्कृष्ट काल।

उक्कस्सजोगकाले आउए बंधाविदे जहण्णजोगेण आउयं बंधमाणस्स णाणावरणक्खयादो असंखेज्जगुणदब्बक्खयदंसण।दो।

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के अनुसार यद्यपि आयुबन्ध जघन्य योग के द्वारा होता है।

जघन्य योग के द्वारा आयु बाँधने वाले जीव के जो ज्ञानावरणीय द्रव्य का जो क्षय होता है, उसमें बाधक— उत्कृष्टयोगकाल।

.०५७ उक्कस्साइं जोगट्ठाणाइं (उत्कृष्ट योगस्थान)

—षट्० खं ४, १।सू ७१।टीका।पृ ६।पृ० ३४३

उत्कृष्ट—उत्तम योगस्थान।

कम्मइयस्स उक्कस्सपरिसादनकदी कस्स ? जो जीवो तीससागरोवम-कोडाकोडीओ बेहि सागरोवमसहस्सेहि य ऊणियाओ बादरेसु अच्छिदो, तग्गि-
× × × बहुसो उक्कस्साइं जोगट्ठाणाइं गदो, ××× तदो उवट्ठिदो बादरतसेसु उववण्णो।

कर्मण शरीर की उत्कृष्ट परिशातन कृष्टि करनेवाला जीव दो हजार सागरोपम से कम तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक बादर जीवों में रहता है तथा वहाँ से बादरत्रय में उत्पन्न होने के कतिपय कारणों में एक कारण उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त करना।

०५८ उक्कस्सेण जोगेण (उत्कृष्ट योग)

—षट्० खं ४, १।सू ७१।टीका।पृ ६।पृ० ३४३

योग का उत्कृष्ट—उत्तम रूप ।

कम्मइयस्सबुक्कस्सपरिसादणकदी कस्स ? जो जीवो तीससागरोपम-
कोडाकोडीओ बेहि सागरोपमसहस्सेहि य ऊणियाओ बादरेसु अच्छिदो, तम्हि
× × × उक्कस्सेण जोगेण आहारिदो, × × × तदो उवट्ठिदो बादरतसेसु
उववण्णो ।

कर्मण शरीर की उत्कृष्ट परिशातनकृति करनेवाला जीव दो हजार सागरोपम से
हीन तीस कोड़ाकौड़ी सागरोपम काल तक बादर जीवों में रहता है । पुनः बादरत्रस में
उत्पन्न होने के लिए कतिपय कारणों में एक कारण उस स्थिति में आहार लेने की प्रवृत्ति—
उत्कृष्ट योग ।

०५९ उत्तसव्वजोगेहि (उक्तसर्वयोग)

—षट्० खं १, ८।सू १०५।टीका।पृ ५।पृ० २६०

जिन योगों को एक साथ मिलाकर अल्पबहुत्व का विवेचन किया गया गया है
वे सभी ।

मूल—जोगाणुवादेण पंचमणजोगि-पंचवच्चिजोगि-कायजोगि-ओराजिय-
कायजोगीसु तीसु अद्दासु उवसमा पवेसेण तुल्ला थोवा ।

टीका—एव्वेहि उत्तसव्वजोगेहि सह उवसमसेदि च्चदंताणं बुक्कस्सेण
अउवण्णत्तमत्थि त्ति तुल्लत्तं परूविदं ।

जिन योगों की अपेक्षा से उपशम श्रेणी पर चढ़नेवाले जीवों की संख्या १२ होती
है उनको उक्तसर्वयोग कहा गया है ।

०६० उववादजोगठाणा (उपपादजोगस्थान)

—गोक० गा २१६

उत्पत्ति के समय जीव के होनेवाले जोग का स्थान ।

उववादजोगठाणा भवादिसमयट्ठियस्स अवरवरा ।

चिग्गहइजुगइगमणे जीवसमासे मुण्येव्वा ॥

पर्याय धारण करने के प्रथम समय में वर्तमान जीव के होनेवाला योगस्थान—
उपपादयोगस्थान ।

जो जीव वक्रगति (बीच में मोड़ लेकर) से नवीन पर्याय धारण करता है उसमें
जघन्य उपपादयोगस्थान होता है तथा जो जीव ऋजुगति (सीधा) नवीन पर्याय—शरीर
धारण करता है उसमें उत्कृष्ट उपपाद योगस्थान होता है ।

०६१ एगजोगो (एकयोग)

—षट्० खं १, ८।सू ३।टीका।पृ ५।पृ० २४५

एकयोग अर्थात् एक समान कर्म धारण करनेवाले जीवों का एक समान या वर्ग ।

उवसंतकसायस्स कसाउवसामगाणं च पञ्चासत्तीए अमावस्स संदंसण-
फलो । जेसि पञ्चासत्ती अत्थि तेसिमेगजोगो, × × × ।

उपशान्तकषाय तथा कषायों का उपशमन करनेवालों में प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपता नहीं रहती है, जिन जीवों के समीपता रहती है, उस वर्ग को कहा जाता है—एकयोग ।

०६२ एयजोगसमाउत्तो (एतदुयोगसमायुक्त)

—उत्त० अ ३४ । गा २४

जिसमें सभी योग वर्तमान रहते हों ।

आरम्भाओ अविरओ खुहो साहस्सिओ नरो ।

एयजोगसमाउत्तो नीललेसं तु परिणामे ॥

नीललेस्या में परिणमन करनेवाले को × × × आरम्भ से अविरति, क्षुद्रता तथा साहस—इन योगों से युक्त रहने के कारण एतदुयोगसमायुक्त कहा गया है ।

०६३ जोगसंगहे (योगसंग्रह)

—पण्हा० अ १०। द्वा ५ । सु १ । पृ० ७०४

योग—मन-वचन-काय के व्यापारों का संग्रह ।

मूल—एगे असंजमे । दो चेव राग-दोसा । × × × । जोगसंगहे सुरिदा ।

× × × अमूढमण-वयण-कायगुत्ते ।

टीका—जोगसंगहे ३२ अथ द्वात्रिंशत्योगसंग्रहाः—युज्यन्ते इति योगाः मनोवाक्कायव्यापारास्ते चेह प्रशस्ता विवक्षितास्तेषां शिक्षाचार्यगतानां आलोचनादिभिरपलापादिना प्रकारेण संग्रहणानि संग्रहाः प्रशस्तयोगसंग्रहत्वात् आलोचना अत एव तथोच्यते ते च द्वात्रिंशत् भवन्ति ।

संवराभिलाषी साधु के लिए करणीय शिक्षाचार्य के द्वारा आलोचनादि मन-वचन-काय के प्रशस्त व्यापारों का संग्रह—योग संग्रह ।

आलोचनादि ३२ बत्तीस प्रकार योग संग्रह के अन्तर्भूत हैं, जो साधु के लिए करणीय हैं ।

०६४ ओग्गहसमितिजोगेण (अवग्रहसमितियोग)

किसी भी वस्तु के आशा के बिना ग्रहण करने में संयम रखना ।

मूल—बित्थिं—आरामुज्जाण - काणण × × × ओग्गहसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा, × × × दत्ताणुण्णाय-ओग्गहरुई ।

टीका—अवग्रहे अनुज्ञातेऽपि उपाश्रये मध्यगततृणाद्यपि अनुज्ञां बिना ग्रहीतुं न कल्पते एतावता तदपि न ग्राह्यम्, एतदेवाह यत्किञ्चिदपि विलोक्यते (यस्मिन्) तत् (अहः तस्मिन्) अहनि अहनि—प्रतिदिनं उपाश्रयाद्यनुज्ञावत् सर्वं अनुज्ञाप्य ग्रहीतव्यम्, एवं—उक्तसूत्रनीत्या अवग्रहसमितियोगेन, भावितो—वासितो भवति अन्तरात्मा जीवः ।

आत्मा की वासित करने के लिए आज्ञा प्राप्त कर उपाभ्रयादि में रहते हुए साधु का उपाभ्रय में स्थित तृणादि भी बिना आज्ञा के ग्रहण न करने रूप संयम में हृदय का पालन करना—अवग्रह समिति योग ।

०६५ ओघसजोगिरासि (ओघसयोगिराशि)

—षट्० खं १, दासू ५ दाटीकापु ५।पृ० २७४

औघिक सयोगिकेवलियों की राशि ।

मणुस-मणुसपज्जत्तपसु ओघसजोगिरासि उविय हेट्टिमरासिणा ओवट्टिय गुणगारो उप्वादेद्वो ।

मनुष्य और मनुष्य-पर्याप्त में से निकाली हुई वह राशि, जिसमें अधस्तन राशि से भाग देकर भागफल प्रमाण संचयकाल की अपेक्षा सयोगिकेवलियों के संख्यात गुणन का गुणकार बनता है वह—ओघसयोगिराशि ।

०६६ ओराजियमीससरीकायप्पओग (औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोग)

—पण० प १६।सू १०६८

औदारिकमिश्र शरीर रूप काय का प्रयोग अर्थात् व्यापार ।

पण्णरसबिहे पओगे पण्णत्ते, तंजहा— $\times \times \times$ ओराजियमीससरीर-कायप्पओगे $१० \times \times \times$ ।

टीका—‘औदारिकमिश्रकायशरीरप्रयोग’ इति औदारिकं च तन्मिश्रं च औदारिकमिश्रं, केन सहमिश्रितमिति चेत् ? उच्यते, कर्मणेन, तथा चोक्तं निर्युक्तिकारेण शस्त्र (आहार) परिज्ञाध्ययते—‘जोएणं कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो । तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥

कर्मण—कर्मप्रधान शरीर से मिश्रित प्रधानीभूत औदारिक शरीर रूप काय का प्रयोग-योग अर्थात् चेष्टाएँ—औदारिक-शरीरकायप्रयोग ।

०६७ ओराजियसरीरकायप्पओगे (औदारिकशरीरकायप्रयोग)

—पण्ण० प १६।सू १०६८

औदारिक शरीर रूपकाय की चेष्टा ।

पण्णरसबिहे पओगे पण्णत्ते, तंजहा— $\times \times \times$ ओराजियसरीरकायप्प-ओगे $९ \times \times \times$ ।

टीका—‘ओराजियसरीरकायप्पओगे’ इति $\times \times \times$ औदारिकमेवशरीरं तदेव पुद्गलस्कन्धसमुदायरूपत्वात् उपवीयमानत्वाच्च कायः औदारिकशरीर-कायः तस्य प्रयोगः औदारिकशरीरकायप्रयोगः, अयं च तिरश्चो मनुष्यस्य च पर्याप्तस्य $९ \times \times \times$ ।

तियै च ओर मनुष्यो में पर्याप्त अवस्थामें औदारिक पुद्गल स्कन्ध समुदाय रूप शरीर की चेष्टा—औदारिकशरीरकायप्रयोग ।

०६८ किट्टिगदजोगो (कृष्टिगतयोग)

—षट्० खं ४, २, ४।सू १०।टीकापु १०।पृ० १२५

योग की क्रियाओं का मन्द होना ।

किट्टिकरणे णिहिट्ठे से काले पुव्वफहयाणि ख अपुव्वफहयाणि किट्टिस-
रूवेण परिणामेति । ताथे किट्टीणमसंखेज्जे भागे वेदयति । एवमंतोमुहुत्तकालं
किट्टिगदजोगो सुहुमकिरियमप्पडिवादिज्ञाणं ज्ञायदि ।

सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती ध्यान का ध्याता कृष्टिकरण के समाप्त होने पर पूर्वस्पर्द्धक
और अपूर्वस्पर्द्धक का कृष्टिस्वरूप से परिणमन करता है । इस समय में उसके कृष्टियों के
असंख्यत बहुभाग का वेदन होता है । इस प्रकार अन्तर्मूर्त काल पर्यन्त वेदन होना
कृष्टिगतयोग ।

०६९ कमविसुद्धाओ लेसाओ (क्रमविशुद्ध लेश्या)

—ध्याश० गा ६६

होति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय-पम्ह-सुक्काओ ।

धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मंदाइभेयाओ ॥

टीका — × × × 'क्रमविशुद्धाः' परिपाटिविशुद्धाः, काः १—लेश्याः, ताश्च
पीत-पद्म-शुक्लाः, एतदुक्तं भवति—पीतलेश्यायाः पद्मलेश्या विशुद्धा तस्या अपि
शुक्ललेश्येति क्रमः, कस्यैता भवन्त्यत आह—'धर्मध्यानोपरातस्य' धर्मध्यान-
युक्तस्येत्यर्थः × × × ।

०७० कम्मइयकायजोगिअसंजदसम्मादिट्ठीणं (कामककाययोगी असंयत- सम्यग्दृष्टि)

—षट्० खं १, ७।सू ४०।टीकापु ५।पृ० २२१

कामककाययोग के धारक असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीव ।

टीका—कम्मइयकायजोगिअसंजदसम्मादिट्ठीणं ओवसमियखइय-खओ-
वसमियभावेहि, सजोगिकेवलीणं खइएण भावेण ओघम्मि गदगुणट्ठाणेहि
साधम्ममुबलंभा ।

कामककाययोग के धारक असंयत सम्यग्दृष्टि जीव में औपशमिक, क्षायिक तथा
क्षायोपशमिक भाव होते हैं और सयोगिकेवली में क्षायिक भाव होता है, अतः क्षायिक भाव
की अपेक्षा से सयोगिकेवली से साधर्म्य रखनेवाला—कामककाययोगी असंयतसम्यग्दृष्टि ।

०७१ कम्मासरीरकायप्पओगे (कामणशरीरकायप्रयोग) —पण्ण० प १६।सू १०६८

किसी कर्म—कार्यविशेष के सम्पादनार्थं विहित तेजस-कामण शरीर की चेष्टा ।

पण्णरसविहे पओग पण्णत्ते—तं जहा—× × × कम्मासरीरकायप्पओगे
१५ × × × ।

टीका—तैजसकर्मणशरीरप्रयोगे विग्रहगतौ समुद्धातावस्थायां वा सयोगिकेवलिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु, इह तैजसं कर्मणेन सहाव्यभिचारीति युगपत्तैजसकर्मणग्रहणम् ।

किसी जीव के विग्रहगति करते समय तथा सयोगिकेवली के समुद्धात के आठ समयों में से तृतीय, चतुर्थ और पंचम समय में होनेवाले तैजस-कर्मण शरीर के चेष्टा—कर्मणशरीरकायप्रयोग ।

तैजस शरीर-कर्मण शरीर के साथ अव्यभिचरित होकर रहता है ।

०७२ कय-तिजोय (कृत तीन योग)

—वीरजि० संधि १।कड १

कय-तिजोय-सुणिरोहु अणिट्टु ।

किरिया-छिण्णइ ज्ञाणि परिट्टिउ ॥

भगवान् ने अपने मन, वचन और काय इन तीनों योगों का भले प्रकार निरोध करके छिन्न क्रिया-निवृत्ति नामक ध्यान धारण किया ।

०७३ करण जोग (करण योग)

—प्रवसा गा ८४०

०७४ कसायजोगा (कषाययोग)

—गोक० गा ७८६

कर्म के आगमन के कारणभूत कषाय और योग ।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।

पण बारस पणुवीसं पण्णरसा होंति तब्भेया ॥

कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ—अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी तथा संज्वलन के भेद से १६ तथा हास्य, रति आदि नौ नोकषाय मिलाकर २५; और मनोयोगादि १५ जो कर्म आगमन के कारण हैं, वे—कषाययोग ।

०७५ कायजोग चलणा (काययोग चलना)

—भग श १७।उ ३

०७६ कावोय-नील-कालालेस्साओ (कापोत-नील-कृष्णलेश्या)—ध्याश० गा १४

कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइसंकिजिह्वाओ ।

अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥

टीका—कापोत-नील-कृष्णलेश्याः, किम्भूताः ?—‘नातिसंखिलष्ट’ शैश्व-ध्यानलेश्यापेक्षया नातीवाशुभानुभावा भवन्तीति क्रिया, कस्येत्यत्यात आह—आर्तध्यानोपगतस्य, जन्तो रिति गम्यते, किंनिबन्धना एताः ? इत्यत आह—कर्मपरिणामजनिताः × × × ।

०७७ गतिकसायलिंगमिच्छादंसणऽण्णाणऽसंजआसिद्धत्तेस्साओ (गतिकसाय-
लिंगमिच्छादर्शनाज्ञानासंयमसिद्ध लेश्या । —सूच० अ ५ । चू सू ६६

तत्थोदइयाओ गतिकसायलिगमिच्छादंसणऽण्णाणऽसंजआसिद्धलेसाओ
जहासंखेण चतुचतुतिणिणएक्केक्केक्केक्कछभेदा, × × × लेस्सा कण्हलेस्सादि।

•०७७ गयजोगरुस (गतियोग)

—गोक गा० ५६८

योग—मन, वचन और काय के व्यापार से रहित ।

गयजोगरुस य बारे तदियाउगगोद इदि बिहीणेसु ।

णामस्स य णव उद्वा अट्ठेव य तित्थहीणेसु ॥

बारह उदय प्रकृतियों में से वेदनीय, आयु और गोत्र—ये तीन कम कर देने पर नाम कर्म की नौ प्रकृतियों के तथा जिनमें तीर्थंकर प्रकृति नहीं होती उनमें उसको भी कम देने पर आठ प्रकृतियों के उदय योग्य स्थान—गतयोग अर्थात् अयोगिकेवली ।

•७९ गुण-जोगंतरगमणेहि (गुण-योगान्तरगमन)

—षट्० खं १,६।सू १५६।पु ५।पृ० ८८

गुणान्तर और योगान्तर में गमन ।

मूल—सासणसम्मादिट्ठि-सम्मामिच्छादिट्ठीणमंतरं × × × एगजीवं एडुष
णत्थि अंतरं, णिरंतरं । १५४, १५६ ।

टीक—कुदो ? गुण-जोगंतरगमणेहि तदसंभवा ।

सयोगित्व की अपेक्षा से सासादनसम्यग्दृष्टि तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवों की निरन्तरता में बाधक—गुण-योगान्तरगमन ।

• ०८० घोडणजोग (घोटमानजोग)

— गोक० गा २१६

घटने-बढ़ने वाला योग—मन, वचन और काय का व्यापार ।

घोडणजोगोऽसणी निरयदुसुरनिरयआउगजहणं ।

अपमत्तो आहारं अयदो तित्थं च देवचक्र ॥

असंखी जीव तथा नरकद्वय, जो देवायु तथा नरकायु का प्रदेश बन्ध करते हैं, आहारकद्वय के अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती तथा असंयत गुणस्थानवर्ती जो तीर्थंकर प्रकृति और देवचतुष्क—इन पाँच प्रकृतियों का जघन्य प्रकृतियों का बन्ध करते हैं—ये सब घोट-मान योग के द्वारा होते हैं ।

०८१ घोलमाणजहणजोगेण (घोलमान जघन्य योग) — षट्.० पृ १६।पृ७ ४१५

जिसका जघन्य योग घुलनशील हो रहा हो अर्थात् अधोमुख हो रहा हो ।

तिणिणसंजलण-पुरिसवेदाणं जहण्णओ पदेससंकमो कस्स ? उवसामयस्स अपच्छिमसमयपबद्धं घोतमाणजहण्णजोगेण बद्धं अपच्छिमसंकामयंतस्स जहण्णओ पदेससंकमो ।

उपशामक तीन संज्वलन पुरुषवेद के जघन्य प्रदेश संक्रमण में कारण भूत अन्तिम समय प्रबद्ध कर्म का संक्रमण होना है, उसके बन्ध का कारण—घोटमान जघन्य योग है ।

०८२ चउजोगजुअं (चतुर्योगयुग)

—प्रवसा० गा १२६७

चार भावों की सन्धि ।

दुगयोगो सिद्धाणं केवलिसंसारियाण तियजोगो ।

चउजोगजुअं चउसुवि गईसु मणुयाण पणजोगो ॥

टीका— $\times \times \times$ पञ्चसु चतुष्कसंयोगेषु मध्ये चतुर्योगयुगं—चतुः-संयोगभङ्गद्वयं चतसृष्वपि गतिषु संभवति, तथाहि—औपशमिकसम्यग्दृष्टे-रौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावचतुष्टयनिष्पन्नस्तृतीयो भङ्गः, क्षायिकसम्यग्दृष्टेस्तु औदयिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इत्येवं-रूपश्चतुर्थो भङ्गश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यत इति ।

चतुष्क संयोग पाँच होते हैं जिनमें दो भंग तो चारों गतियों में प्राप्त होते हैं, यथा—

उपशम सम्यग्दृष्टि में औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावों के संयोग को चतुर्योगयुक् कहते हैं । और—

क्षायिक सम्यग्दृष्टि में औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावों के संयोग को चतुर्योगयुक् कहते हैं ।

०८३ चरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणे (चरिमसमयअयोगिभवत्थकेवलज्ञान)

—ठाणा० स्था २।७१। सू. ६१। पृ ५०८

योगरहित अवस्था के अन्तिम समय में होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—अजोगिभवत्थकेवलणाणे दुविहे पणत्ते, तं जहा— $\times \times \times$ ।

अहवा—चरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव, $\times \times \times$ ।

टीका—न सन्ति योगा यस्य स न योगीति वा योऽसावयोगी— $\times \times \times$ 'अथवे' त्यादि, चरमः—अन्त्यः समयो यस्य सयोग्यवस्थायाः स तथा, $\times \times \times$ 'एव' मिति सयोगिसूत्रवत्प्रथमाप्रथमचरमाचरमविशेषणयुक्तमयोगिसूत्रमपि बाध्यमिति ।

जिसके मन आदि के व्यापार नहीं हैं अथवा जो मन आदि का व्यापार नहीं करता

है उस भवस्थ मनुष्य के अन्तिम समय में होनेवाला केवलज्ञान—चरमसमयसयोगिभवस्थ-
केवलज्ञान

०८४ चरिमसमयसजोगिभवस्थकेवलज्ञाने (चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान
—ठाण० स्था २। उ १। सू ६१। पृ० ५०६

सयोगी अवस्था के चरम अर्थात् अन्त समय में होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—संजोगिभवस्थकेवलज्ञाने दुविहे पणत्ते, तं जहा —पढम × × × ।

अहवा—चरिमसमयसजोगिभवस्थकेवलज्ञाने चेव, × × × ।

टीका—‘अथवे’ त्यादि, चरमः—अन्त्यः समयो सयोग्यवस्थायाः स
तथा ।

सयोगिभवस्थकेवलज्ञान का एक वैकल्पिक भेद—चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान ।

०८५ जयणघडणकरणचरियविणयगुणजोगसंपउत्ते (जयणघटणकरणचरित
विनय गुण योग संपयुक्त) —पणहा० ४।पृ १६६

०८६ जहणणये जोगे (जघन्य जोग) —गोक० गा २१५
अल्प रूप से योग का प्रयोग ।

सुहमनिगोदअपज्जत्तयस्स पढमे जहणणये जोगे ।

सत्तण्हं तु जहण्हं आउगबंधेवि आउस्स ॥

सूक्ष्मनिगोद लब्धपरायण जीव अपने पर्याय के प्रथम समय में जब आयु के अतिरिक्त
सात मूल प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है उस समय उसके होनेवाला योग—जघन्य
योग ।

०८७ जहणणपण जोगेण (जघन्य योग) —षट् खं ४, २। सू १०। पु १०। पृ० ३८

जघन्य योग अर्थात् योग की निम्न प्रक्रिया ।

जदा जदा आउयं बंधदि तदा तदा तप्पाभोग्गेण जहणणपण जोगेण
बंधदि ।

जब-जब आयुबन्ध होता है तब-तब उसका कारण होता है—तत्प्रायोग्य जघन्य
योग ।

०८८ जहणणुक्कस्सजोगा (जघन्य-उत्कृष्ट योग) —षट् खं ४, २, ४। सू १०। टीका। पु १०। पृ० ३६

योग का निम्नतम और उच्चतम रूप ।

कम्मद्विदिपढमसमयप्पहुडि जाव तिरुसे चरमसमओ स्ति ताव गुणिद-

कर्मस्थितपाओग्गाण जोगट्ठाणाणं पंतीए देसादिणियमेणावट्ठिदाए खगग्गाशा-
सरिसीए जहण्णुक्कस्सजोगा अत्थि ।

कर्मस्थिति के प्रथम समय से लेकर उसके अन्तिम समय तक गुणित कर्मांशिक जीव के योग्य योगस्थानों के देशादि के नियम से एक पंक्ति में अवस्थित रहनेवाला—जघन्य उत्कृष्ट योग ।

०८९ जहा-जोग (यथा-योगम्)

—धर्म० पृ० १४०

कालानुरूप-किरियं सुयाणुसारेण कुरु जहा-जोगं ।

जह केसिगणहरेणं गोयम गणहारिणो विहिया ॥

अर्थात् कालानुरूप से क्रिया को श्रुत के अनुसार यथा-योग करनी चाहिए । जैसे केशी स्वामी ने गोतम स्वामी के समीप कालानुरूप क्रिया—पंच महाव्रतादिका अनुसरण किया ।

०९० जोग (योग)

—दसवे० च २ । गा १५

सुकृत तथा दुष्कृत में प्रवृत्ति करानेवाली बुद्धि ।

जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्सा धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।

तमाहु जोए पडिबुद्धजीवी सो जीवइ संजमजीविणं ॥

जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष बराबर सावधान रहता है जिससे उसका मन दुष्प्रवृत्त न हो, उसकी इस प्रत्युत्पन्न बुद्धि को योग कहा गया है ।

०९१ जोगचलना (योगचलन)

—भग० श १७ । उ ३ । प्र ११

योगाश्रित पुद्गलों का व्यापार ।

कइबिहा णं भंते ! चलणा पणत्ता ? गोयमा ! तिबिहा चलणा पणत्ता,
तंजहा—सरीरचलणा इंदियचलणा जोगचलणा ।

टीका—अस्यौदारिकादेशचलना तत्प्रायोग्यपुद्गलानां तद्रूपतया परिणमने
व्यापारः शरीरचलना, एवमिन्द्रिययोगचलने अपि ।

योग प्रायोग्य पुद्गलों का ग्रहण कर उस रूप से परिणमन करने के लिए व्यापार होना—योगचलना ।

०९२ जोगट्ठाणसरिमगुणहाणीए (योगस्थान सरिम गुणहानि)

—षट् खं ४, २, ४ । सू २६ । टीका । पृ १० । पृ० १०५

योगस्थान की अन्तिम गुणहानि ।

जोगट्ठाणसरिमगुणहाणीए असंखेज्जदिभागे जीवगुणहाणी होदि सि
कुदो णव्वदे ? तंतजुत्तीदो ।

जीव के गुणहानि का प्रमाण आगम के अनुसार युक्तियुक्त योगस्थान के चरम गुणहानि रूप होता है ।

०९३ जोगट्टाणजीवा (योगस्थानजीव)

—षट्० खं ४, २, ४ । सूत्र २८ । टीका । पृ १० । पृ० ६६
विभिन्न योगस्थानों में रहनेवाले जीव ।

संपहि अणंतरोवणिध्वाए अवट्ठिदभागहारो रुवाहियभागहारो रुवूण-
भागहारो छेदभागहारो त्ति एदेहि अदुहि भागहारेहि जोगट्टाणजीवा उप्पा-
एदव्वा ।

अनन्तरोपतिधा के आधार पर अवस्थित भागहार, रूपाधिक भागहार, रूपोन
भागहार तथा छेद भागहार—इन चार भागहारों के द्वारा निष्पन्न संख्या प्रमाण—
योगस्थानजीव ।

०९४ जोगट्टाणा (योगस्थान)

—गोक० गा २१८

योग—मन, वचन काया—इनका स्थान ।

जोगट्टाणा तिचिहा उववादेयंतवड्ढिपरिणामा ।

भेदा एक्केक्कंपि ओइसभेदा पुणो तिचिट्ठा ॥

जीवसमास १४ होते हैं और ये सभी सामान्य, जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से तीन-
तीन प्रकार के हैं । इस प्रकार इनके ४२ भेद होते हैं—ये सभी योगस्थान हैं, क्योंकि सर्वत्र
योग वर्तमान रहता है ।

०९५ जोगजवमज्झस्स (योगयवमध्य)

—षट्० खं ४, २, ४ । सू २८ । पृ १० । पृ० ५७

योग रूप जी का मध्य भाग ।

एवं संसरिदूण स्थोवावसेसे जीविदव्वए त्ति जोगजवमज्झस्सुवरिमंतो-
मुहुत्तमच्छिदो ।

टीका—× × × जोगे चेव जवो, तस्स मज्झं जवमज्झं अट्टसमइय-
जोगट्टाणाणि त्ति उत्तं होदि ।

आठ समयवर्ती योगस्थान—योगयवमध्य ।

योगयवमध्य एक कालमान है ।

०९६ जोगंतरगमणेण (योगान्तरगमन)

—षट्० खं १ । ६ । सू १५३ । टीका । पृ ५ । पृ० ८७

एक योग से दूसरे योग में गमन करना ।

टीका—गुणंतरं गदस्स जीवस्स जोगंतरगमणेण विणा पुणो आगमणा-
भाषादो ।

अपने गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थान में गये हुए जीव का पुनः पूर्व गुणस्थान को प्राप्त करने में आवश्यक—योगान्तरगमन ।

०९७ जोगद्धाणं (योगाद्धा)

—षट्० खं १, ८ । सू ११६ । टीका । पु ५ । पृ० २६२

योग का अद्धा अर्थात् काल ।

जोगद्धाणं समासंकादूण तेण सामण्णशसिमोचट्टिय अप्पिदजोगद्धाण गुणिदे इच्छिद-इच्छिदरासीओ होति ।

जिस अपेक्षित योगकाल से गुणा करनेपर इच्छित सयोगी जीवों की राशि का ज्ञान होना वह सामान्य जीवों की राशि का भागफल रूप है और उसका भागहार है—योगाद्धा अर्थात् सभी योगों का कालमान ।

०९८ जोगपच्चओ (योगप्रत्यय) —षट्० खं ३ । सू ६ । टीका । पु ८ । पृ० २१

योगप्रत्यय अर्थात् कर्मबन्ध का एक कारण विशेष ।

जोगपच्चओ तिचिहो मण-वच्चि-कायभेएण ।

योग भी कर्मबन्ध का एक कारण है अतः कर्मप्रकृतियों के बन्ध-प्रकरण में कई प्रत्ययों में योगप्रत्यय भी कहा गया है ।

०९९ जोईसरं (योगेश्वर, युगीश्वर)

—ध्याश० गा १

मन, वचन और काय के उत्कृष्ट व्यापार वाला ।

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदद्धकम्मिधणं पणमिऊणं ।

जोईसरं सरणं ज्ञाणज्झयणं पवक्खामि ॥

टीका—× × × 'योगेश्वरं योगीश्वरं वा' तत्र युज्यन्ते इति योगाः—मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः तैरीश्वरः—प्रधानस्तं, तथाहि—अनुत्तरा एष भगवतो मनोवाक्कायव्यापारा इति × × × ।

मन, वचन और काय के उत्कृष्ट व्यापार तथा शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि से कर्मरूप ईन्धन को जिन्होंने दग्ध कर दिया है उनको योगेश्वर अथवा योगीश्वर कहा गया है ।

०१०० जोगक्खेमं (योगक्षेम)

—उत्त० अ ७।गा २४,

अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त की रक्षा के उपाय ।

कुसग्गमेत्ता इमे कामा सन्निरुद्धंमि आउए ।

कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेमं न संविदे ॥

०१०१ जोगक्खेम (योगक्षेम)

—नाया० १।५

०१०२ जोग-गुणंतरसंकंतीए (योग-गुणान्तरसंक्रान्ति)

—षट्० खं १।६।सू १६० टीका।पु ५।पृ० ८६

जीव का योगान्तर और गुणान्तर में संक्रमण ।

मूल—ओरालियमिस्सकायजोगीसु मिच्छादिद्वीणमंतरं केवच्चिरं कालादो होदि, णाणेगजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं, णिरंतरं ।

टीका—तस्मि जोग-गुणंतर संकंतीए अभावादो ।

औदारिक मिश्रकाययोग के धारक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवों की निरन्तरता में बाधक-योग गुणान्तरसंक्रान्ति ।

.०१०३ जोगट्टाणद्धाणं (योगस्थानाध्वान)

—षट्० खं ४, २, ४।सू. १२२।टीका।पु १०।पृ० ३६२

प्रक्षेप के आधार पर गुणहानि द्वारा योगस्थान प्राप्त करने का कालमान ।

रूचणदिवड्ढगुणहाणिमेत्तसयलपक्खेवाणं जदि दिवड्ढगुणहाणिमेत्त-जोगट्टाणद्धाणं लब्भदि तो दिवड्ढगुणहाणीय सगलपक्खेवभागहारे खंडिदे तत्थ एवखंडमेत्तेसु सगलपक्खेवेसु किं लभाभो त्ति पमाणेण फलगुणिदिच्छाप ओष-द्विदाएलद्धं जोगट्टाणद्धाणं होदि ।

एक कम डेढ़ गुणहानि मात्र सकल प्रक्षेपों का यदि डेढ़ गुणहानि मात्र योगस्थानाध्वान प्राप्त होता है तो डेढ़ गुणहानि द्वारा सकल प्रक्षेप के भागहार को खण्डित करने पर उसमें से एक खण्ड मात्र सकल प्रक्षेपों में कितना योगस्थानाध्वान प्राप्त होगा, इस प्रकार प्रमाण से फलगुणित इच्छा को अपवर्तित करने पर जो भागफल प्राप्त होता है, वह मान है योगस्थानाध्वान का ।

.०१०४ जोगधारासंचारो (योगधारासंचार)

—षट्० खं ४, २, ४।सू. १४४।टीका।पु १० पृ० ३६६

योग का धारावाहिक संचार ।

एत्थ जोगस्स थोव-बहुत्ते अवगदे खविद-गुणिदकम्मंसियाणं जोगधारा-संचारो णादुं सक्किज्जदि × × × ।

योग के अल्प-बहुत्व के द्वारा क्षपित कर्मांशिक और गुणित कर्मांशिक का जानने योग्य योग सम्बन्धी विचार—योगधारा संचार ।

.०१०५ जोगनिमित्तं (योगनिमित्त)

—भग० श १।उ ३।प्र १२७

जिस कार्य का निमित्त योग हो ।

कहणं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ? गोयमा ! पमाद-पञ्चया, जोगनिमित्तं च ।

टीका—‘जोगनिमित्तं च’ योगा मनःप्रभृतिव्यापाराः ते निमित्तं हेतुयंत्र

तत्, तथाबध्नन्ति इति, क्रियाविशेषणं चेदम्, एतेन योगाख्यश्चतुर्थः कर्मबन्ध-
हेतुरुक्तः ।

जिस कर्म के बन्ध होने में मनोयोगादि निमित्त बनता हो, तथा उसी रूप में उस कर्म का बन्ध होता हो वह योगनिमित्त ।

योगनिमित्त कांक्षा मोहनीय कर्मबन्ध का दूसरा कारण है । यहाँ पर योगनिमित्त क्रियाविशेषण माना गया है ।

.०१०६ जोगनिरोहं (योगनिरोध)

—उत्त० अ २६।सू ७३

योगों का निरोध-रुकना ।

अहाउयं पालइत्ता अन्तोमुहुत्तद्वावसेसाउए जोगनिरोहं करेमाणे × × ×
वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि विकम्मंसे जुगवं खवेइ :

केवली के आयुष्य के अन्तर्मुहूर्त मात्र काल शेष रहने पर वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र कर्म के क्षपण के लिए आवश्यक साधना-योगनिरोध ।

.०१०७ जोगनिरोहो (योगनिरोध)

—ध्याश० गा ३

समस्त योगों अर्थात् मन, वचन, और काय के व्यापार का रोध हो जाता ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावस्थानमेगवत्थुमि ।

छउमत्थाणं ज्ञाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥

टीका—× × × ‘योगनिरोधो जिनानां तु’ इति तत्र योगाः—तत्त्वत औदारिकादिशरीरसंयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव × × × अमीषां निरोधो योगनिरोधः, निरोधनं निरोधः, प्रलयकरणमित्यर्थः, केषां ?—‘जिनानां’ केवलजिनां तुशब्द एवकारार्थः स स्वावधारणे, योगनिरोध एव न तु चित्तावस्थानं, चित्तस्यैवाभावात्, अथवा योगनिरोधो जिनानामेव ध्यानं नान्येषाम् × × × ।

औदारिकादि शरीर के संयोग से होनेवाले समस्त आत्मपरिणाम रूप व्यापारों का रुक जाना—योग निरोध ।

केवलियों के चित्त का अभाव होने के कारण चित्तावस्थान रूप ध्यान नहीं होता है, अपितु योगनिरोध को ही उनका ध्यान माना गया है ।

.०१०८ जोगपञ्चखाणेणं (योगप्रत्याख्यान)

—उत्त० अ २६।सू ३८

योग का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग ।

जोगपञ्चखाणेणं अजोगत्तं जणयइ । अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ पुण्वबद्धं निज्जरेइ ।

नये कर्मों के बन्ध न होने तथा पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा करने में कारणभूत—
योगप्रत्याख्यान ।

जोगपञ्चखण्डाण (योगप्रत्याख्यान)

— भग० शु १७।उ ३

०१०९ जोगपडिसंलीणया (योगप्रतिसंलीनता) — भग० श २५।उ ७।प्र ११८

कायादि व्यापार के प्रति लीन होना ।

पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—इंदियपडिसंलीणया, कसाय-
पडिसंलीणया, जोगपडिसंलीणया × × × ।

टीका—अथ का सा योगप्रतिसंलीनता ? योगस्तद्रूपो भावस्तस्य करणं
यत्तत्तथा ।

योग—मन, वचन और काय का व्यापार, इनके प्रति उसी रूप से दत्तचित्त हो
जाना—योगप्रतिसंलीनता ।

०११० जोगपयय-चरियं (योगप्रत्यय-चरित)—पण्हा० द्वा ३।अ ३।सू ७।पृ० ६६०

समयानुकूल उचित व्यापार-प्रतिकार का निर्माण ।

मूल—रयणागरसागरं उम्मीसहस्समालाकुलाकुल × × × विरचित-
बलिहोमधूवउपचार-दिन्नरुधिरच्चणाकरणपयत-जोगपयय-चरियं, × × × समु-
हमज्जे हणंति गंतूणजणस्स पोते ।

टीका—योगेषु-प्रवहणोचितव्यापारेणु प्रयता ये ते तथा, विरचितं—
निर्मापितं सांयात्रिकैरित्यध्याहार्यं ।

जिस प्रकार नाविक संकट उपस्थित होने पर उचित दिशा में नाव को ले जाने में
यत्नवान् हो जाता है, उसी प्रकार समयानुसार समुचित व्यापार-यत्न का निर्माण करना—
योगप्रत्यय-चरित ।

०१११ जोगपययचरियं (योगप्रयतचरित)

— पण्हा० श्रु १।अ ३।सू ११

समुचित रूप से क्रिया-कलापों के सम्पादन में दत्तचित्त ।

लुद्धा धणस्स कज्जे × × × जोगपययचरियं × × × गंतूण जणस्स
पोते ।

टीका—योगेषु-प्रवहणोचितव्यापारेणु प्रयता ये ते तथा, विरचितं-निर्मा-
पितं सांयात्रिकैरित्यध्याहार्यम् ।

यहाँ पर नाविक का दृष्टान्त देकर स्पष्टीकरण किया गया है । जिस प्रकार चतुर
नाविक दत्तचित्त होकर अपनी नाव को यथास्थान ले जाता है उसी प्रकार अपने क्रिया-
कलाप को सुचारु रूप से सम्पादन करना—योगप्रयतचरित ।

०११२ जोगप्पवहे (योगप्रवह)

—भग० श १।उ ३।प्र १२८

योगों की असत्प्रवृत्ति ।

मूल—से णं भंते ! पमाए किंपवहे ? गोयमा ! जोगप्पवहे ।

टीका—‘जोगप्पवहे’ त्ति योगो मनः प्रभृति व्यापारः, तत्प्रवहत्वं च प्रमादस्य मद्याद्यासेवनस्य ।

मनः प्रभृति के व्यापार की प्रमादवश मद्यादि के आसेवन रूप असत्प्रवृत्ति होना—योगप्रवह ।

०११३ जोगपरिणामे (योगपरिणाम)

—ठाण० स्था ६।१८

मन, वचन, काय के व्यापार को योगपरिणाम कहा जाना ।

दसविधे जीवपरिणामे पणणत्ते, तंजहा-गतिपरिणामे × × × लेसापरिणामे जोगपरिणामे × × × ।

टीका—स च मनोवाक्कायभेदस्त्रिधेति × × × लेश्या परिणाम × × × अयं च योगपरिणामे सति भवति, यस्मान्निरुद्धयोगस्य लेश्यापरिणामोऽपैति, यतः समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमलेश्यस्य भवति ।

०११४ जोगवं (योगवान्)

—उत्त० अ ३४ । गा० २६

उत्कृष्ट योगों से युक्त ।

पयणुक्कोहमाणे य मायालोभे य पयणुए ।

पसन्नचित्ते दन्तप्पा जोगवं उपहाणवं ॥

यह प्रकरण पद्मलेश्या के परिणमन का है । पद्मलेश्या में परिणमन करनेवाले में क्रोध, मान, माया तथा लोभ की मात्रा प्रतनुक्षीण रहती है । उसको प्रसन्नचित्त, दान्तात्मा और योगवान कहा गया है ।

०११५ जोगवं उपहाणवं (योगवं उपधानं)

—उत्त०

वसे गुरुकुले निच्छं, जोगवं उवहाणवं ।

पियंकरे पियवाई, से सिक्खंलद्धुमरिहई ॥

जो सदा गुरुकाल में वास करता है, गुरु के अनुशासन में रहता है, जो समाधि में रहता है, श्रुत का अध्ययन करते समय तप करता है, जो प्रिय करता है और प्रिय बोलता है, वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है ।

०११६ जोगवसादो (योगवशात्)

—गोक० गा ४

योग की वशवर्तिता अर्थात् अल्पाधिकता ।

सिद्धाणंतिमभाग अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव ।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं ॥

यद्यपि यह आत्मा, सिद्ध जीवराशि जो अनन्तानन्त रूप है तथा अभव्व जीवराशि जो जघन्य अनन्त रूप है उनसे अनन्तगुणे समयप्रबद्ध अर्थात् एक समय में बंधनेवाले परमाणु समूह को बाँधती है, परन्तु योगवश—योगी की अल्पता अर्थात् आत्मप्रदेश के कम सकम्प होने से कम परमाणुओं का बन्ध होता है और योग की अधिकता अर्थात् आत्मप्रदेश के अधिक सकम्प होने से अधिक परमाणुओं का बन्ध होता है ।

‘०११७ जोगवाहियत्ताते (योगवाहितया)

—ठाण० स्था ६ । सू १३३

शास्त्रज्ञान की आराधना के लिए शास्त्रोक्त तपस्या करने वाला—समाधि में रहने वाला ।

दसहिं ठणेहिं जीवा आगमेसिभद्दत्ताए कम्मं पगरेति, तं जहा—अणि-
 दाणताते, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगच्चाहियत्ताते ।

टीका—× × × योगवाहितया श्रुतोपधानकारितया योगेन वा समा-
 धिना सर्वत्रानुत्सुकत्वलक्षणेन वहतीत्वेवं शीलो योगवाही तद्भावस्तत्तातया ।

‘०११८ जोगसच्चे (योगसत्य)

—सम० सम २७ । सू १ । पृ० ७७

योग—मन-वचन-काय के व्यापारों की सत्यग्राहकता ।

मूल—सत्तावीसं अणगारगुणा पणत्ता, तंजहा—पाणातिवायवेरमणे

× × × जोगसच्चे × × × ।

टीका—योगसत्यं—योगानां—मनः प्रभृतीनामवितथत्वं ।

अनगार—साधुओं के द्वारा आचरणीय २७ गुणों में सतरहवाँ गुणविशेष—
 योगसत्य ।

‘०११९ जोगसच्चे (योगसत्य)

—उत्त० अ २६ । सू ५२

मन, वचन और काय के व्यापार का समुचित प्रयोग ।

जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ ।

मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को शुद्ध करने का साधनभूत—योगसत्य ।

जोगसच्च (योगसत्य)

—भग० श १७ । उ ३

‘०१२० जोगसंगहा (योगसंग्रह)

—सम० सम ३२ । सू १

योग—मन-वचन-काय के व्यापारों का संग्रह अर्थात् आचरण ।

मूल—बत्तीसं जोगसंगहा पणत्ता, तंजहा—× × × ।

टीका—योगाः— मनोवाक्याव्यापाराः ते चेह प्रशस्ता एव विवक्षिता-
स्तेषां शिष्याचार्यगतानामालोचनानिरपलापादिना प्रकारेण संग्रहणानि संग्रहाः
प्रशस्तयोगसंग्रहाः प्रशस्तयोगसंग्रहनिमित्तत्वादाजोचनादय एव तथोच्यन्ते,
ते च द्वात्रिंशद्भवन्ति ।

शिष्य को आचार्य के द्वारा शिक्षा के रूप में प्राप्त होनेवाले मन, वचन और काय के
प्रशस्त व्यापारों का एक वर्गीकरण—योगसंग्रह ।

प्रशस्त योगसंग्रह में आलोचना, निरपलाप आदि ३२ प्रकार बताये गये हैं ।

०१२१ जोगसमाहाणमुत्तमं (उत्तम योगसमाधान) —ध्याश० गा ३८

उत्तम—शुभयोग की प्राप्ति ।

कालोऽवि सोऽधियजहि जोगसमाहाणमुत्तमं जहइ ।

न उ दिवस-निसावेलाइनियमणं झाइणो भणियं ॥

टीका— × × × 'योगसमाधानं' मनोयोगादिस्वास्थ्यम् 'उत्तमं' प्रधानं
'जभते' प्राप्नोति × × × ।

यहाँ पर काल के आधार पर ध्यान का विवेचन है । ध्यान करते समय शुभ योग
होना आवश्यक है । इस कार्य में दिन-रात का कोई नियम नहीं है, मन के स्वस्थ रहने पर
ध्यान भी स्वस्थ होता है । यहाँ पर मन, वचन और काय के स्वस्थ व्यापार को योग-
समाधान कहा गया है ।

०१२२ जोगहीणं (योगहीन) —आव अ ४

आगमे तिचिहे पणत्ते × × × जोगहीणं × × × ।

आगम तीन प्रकार का कहा है । उसके चौदह अतिचार है—उसका एक अतिचार
है योग हीन स्वाध्याय किया हो ।

नोट—ज्ञान का एक अतिचार योगहीन है ।

०१२३ जोगा (योग) —सम० सम ५ । सू ४ । पृ० १३

मन-वचन-काय की प्रवृत्ति ।

मूल—पञ्च आसवदारा पणत्ता, तंजहा—मिच्छतं × × × जोगा ।

टीका—आश्रवद्वाराणि—कर्मापादानोपाया मिथ्यात्वादीनि ।

जीव द्वारा कर्मों को ग्रहण करने के एक उपाय भूत मन, वचन और काय की
प्रवृत्तियाँ—योग

आसव—कर्मापादान के पाँच कारणों में एक कारण योग भी है ।

०१२४ जोगाणुभावजणियं (योगानुभावजनित) —ध्याश० गा ५१

योग और अनुभव से जनित कर्मविपाक ।

पयइ-ठिइ-पएसा-ऽणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं ।

जोगाणुभावजणियं कम्मविचारं विञ्चितेज्जा ॥

टीका—‘योगानुभावजनित’ मनोयोगादिगुणप्रभवं कर्मविपाकं विञ्चिन्त-
येदिति × × × अणुभावो जीवगुण एव, स च मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद-
कषायाः × × × ।

योग—मनोयोगादि तथा अनुभाव—जीवगुण अर्थात् मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद
और कषाय—ये कर्मबन्ध के कारण हैं । प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध तथा प्रदेशबन्ध—ये
योगानुभावजनित हैं ।

०१२५ जोगावास (योगावास)

—षट्० खं ४, २, ४ । सू ५४ । टीका । पु १० । पृ० २७५

जीव में योग की स्थिति ।

सुहुमणिगोदजीवेसु जहण्णाणि उक्कस्साणि च जोगट्ठाणाणि अत्थि ।
तत्थ पाएण समयाविरोहेण जहण्णजोगट्ठाणेसु चेव परिणामियं बंधदि । × × ×
किमट्ठं जहण्णजोगेण चेव बंधाविदो ? थोवकम्मपदेसागमणट्ठं । थोवजोगेण
कम्मगमत्थोवत्तं कथं णव्वदे ? दव्वाविहाणे जोगट्ठाणपरूषणणहाणुववत्तीदो ।
× × × । एवं जोगावासो सुहुमणिगोदेसु परूविदो ।

सूक्ष्मनिगोद जीवों में जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार के योगस्थान होते हैं ।
आगम के अनुसार जघन्य योगस्थानों में ही उनमें ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है, उनकी
संभावना न रहने पर एक बार उत्कृष्ट योग स्थान को भी प्राप्त होता है । इस प्रकार सूक्ष्म
निगोद जीवों में योगावास अर्थात् योग की स्थिति कही गई है ।

०१२६ जोगावासो (योगावास)

—षट्० खं ४, २, ४ । सू २६ टीका । पु १० । पृ० ५६

योग का आश्रय लेकर जीव का शरीर में अवस्थान ।

आउअमणुपालेतो बहुसो बहुसो उक्कस्साणि जोगट्ठाणाणि गच्छदि ।

टीका—एदेण जोगावासो परूविदो ।

आयु का उपयोग करते हुए जीव का बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त
करना—योगावास ।

०१२७ जोगा सुया (योग सुक्)

—उत्त० अ १२ । गा ४४

कर्मों की निर्जरा हेतु शुभ योग रूपी सुक्—हवन के लिए काष्ठनिर्मित साधन
विशेष ।

तवो जोई जीवो ओइठाणं जोगा सुया शरीरं कारिसंगं ।

कम्म एहा संजमजोगसन्ती होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥

टीका—मनोवाक्काययोगास्ते सुखो दुःखो ज्ञेयाः मनोवाक्काययोगैः शुभ-
व्यापारा घृतस्यानीयास्तपोऽग्निप्रव्वाजनजहेतवो वर्तन्ते ।

यहाँ पर तप को अग्नि, जीव को अग्निकुण्ड तथा योग को सुक् की उपमा दी गई है । तप रूपी अग्नि में कर्म रूपी हवन सामग्री को डालने के लिए आवश्यक शुभ योग—योग सुक् ।

•०१२८ जोगिच्चरिमोत्ति (योगिच्चरिम)

—गोक० गा ४४५

योगयुक्त जीव का चरम समय ।

ओकट्टणकरणं पुण अजोगिसत्ताण जोगिच्चरिमोत्ति ।

खीणं सुहुमंताणं खयदेसं सावजीयसमयोत्ति ॥

अयोगी की सत्त्वप्रकृतियों का अपकर्षण करण होता रहनेवाला समययोगिचरम (समय) ।

•०१२९ जोगी (योगी)

वृ—ह० उ १ । निगा ६६० । पृ० ३०३

प्रशस्त मन-वचन-काय योग का प्रयोग करनेवाला ।

अहवण कत्ता सत्था, न तेण कोविज्जती कयं किञ्चि ।

कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायव्वो ॥

टीका—× × × यथा 'तेन' तीर्थकरेण कृतं कार्यं किञ्चिदपि न कोप्यते एवमसावपि गीतार्थो विधिना क्रियां कुर्वन् 'कर्ता इव' तीर्थकर इवाकोपनी-
यत्वात् कर्ता द्रष्टव्यः । एवं योग्यपि ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ? यथा तीर्थकरः
प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगी भण्यते, एवं गीतार्थोऽप्युत्सर्गाऽपवाद-
बलवेत्ता अपवादक्रियां कुर्वाणोऽपि प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगीव
ज्ञातव्यः ।

यहाँ पर तीर्थकर और गीतार्थ को समान रूप से 'योगी' कहा गया है । जिस प्रकार तीर्थकर प्रशस्त मन, वचन और काय योग का प्रयोग करते हुए 'योगी' कहे जाते हैं । उसी प्रकार गीतार्थ भी उत्सर्ग और अपवाद बल के ज्ञाता होकर अपवाद क्रिया करते हुए भी प्रशस्त मन वचन और काय योग का प्रयोग करते हुए 'योगी' समझे जाते हैं ।

•०१३० जोगिम्मि (योगी)

—गोक० गा ४६४

योगयुक्त अर्थात् सयोगिकेवली ।

तिसु तेरं दस मिस्से णव सत्तसु छट्ठयम्मि एक्कारा ।

जोगम्मि सत्त जोगा अजोगिठाणं हवे सुण्णं ॥

जिस गुणस्थान में सात योग कार्यरत होते रहते हैं वह गुणस्थान—सयोगिकेवली—योगी ।

०१३१ ज्ञाणजोग (ध्यान योग)

—सूय० श्रु १।अ ढागा २६।पूर्वार्ध

ध्यान की एक अवस्था विशेष ।

ध्यान की एक अवस्था विशेष ।

ज्ञाणजोगं समाहृद्, कार्यं विउसेज्ज सव्वसो ।

टीका—‘ज्ञाणजोगम्’ इत्यादि, ध्यानं-चित्तनिरोधलक्षणं धर्म-ध्यानादिकं तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्यायव्यापारस्तं ध्यानयोगं ‘समाहृत्य’ सम्यगुपादाय ‘कार्यं’ देहमकुशलयोगग्रवृत्तं ‘व्युत्सृजेत्’ परित्यजेत् ।

धर्मध्यान आदि में व्यापृत अवस्था में होनेवाले मन, वचन और काय के विशिष्ट व्यापार को ‘ध्यानयोग’ कहा जाता है ।

०१३२ ज्ञाण-सुहजोग-नाण-सज्झाय-गोवियमणे (ध्यान-शुभयोग-ज्ञान-स्वाध्याय-गोपित मन)

—पण्हा० अ ६।द्वा १।सू २०।पृ० ६८७

ध्यान, शुभयोग, ज्ञान तथा स्वाध्याय के द्वारा मन को विषयान्तर से रोकनेवाला ।

चउत्थ-आहारएसणाए सुद्धं उंछं × × × ज्ञाण-सुहजोग-नाण-सज्झाय-गोवियमणे × × × अहिसए संजए सुसाहू ।

टीका—ध्यानेन धर्मादिना शुभयोगेन—संयमव्यापारेण गुरुविनय-करणादिना ज्ञानेन-ग्रन्थानुप्रेक्षणरूपेण स्वाध्यायेन-अधीतगुणनरूपेण वा गोपितं-विषयान्तरगमनेन निरुद्धं मनो येन स तथा ।

आहार की गवेषणा करते समय धर्म ध्यानादि, गुरुविनयादि संयमरूप व्यापार, ग्रन्थों के अनुप्रेक्षण रूप ज्ञान तथा अधीत शास्त्रों के अनुशीलन रूप स्वाध्याय के द्वारा संयम के विपरीत विषय से मन को रोकने वाला साधु—ध्यान-शुभयोग-ज्ञान-स्वाध्याय-गोपितमान ।

०१३३ ज्ञाणाणसणाइजोगेहि (ध्यानानशनादियोग)

—ध्याश० गा १००

ध्यान, अनशन आदि रूप योग—व्यापार ।

जह रोगासयसमणं विसोसण-विरेयणोसहविहीहि ।

तह कम्मामयसमणं ज्ञाणाणसणाइजोगेहि ।।

टीका—कर्मरोगचिकित्सा ध्यानानशनादिभिर्योगैः, आदिशब्दाद् ध्यान-वृद्धिकारकशेषतपोभेदग्रहणमिति × × × ।

कर्मरूपी रोग की चिकित्सा अर्थात् निर्जरा के लिए ध्यान, अनशन आदि करना अर्थात् जिससे ध्यान की निरन्तर वृद्धि होती रहे वह—ध्यानानशनादि योग ।

०१३४ ठाणगमणगुणजोगजुंजणजुगंतरनिवातिए (स्थानगमनगुणयोगयोजन-
युगान्तरनिपातिका) —पण्हा० अ ६।द्वा १।सू १७।पृ० ६८६

बैठना और चलना रूप योग में युगप्रमाण भूभाग पर दृष्टिपात करना ।

मूल—पदम्—ठाणगमणगुणजोगजुंजणजुगंतरनिवातिए दिट्ठीए × × ×
परिषज्जएण सम्मं ।

टीका—स्थानं—निषीदनं गमनं-चलनं तयोर्गुणयोगं प्रवचनोपघात-
वर्जजनलक्षणो गुणस्तस्य योगः—सम्बन्धस्तं योजयति या सा, युगं धूसरं
युगान्तरे—युगप्रमाणभूभागे निपतति या सा युगान्तरनिपातिका ततः
कर्मधारयः ।

बैठना या गमन करना रूप योग का योजन करते हुए प्रवचनादिजन्य उपघात से
वचने के लिए युगान्तर अर्थात् युगप्रमाण भूभाग पर दृष्टिपात कर लेना—स्थानगमनयोग-
योजन-युगान्तरनिपातिका (दृष्टि) ।

०१३५ णाण-दंसणाणुभाग-जोगादिविसयं (ज्ञान-दर्शनानुभाग-योगादिविषय)
—षट्० खं० १, पासू १।पु ५।पृ० २४२

ज्ञान, दर्शन और योगादि को विषय बनानेवाला ।

णाण-दंसणाणुभाग-जोगादिविसयं णोआगमभावप्पाबहुअं ।

णोआगमभाव-अवपबहुत्व, जिसका विषय होता है आत्मा के ज्ञान-दर्शन और
योगादि ।

०१३६ णाण-विणय-तव-चरित्त-जोगे (ज्ञानविनयतपचारित्रजोगे)

—उत्त० २६।सू ५६

जहा सुई ससुत्ता, पडियाण विणस्सइ ।

तहा जीवे ससुते, संसारेण विणस्सइ ॥

णाण-विणय-तव-चरित्त-जोगे संपाउणइ, ससमव-परसमय-विसारए य
असंघायणिज्जे भवइ ॥ ५।६ ॥

जिस प्रकार डोरे सहित सुई कूड़े-कचरे में गिर जाने पर भी गुम नहीं होती—
वैसे ही भुत ज्ञानी जीव संसार में नहीं भटकता—किन्तु ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के
योगों को प्राप्त करता है ।

०१३७ णातिसंजोगं (ज्ञातिसंयोग)

—सूय० श्रु २।अ ६।गा २१

समारभंते वणिगा भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमाणा ।

ते णातिसंजोगमधिप्पहाय, आयस्स हेउं पगरंति संगं ॥

टीका—× × × ज्ञातिसंयोगं स्वजनसम्बन्धं × × × ।

.०१३८ तग्गयजोगो (तत्कृतयोग)

—ध्याश० गा १६

जिसके योग समाहित हो गये हैं वह ।

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा जिगं फलं च नाऊणं ।

धम्मं शाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥

टीका— $\times \times \times$ 'धर्म्यम्' इति धर्मध्यालं ध्यायेन्मुनिरिति, 'तत्कृतयोगः'धर्मध्यानकृताभ्यासः, ततः पश्चात् शुक्लध्यानमिति $\times \times \times$ ।

जिसने योगों को समाहित कर धर्मध्यान करने की समुचित अवस्था को प्राप्त कर लिया है, वह तत्कृतयोग ।

तत्कृतयोग होने के बाद शुक्लध्यान का अधिकारी माना जाता है ।

.०१३९ तदुभयजोगेण (तदुभययोग)

—सूय० श्रु १अ १नि गा २०

दो योगों का सहयोग ।

अक्खरगुणमतिसंघायणाए, कम्मपडिसाडणाए य ।

तदुभयजोगेण कयं, सुत्तमिणं तेण सूत्तकडं ॥

टीका— $\times \times \times$ 'तदुभययोगेने' ति अक्षरगुणमतिसंघटनायोगेन कर्मपरिशाटनायोगेन च, यदि वा वाग्योगेन मनोयोगेन च कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ।

सूत्र-प्रणयन में सहायभूत अक्षरों के गुण और मति का संघटन रूप वाग्योग तथा कर्म-परिशाटन रूप मनोयोग—तदुभययोग ।

.०१४० तप्पाओग्गमसंखेज्जगुणजोगं (तत्प्रायोग्य असंख्यातगुणयोग)

—षट्० खं ४, २, ४।सू १२२।टीकापु १० पृ० ३७६

जीव के द्वारा प्रयोग में लाये जाने योग्य असंख्यातगुण योगद्रव्य ।

 $\times \times \times$ परमाणुत्तरादिकमेण दब्बं बड्ढाघियजोगोवड्ढावेद्वो जाव-तप्पाओग्गमसंखेज्जगुणजोगं पत्तोत्ति ।

परमाणु द्रव्ययोग से आरम्भ कर क्रमशः बढ़ाते जाने पर प्रयोजन योग्य द्रव्ययोग का प्राप्त होना—तत्प्रायोग्य असंख्यातगुणयोग ।

.०१४१ तप्पाओग्गुक्कस्सजोगट्ठाणेहि (तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योगस्थान)

—षट्० खं ४, २, ४।सू ४७।टीकापु १०।पृ० २५७

उसके योग्य उत्कृष्ट योगस्थान ।

 $\times \times \times$ एदेण समऊणुक्कस्सबंधगद्धामेत्तकालं तप्पाओग्गुक्कस्सजोगट्ठा-णेहि बंधिय एगसमयं दुपक्खेऊणजोगट्ठाणेण बंधिय पयदट्ठाणे ठिदो सरिसो ।

एक समय कम उत्कृष्ट बन्धक काल पर्यन्त उसके योग्य उत्कृष्ट योगस्थानों द्वारा किसी जीव के साथ आयुष्य बाँधनेवाले जीव तथा एक समय तक दो प्रक्षेप कम योगस्थान द्वारा आयुष्य बाँधनेवाले जीव में सादृश्य रहता है ।

०१४२ तप्पाओग्गउक्कस्सजोगेण (तत्प्रायोग्य उत्कृष्टयोग)

—षट्० खं ४, २, ४।सू ३६।टीका।पु १० पृ० २३५

आयुष्यबन्ध के योग्य उत्कृष्ट योग ।

तप्पाओग्गउक्कस्सजोगेणेत्ति पञ्चमं विसेसणं किमट्ठं कीरदे ? बहुदब्ब-
गहणट्ठं । जदि एवं तो उक्कस्सजोगेणेत्ति किण्ण उच्चदे ? ण, दोसमए मोत्तूण
उक्कस्साउअबंघगद्धामेत्तकालमुक्कस्सजोगेण परिणमणाभावादो ।

उत्कृष्ट आयुष्यबन्धककाल के दो समय पर्यन्त परिणमण करानेवाला—तत्प्रायोग्य उत्कृष्टयोग ।

०१४३ तप्पाओग्गसंखेज्जसजोगिजीवे (तत्प्रायोग्यसंख्यात सयोगिजीव)

—षट्० खं १, ८।सू ५८।टीका।पु ५।पृ० २७४

उनके (मनुष्यणी) योग्य संख्यात सयोगिकेवली जीव ।

मणुसिणीसु पुण तप्पाओग्गसंखेज्जसजोगिजीवे दृविय अट्ठुत्तरसदं मुखा
तप्पाओग्गसंखेज्जस्त्रीणकसाएहि ओवट्ठिय गुणगारो उप्पादेदब्बो ।

मनुष्यणियों की औषिक राशि में से अनुमानतः निकाली हुई राशि, जिसमें १०८ घटाकर मनुष्यणी के योग्य क्षीणकषाय की राशि से भाग देकर संचय काल की अपेक्षा सयोगिकेवलियों का संख्यात गुणनफल निकालने के लिए बननेवाला गुणकार— तत्प्रायोग्यसंख्यातसयोगिजीव ।

०१४४ तरतमजोगाभावो (तरतमयोगाभाव)

—विशेभा० गा २८६

आकांक्षा-निवृत्ति में विश्लेषण हो जाना ।

तरतमजोगाभावेऽवाउच्चिय, धारणा तदंतम्मि ।

सव्वत्थवासणा पुण भणिया कालंतरस्सई य ॥ २८६

टीका—तरतमयोगाभावे क्षातुरग्रे तनविशेषाकांक्षानिवृत्तावपाय एव
भवति ।

ज्ञाता अर्थात् जिज्ञासु की वासना में जब आगे किसी विशेष प्रकार की आकांक्षा—
अर्थात् योग नहीं रहता है वह तरतमयोगाभाव ।

तरतमयोगाभाव धारणा काल की अवस्था विशेष है ।

०१४५ तव-नियम-सील-जोगेहिं (तपोनियमशीलयोग)

—पण्हा० अ ६।द्वा ४।सू ४।पृ० ७००

ब्रह्मचर्य के साधक तप, नियम, शील और योग-शुभ प्रवृत्ति ।

मूल—इमं च रति-राग-दोष-मोह-पवङ्ढणकरं × × × अणुचरमाणेण
वंभचेरं वज्जेयव्वाइं सव्वकालं । भावेयव्वो भवइ य अंतरप्पा इमेहिं तव-नियम-
सील-जोगेहिं निव्वकालं × × × ।

टीका—× × × आसेवमानेन ब्रह्मचर्यं वर्जयितव्यानि सर्वकालं अन्यथा
ब्रह्मचर्यो व्याघातो भवति इति योगः, तथा भावयितव्यश्च भवति अन्तरात्मा
ब्रह्मचर्यवता एवं भावनीयं, मया अन्तरात्मा अनया रीत्या पालनीयः सर्वदा
एभिः—वक्ष्यमाणैः तपोनियमशीलयोगैः नित्यकालम् ।

ब्रह्मचर्य को अव्याहत रखने के लिए साधु के द्वारा आचरणीय तप—तपस्या,
नियम—व्रत, शील—सदाचार तथा योग—मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्ति—तप-नियम-
शील-योग ।

‘०१४६ तव-णियम-संजम-सज्झाय-झाणावस्सयमाइएसु जोगेसु (तप-नियम-
संयम-स्वाध्याय-ध्यानावश्यकदि जोग) —भग० श

‘०१४७ तियजोगो (त्रिकयोगो) —प्रवसा० गा० १२६७

तीन भावों का एक स्थान में रहना ।

दुग्गजोगो सिद्धाणं केवलिसंसारियाण तियजोगो ।

अउजोगजुअं अउसुवि गईसु मणुयाण पणजोगो ॥

टीका—× × × केवलिनां संसारिणां च त्रिकसंयोगः, तत्र दशसु त्रिक-
संयोगेषु मध्ये केवलिनां औदयिकक्षायिकपारिणामिकभावत्रयनिष्पन्नः पञ्चमो
भङ्गः संभवति, औपशमिकस्य मोहनीयाश्रितत्वेन तत्क्षयवतां केवलिनाम-
संभवात्, क्षायोपशमिकस्यापि इन्द्रियाद्य भावतोऽसंभवात् ‘अतीन्द्रियाः
केवलिन’ इति वचनात्, संसारिणां तु अतुर्गतिकजीवानामौदयिकक्षायोपशमिक-
पारिणामिकभावत्रयनिष्पन्नः षष्ठस्त्रिकसंयोगः संभवति × × × ।

केवलियों में होनेवाले औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक भावों से निष्पन्न संयोग
को त्रिकयोग कहते हैं ।

चतुर्गतिक संसारी जीवों में औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक तीन भावों
से निष्पन्न संयोग को त्रिकयोग कहते हैं ।

‘०१४८ थिर-कयजोगाणं (स्थिर-कृतयोग) —ध्याश० गा ३६

जिसके मन, वचन और काय के व्यापार स्थिर हो गये हों, अर्थात् अभ्यस्त हो
गये हों ।

स्थिर-कयजोगाणं पुण सुणीण ज्ञाणे सुनिच्छलमणाणं ।
गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे च ण विसेसो ॥

टीका—तत्र स्थिराः—संहनन-धृतिभ्यां बलवन्त उच्यन्ते, कृता—निर्वर्तिता अभ्यस्ता इति यावत्, के ?—युज्यन्त इति योगाः—ज्ञानादिभावनाव्यापाराः सत्त्व-सूत्र-तपःप्रभृतयोवा यैस्ते कृतयोगाः, स्थिराश्च ते कृतयोगाश्चेति विग्रहस्तेषाम्, अत्र च स्थिर-कृतयोगयोश्चतुर्भङ्गी भवति, तद्यथा—‘स्थिरे णामेगे णो कयजोगे’ इत्यादि, स्थिरा वा—पौनःपुन्यकरणेन परिचिताः कृता योगा यैस्ते तथाविधाः × × × ।

जिसने संहनन और धैर्य के बल से योगी—ज्ञानादि भावनात्मक व्यापारों को अथवा सत्त्व, सूत्र, तपस्या प्रभृति को स्थिर कर लिया है—वह स्थिरकृतयोग ।

अथवा बार-बार के अभ्यास के द्वारा योगी में अभिज्ञाता प्राप्त कर ली है वह स्थिर कृतयोग ।

•०१४९ थोबजोगेण (स्तोकयोग)

—षट्० खं ४, २, ४ । सू ५४ । टीका । पृ १० । पृ० २७४

योग का लघुतम व्यवसाय ।

किमट्ठं जहण्णजोगेण च्चेव (णाणावरणीयं कम्मं) बंधाविदो थोबकम्मप-
देसागमणट्ठं । थोबजोगेण कम्मागमत्थोबत्तं कथं णव्वदे ? दव्वविहाणे जोगट्ठाण-
परवणण्णाहाणुव्वत्तीदो ।

स्तोकयोग जघन्ययोग का पर्यायवाची है ।

ज्ञानावरणीय के स्तोक कर्मप्रदेशों को बाँधने का कारणभूत—स्तोकयोग ।

•०१५० दुगयोगो (द्विकयोग)

—प्रवसा० गा १२६७

दो भावों का एक स्थान में रहना ।

दुगजोगो सिद्धाणं केवलिसंसारियाण तियजोगो ।

चऊजोगजुअं चउसुवि गईसु मणुयाण पणजोगो ॥

‘दुगे’ त्यादि, दशसु द्विकसंयोगेषु मध्ये क्षायिकपारिणामिकभावद्वय-
निष्पन्नो नवमोद्विकसंयोगः सिद्धानां संभवति, शेषास्तु नव प्ररूपणमात्रं ।

दस प्रकार का द्विकयोग होता है, जिनमें नौ को प्ररूपणा मात्र कहा गया है तथा सिद्धों में होनेवाले क्षायिक और पारिणामिक रूप दो भावों से निष्पन्न द्विकसंयोग को द्विकसंयोग कहा गया है ।

०१५१ पओगगती (प्रयोगगति)

—पण्ण० प १६ । सू १०८५ । पृ० २६८

प्रयोग—योग के अनुसार गमन करना ।

कतिविहे णं भंते ! गतिपव्वाए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते ।

तं जहा—पओगगती ? × × ×

टीका—‘प्रयोगगति’ रित्यादि, प्रयोगः प्रागुक्तः पञ्चदशविधः स एव गतिः, इयं देशान्तरप्राप्तिलक्षणा द्रष्टव्या, सत्यमनःप्रभृतिपुद्गलानां जीवेन व्यापार्यमाणानां यथायोगमल्पबहुदेशान्तरगमनात् ?

पन्द्रह प्रकार की प्रयोग गतियों में सत्यमन प्रभृति के पुद्गलों का जीव के साथ व्यापृत होकर यथायोग अल्प या बहुत देशान्तर में गमन करना—प्रयोगगति ।

०१५२ पओगगती (प्रयोगगति)

—पण्ण० प १६ । सू १०८६ । पृ० २६८

प्रयोग—मन-वचन-काय के व्यापार रूप गति अर्थात् देशान्तर की प्राप्ति ।

मूल—से किं तं पओगगती ? पओगगती पण्णरसविहा पण्णत्ता ।

तं जहा—सच्चमणप्पओगगती एवं जहा पओगो भणिओ तहा एसा वि भाणि-यव्वा जाव कम्मासरीरकायप्पओगगती ।

टीका—‘प्रयोगगति’ रित्यादि, प्रयोगः प्रागुक्तः पञ्चदशविधः स एव गतिः प्रयोगगतिः, इयं देशान्तर प्राप्तिलक्षणा द्रष्टव्या, सत्यमनःप्रभृतिपुद्गलानां जीवेन व्यापार्यमाणानां यथायोगमल्पबहुदेशान्तरगमनात् ।

जीव के द्वारा व्यापृत होकर सत्यमनः प्रभृति पुद्गलों का यथायोग अल्प या अधिक देशान्तर को प्राप्त करना—प्रयोगगति ।

प्रयोगगति भी प्रयोग के अनुसार १५ प्रकार की होती है ।

०१५३ पक्खेवुत्तरजोगेण (प्रक्षेपोत्तरयोग)—

—षट्० खं ४, २, ४।सू १२२।टीका।पु १०।पृ० ३६२

एक प्रक्षेप अधिक योग का मान ।

पढमगोवुच्छं वड्ढिदूणं द्विदणारगबिदियसमयदव्वस्सुवरि परमाणुत्तरा-दिकमेण एगधिगलपक्खेवं वड्ढिदूणं द्विदणेरइओ ख, अण्णेगो पक्खेवुत्तरजोगेण बंधिदूणागदो ख, सरिसा ।

यहाँ प्रकरण सादृश्य का है । प्रथम गोपुच्छ बढ़कर स्थित नारकी के द्वितीय समय सम्बन्धी द्रव्य के ऊपर एक परमाणु अधिक आदि के क्रम से एक विकल प्रक्षेप बढ़कर स्थित नारकी और दूसरा एक प्रक्षेप अधिक योग द्वारा आयु को बाँधकर आया हुआ नारकी-दोनों योग की अपेक्षा से सदृश है ।

०१५३ पढमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणे (प्रथमसमयअयोगिभवत्थकेवलज्ञान)

—ठाण० स्था २।उ १।सू ६१।पृ० ५०६

अयोगी अर्थात् योग रहित अवस्था के प्रथम समय में होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—अजोगिभवत्थकेवलणाणे दुविहे पणत्ते, तं जहा—पढमसमय-अजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव × × × ।

टीका—न सन्ति योगा यस्य स न योगीति वा योऽसावयोगी × × × प्रथमः समयः सयोगित्वे यस्य स × × × 'एव' मिति सयोगिसूत्रवत्प्रथमा-प्रथमचरमाचरमविशेषणयुक्तमयोगिसूत्रमपि वाच्यमिति ।

जिसके कायादि के व्यापार नहीं हैं अथवा जो योगी नहीं है—ऐसे भवस्थ व्यक्ति के प्रथम समय में होनेवाला केवलज्ञान—प्रथमसमयअयोगिभवत्थ-केवलज्ञान ।

०१५५ पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे (प्रथमसमयसयोगिभवत्थकेवलज्ञान)

—ठाण० स्था २।उ १।सू ६०।पृ० ५०६

सयोगी अवस्था के प्रथम समय में होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—सजोगिभवत्थकेवलणाणे दुविहे पणत्ते, तंजहा—पढमसमय-सजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव × × × ।

टीका—सह योगैः—कायव्यापारादिभिर्यः स सयोगी इनसमासान्त-त्वात् सच्चासौ भवत्थश्च तस्य केवलज्ञानमिति विग्रहः, × × × प्रथमः समयः सयोगित्वे यस्य स तथा × × × ।

योग—कायादि के व्यापार के साथ बरतनेवाले भवस्थ मनुष्य के प्रथम समय में होनेवाला केवलज्ञान—प्रथमसमयसयोगिभवत्थकेवलज्ञान ।

०१५६ पणजोग (पञ्चयोग)

—प्रवसा० गा० १२६७

पाँच भावों की सन्धि ।

दुग्गजोगो सिद्धाणं केवलिसंसारियाण तियजोगो ।

चउजोगजुअं चउसुवि गईसु मणुयाण पणजोगो ॥

टीका—× × × मनुष्याणां पञ्चकयोगः—पूर्वोक्तभावपञ्चकयोगः संभवति, केवलं क्षायिकसम्यग्दृष्टयः सन्तो ये उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते तेषामेव न पुनरन्येषां, समुदितभावपञ्चकस्य तेषामेव भावादिति ।

पाँच भावों का संयोग मात्र मनुष्यगति में ही होता है । जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि रहते हुए उपशम श्रेणी को प्राप्त करते हैं उनमें ही कथित पाँचों भावों के संयोग को पञ्चयोग कहा जाता है ।

.०१५७ पणिहाणजोगजुत्तो (प्रणिधानयोगयुक्त)

—प्रवसा० गा० २६६

.०१५८ पणीयाहार विरतिसमितिजोगेण (प्रणीताहार विरतिसमितियोग)

—पण्हा० अ ६।द्वा ४।सू ११।पृ० ७०२

भिक्षाचरी में सावध आहार के प्रति साधु का संयम रूप व्यापार ।

मूल—पञ्चमंगं—आहारपणीय—निद्धभोजण-विषज्जए × × × न दण्णं न बहुसो न नितिकं न सायसूपाहिकं न खद्धं, × × × न य भवति विम्भमो भंसणा य धम्मस्स । एवं पणीयाहारविरतिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा × × × जिइदिए बंभचेरगुत्ते ।

टीका—× × × आहारोऽशनादिः स एव विधस्तयाज्य इतियोगः कीदृशः ? प्रणीतो गलत्स्नेहबिन्दुः स च स्निग्धभोजनं तस्य विवर्जको यः स तथा × × × दर्पणं—दर्पकारकं नैव भुञ्जते, उक्तव्यतिरेकादन्यदपि मदकारि नैव भुञ्जते, पुनः न बहुशो—दिनमध्ये न बहुवारं न नैत्यिकं, न प्रतिदिनं, × × × एवं प्रणीताहारविरति समितियोगेन भावितो—वासितो भवति अन्तरात्मा—जीवः × × × ।

आत्मा को भावित करने के लिए गोचरी में मिले हुए अधिक तेल-घी युक्त उत्तेजक स्निग्ध भोजन, अत्यधिक या दिन में अनेक बार, जो चारित्र पालन में बाधक सिद्ध हो, ऐसे भोजन का परिहार कर संयम का पालन रूप व्यापार-प्रणीताहारविरतिसमितियोग ।

.०१५९ पभावणा-जोग-निग्गहो (प्रभावना-योग-निग्रह)

—णमोकार महामंत्र पृष्ठ १६

मूल—पभावणा जोग निग्गहो, उवज्झाय गुणं वन्दे ।

बारह अंग श्रुत के ज्ञाता, करणसत्तरी, चरणसत्तरी युक्त आठ प्रकार धर्म की प्रभावना करनेवाले, मम, वचन, काय के योगों का निग्रह करनेवाले—इन २५ गुणों से युक्त उपाध्याय होते हैं ।

.०१६० पमदं जोगं (प्रमदं योग)

—सम० सम ८।सू ६

संघर्षण रूप योग—सम्बन्ध ।

अट्ट नखत्ता चंदेण सद्धि पमदं जोगं जोएंति, तंजहा—कत्तिया रोहिणी पुणव्वसू महा चित्ता विसाहा अणुराहा जेट्ठा ।

टीका—अष्टौ नक्षत्राणि चन्द्रेण सार्धं प्रमदं—चन्द्र (:) मध्येन तेषां गच्छन्तीत्येवंलक्षणं योगं—सम्बन्धं योजयन्ति—कुर्वन्ति, × × × यानि च दक्षिणोत्तरयोगीनि तानि प्रमदं योगीन्यपिकदाचिद् भवन्ति ।

साथ-साथ चलते हुए कई लोगों से कदाचित् प्रमर्दन—टकराव हो जाना—
प्रमर्द योग ।

कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसू, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा तथा ज्येष्ठा—ये
आठ नक्षत्र दक्षिण से उत्तर की ओर क्रमबद्ध होकर चन्द्रमा के साथ चलते हैं, जिनमें से
कदाचित् कोई चन्द्रमा से प्रमर्दित अर्थात् घृष्ट होता है ।

०१६१ परप्पओगेण (परप्रयोग) —भग० श ३।उ ४।प्र १६प्प १६३

पर अर्थात् दूसरे के प्रयोग अर्थात् सहयोग ।

मूल—गोयमा ! आयप्पओगेण गच्छइ, नो परप्रयोगेण गच्छइ ।

टीका—‘आयप्पओगेण’ ति न परप्रयुक्त इत्यर्थः ।

०१६२ परिणामजोगठाणा (परिणामयोगस्थान) —गोक० गा २२०

परिणमन के द्वारा होनेवाला योगस्थान ।

परिणामजोगठाणा सरीरपज्जत्तगादु चरिमोत्ति ।

लद्धिअपज्जत्ताणं चरिमत्तिभागग्ग्हि बोधव्वा ॥

शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से लेकर अन्त समय तक होनेवाला परिणमन
तथा लब्धपर्याप्ति जीव के अन्त के त्रिभाग समय के प्रथम समयसे लेकर अन्त समय तक होने-
वाला परिणमन परिणामयोगस्थान कहलाता है ।

०१६३ परिणामजोगेहि (परिणामयोग)

—षट्० खं ४, १।सू ७१।टीका।पु ६।पृ० ३४३

परिणमन के द्वारा होनेवाला योग का एक भेद ।

तेजइयस्स जहणिया संघादण-परिसादणकदी कस्स (जो) जीवो
छावट्ठि-सागरोवमाणि सुहुमेसु अच्छिदो । एवं × × × एयंतवड्ढमाणस्स
अभिक्खवड्ढीए अपज्जत्तयस्स जग्ग्हि समए बहुसो बंधो णिज्जराचणतग्ग्हि
समयग्ग्हि ट्ठिदो, तस्स तेजइयस्स × × × । एयंताणुवड्ढीए सामित्तं किमट्ठं
दिण्णं ? परिणामजोगेहि संखिदपोगलक्खं धग्गलणट्ठं ।

तैजस शरीर की जघन्य संघातन-परिशातन कृति का प्रकरण है ।

तैजस शरीर की संघातन-परिशातन कृति उस जीव के होती है, जो जीव छयासठ
सागरोपम तक सूक्ष्म जीवों में रहता है वहाँ ऊपर उठते हुए एकान्त-वृद्धि के द्वारा पर्याप्ति-
अपर्याप्ति से अभीक्षण—प्रचुर रूप में बढ़ते हुए अपर्याप्तिक जीव के जिस समय बन्ध अधिक
होता है, किन्तु निर्जरा नहीं होती है । यहाँ पर एकान्तानुवृद्धि को स्वामित्व होने में कारण
रहता है परिणामयोग के द्वारा संचित पुद्गल-स्कन्धों को नष्ट करना ।

०१६४ परिणाम जोगेण (परिणामयोग)

—पठम० उ २।श्लो ६२

अणुचय-महवएहिय, बालतवेण य हवन्ति संजुत्ता ।

ते होन्ति देवलोण, देवा परिणाम जोगेण ॥

जो अणुव्रत और महाव्रत का पालन करते हैं और बालक की भाँति समझे-बूझे बिना बालतप करते हैं, अपने-अपने परिणाम योग से देवलोकों में देव रूप से उत्पन्न होते हैं ।

०१६५ पुंवरयपुंवरकीलियविरतिसमित्तिजोगेण (पूर्वरतपूर्वक्रीडितविरतिसमित्तियोग)

—पण्हा० अ ६।द्वा ४।सू १०।पृ० ७०२

संयम ग्रहण कर पूर्वकाल की अनुभूत रति-क्रीडादि के प्रति विरति रूप संयम का पालन ।

मूल—चउत्थं—पुंवरय-पुंवरकीलिय- × × × अणुवरमाणेणं बंभचेरं न ताईं समणेण लब्भा दट्ठुं न कहेउं नवि सुमिरेउं जे । एवं पुंवरय-पुंवरकीलिय विरति समित्तियोगेण भावितो भवति अंतरप्पा, × × × जिहंदिए बंभचेरगुत्ते ।

टीका— × × × एवमुक्तप्रकारेण पूर्वरतं पूर्वपरिचितरतं—सम्भोगादिकं पूर्वक्रीडितं द्यूतादिकं तेन विरतिनिवृत्तिसमित्तियोगेन भावितो वासितो भवति अन्तरात्मा—जीवः ।

आत्मा को भावित करने के लिए साधु के साधुत्व ग्रहण लेने पर पूर्व परिचित सम्भोगादि तथा द्यूतादि क्रीडा के प्रति विराग धारण कर संयम में आगरूक रहना—पूर्वरतपूर्वक्रीडितविरतिसमित्तियोग ।

०१६६ पसत्थजोगपडिवन्ने (प्रशस्तयोगप्रतिपन्न)

—उत्त० अ २६।सु ८

शुभ योगों से युक्त ।

गरहणयाए णं अपुरस्कारं जणयइ । अपुरस्कारगए णं जीवे × × × पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणन्तघाइपज्जे खवेइ ।

अनन्त घाती कर्मों के पर्यायों को निजीर्ण करने में कारणभूत-प्रशस्तयोग प्रतिपन्न ।

आत्मगर्हा से अपुरस्कार अर्थात् आत्मनम्रता आती है और आत्मनम्र साधक स्वतः प्रशस्तयोगों से प्रतिपन्न हो जाता है ।

०१६७ पुंवरणिरुद्धजोगेहि (पूर्वनिरुद्धयोग)

—षट्० खं ४, २, ४।सू ४७।टीका।पु १०।पृ० २६०

पूर्वकाल में निरोध किये गये योग ।

× × × अण्णेगोत्तप्पाओग्गउक्कस्सजोगेण उक्कस्सबंधगद्दाए च आउयं बंधिय जलचरेसुप्पज्जिय कदलीघादं कादूण रुवूणुक्कस्सबंधगद्दाए पुंवरणिरुद्ध-

जोगेहि बंधिय एगसमयं पुव्वणिइदुजोगादो रुकधिगलपक्खेवभागहारमेत्त-
जोगट्ठाणाणि ओसरिदूण बंधिय ट्ठिदो च सरिसो ।

कोई जीव उसके योग्य उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट बंधक काल के द्वारा आयुष्य बाँधकर जलचरों में उत्पन्न हो कदलीघात कर एक समय कम उत्कृष्ट बन्धक काल पर्यन्त पूर्व निरुद्ध योगों से बाँधनेवाला तथा एक समय पूर्व निरुद्ध योग से एक कम विकल प्रक्षेपक भागहार प्रमाण योगस्थान उतरकर आयुष्य बाँधकर स्थित रहनेवाला जीव योगस्थान की अपेक्षा से तुल्य है ।

०१६८ पुव्वुहिदुजोगेण (पूर्वोद्दिष्टयोग)

—षट्० खं ४, २, ४। सू ४७।टीका।पु १०।पृ० २५६

पूर्व में प्रयोग किये गये योग ।

समऊणुकस्सबंधगद्धाए तप्पाओगुक्कस्सजोगेण बंधिय एगसमयं पक्खे-
ऊणजोगेण बंधिय जलसरेसुप्पज्जिय कदलीघादं कादूण परभविआउयं पुव्वुहिदु-
जोगेण बंधिय जो बंधगद्धात्तरिमे समय ठिदो सो सरिसो ।

एक समय न्यून उत्कृष्ट बंधक काल के भीतर उसके योग्य उत्कृष्ट योग से आयुष्य बाँधनेवाला तथा एक समय तक एक प्रक्षेप कम योग द्वारा बाँधकर जलचरों में उत्पन्न होकर व कदलीघात करके परभव के आयुष्य को पूर्वोद्दिष्ट योग के द्वारा बाँधकर बंधक काल के अन्तिम समय में स्थित रहने वाला जीव योगस्थान की अपेक्षा से सदृश है ।

०१६९ भावणाजोगसुद्धप्पा (भावनायोगशुद्धात्मा)—सूय० श्रु १।अ १५।गा ५

सम्यक् प्राणधान रूप भावना योग के द्वारा पवित्र आत्मा ।

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले पावा व आहिया ।

नावा व तीरसंपन्ना, सब्बदुक्खा तिउट्ठइ ।।

टीका—सम्यक्प्राणधानलक्षणो भावनायोगस्तेन शुद्ध आत्मा-अन्तरात्मा
यस्य स तथा, स च भावनायोगशुद्धात्मा सन् परित्यक्तसंसारस्वभावो नौरिष
जलोपर्यवतिष्ठते संसारोदन्वत इति, × × × ।

जिस प्रकार नाव जल में रहकर भी जल के ऊपर ही रहती है, उसी प्रकार संसार में रहते हुए भी भावना की पवित्रता से आत्मलीन भाव में रहकर संसार-सागर को पार करने के जिस साधक ने सांसारिक स्वभाव को छोड़ दिया है वह—भावनायोगशुद्धात्मा ।

०१७० भिण्णजोगो (भिन्नयोग) —षट्० खं १, दासू ३।टीका।पु ५।पृ० २४५

भिन्नयोग अर्थात् असमान कर्म-कषाय धारण करने वाले जीव ।

उवसंतकसायस्स कसाउवसामगाणं च पच्चासत्तीए अभावस्स संदंसण-
फलो । जेसि पच्चासत्ती अत्थि तेसिमेगजोगो, इदरेसिभिण्णजोगो होदि × × × ।

उपशान्तकषाय तथा कषायों का उपशमन करनेवाले जीवों में प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपता नहीं रहती है, जिनमें प्रत्यासत्ति नहीं रहती है उनको कहा जाता है—भिन्नयोग ।

‘०१७१ मणजोगं (मनोयोग)

—उत्त० अ २६।सू ७३

मन के द्वारा होनेवाला योग-व्यापार ।

अहाडयं पालइत्ता अन्तोमुहुत्तद्धावसेसाउएजोगनिरोहं करेमाणे × × ×
तप्पदमाण मनजोगं निरुम्भइ × × × ।

‘०१७२ मणजोगचलणा (मनयोगचलना)

—भग० श १७।उ ३

‘०१७३ मणवयसकाइए जोगे (मन-वचन-सकायिक योग)

—ठाण० ६।उ ३।सू ६६३

‘०१७४ मणसमित्तजोगेण (मनः समित्तियोग)— पण्हा अ ६।द्वा १।सू १८।पृ० ६८७
मन की सत्प्रवृत्ति रूप व्यापार ।

मूल—बितियं च—मणेण पावणं × × × मणसमित्तजोगेण भाबितो
× × × अहिसए संजए साहू ।

टीका—पापकेन-मनसा पापं-प्राणातिपातात्मकं किञ्चिदपि अल्पमपि न
ध्यातव्यं एकाग्रतया न चिन्तनीयं । एवमनेन प्रकारेण मनःसमित्तियोगेन
—चित्तसत्प्रवृत्तिलक्षणव्यापारेण भाबितो भवति अन्तरात्मा जीवः ।

अन्तरात्मा को भावित करने में कारणभूत थोड़ी-सी भी मानसिक हिंसा से बचने के
लिए मन को सत्प्रवृत्ति—संयम में लगाये रखना—मनःसमित्तियोग ।

‘०१७५ मणोजोगनिग्गहाईओ (मनोयोगनिग्रहादि)

—ध्याश० गा० ४४

मनोयोग आदि का सर्वथा रुक जाना ।

झाणप्पडियत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ ।

भवकाले केवलिनो सेसाण जहासमाहीए ॥

टीका—× × × स च भवति मनोयोगनिग्रहादिः, तत्र प्रथमं मनोयोग-
निग्रहः ततो ध्यायोगनिग्रहः ततः काययोगनिग्रह इति, किमयं समान्येन सर्वथै-
वेत्यम्भूतः क्रमो ?, न, किन्तु भवकाले केवलिनः, अत्र भवकालशब्देन मोक्ष-
गमनप्रत्यासन्नः अन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव शैलेश्यवस्थान्तर्गतः परिगृह्यते, केवलम-
स्यास्तीति केवली तस्य, शुक्लध्यान एवायं क्रमः × × × ।

शैलेशी अवस्था को प्रतिपन्न साधक के मोक्षगमन से अन्तर्मुहूर्त काल पूर्व योग-
निरोध होता है । इस प्रकरण में सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध होता है, अतः मनोयोग
निग्रहादि शब्द प्रयुक्त किया गया है ।

१७६ मणो-वयण-कायजोगाणं (मन-वचन-काययोग)

—ध्याश गा० ३७

मन-वचन-काय का व्यापार ।

जो (तो) जत्थ समाहाणं होज्ज मणो-वयण-कायजोगाणं ।

भूओबरोहरहिओ सो देसो झायमाणस्स ॥

टीका—× × × ‘यत्र’ ग्रामादौ स्थाने ‘समाधानं’ स्वास्थ्यं ‘भवति’ जायते, केषामित्यत आह—‘मनो-वाक्काययोगानां’ प्राग्निरूपितस्वरूपाणामिति, आह—मनोयोगसमाधानमस्तु, वाक्काययोगसमाधानं तत्र क्वोपयुज्यते ? नहि तन्मयं ध्यानं भवति, अत्रोच्यते, तत्समाधानं तावन्मनोयोगोपकारकं × × × ।

यहाँ पर प्रकरण ध्यान का है । ध्यान के समय मनोयोग का समाधान होना अपेक्षित माना गया है । यहाँ पर वचनयोग और काययोग के समाधान को मनोयोग के समाधान में उपकारक कहा गया है ।

१७७ मह्वाइजोगा (मार्दवादियोग)

—प्रवसा० गा ८४४

मार्दव, आर्जव आदि गुणों का संयोग ।

इय मह्वाइजोगा पुढ्ढीकाये हवंति दस भेया ।

आउक्कायाईसुवि इअ एए पिंडिअं तु सयं ॥

टीका—‘इये’ त्यादि, ‘इति’ अनेनैष पूर्वोक्ताभिलाषेन मार्दवादियोगात्—मार्दवाज्जवादिपदसंयोगेन ‘पृथिवीकाये’ पृथिवीकायमाश्रित्य पृथिवीकायारम्भमित्यभिलाषेनेत्यर्थः सम्भवन्ति—स्युर्दश भेदाः—दशशीलविकल्पाः, अप्काया-दिष्वपि नवसु स्थानेषु, अपिशब्दो दशेत्यस्येह सम्बन्धनार्थ इत्यनेन क्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः ‘पिंडियं तु’ त्ति प्राकृतत्वात् पिण्डिताः पुनः सन्तः अथवा पिण्डितं—पिण्डमाश्रित्य शतं—शतसंख्याः स्युरिति ।

पृथ्वीकाय की अपेक्षा मार्दव-आर्जव आदि दस प्रकार के शीलविकल्प होते हैं जिनको मार्दवादियोग कहा गया है ।

इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अजीवकाय—इन नवों में भी दस-दस प्रकार के शीलविकल्प माने गये हैं । सभी मिलकर १०० प्रकार के शीलविकल्प तथा इसी आधार पर १०० प्रकार के मार्दवादियोग भी माने गये हैं ।

१७८ मह्वाइजोगा (मार्दवादियोग)

—प्रवसा० गा ८४४

इय मह्वाइजोगा पुढ्ढीकाए हवंति दस भेया ।

आउक्कायाईसुवि इस एए पिंडिअं तु सयं ॥

टीका—‘इये’ त्यादि ‘इति’ अनेनैव पूर्वोक्ताभिलाषेन मार्दवादियोगात्-मार्दवार्जवादिपदसंयोगेन ‘पृथिवीकाये’ पृथिवीकायमाभित्य पृथिवीकायारम्भ-मित्यभिलाषेनेत्यर्थः सम्भवन्ति-स्युर्दृश भेदाः—दश शीलविकल्पाः, अप्काया-दिष्वपि नचसु स्थानेषु, अपिशब्दो दशेत्यस्येह सम्बन्धनार्थः, इत्यनेनक्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः × × × ।

.०१७९ मिच्छत्त-जोगपञ्चय (मिथ्यात्व-योग-प्रत्यय) —पउम० उ २।१लो ६७

मिच्छत्त-जोगपञ्चय, तहय कसाएसु लेस सहिएसु ।

एएसु चेवजीवो, बंधइ असुहं सयाकम्म ॥ ६७ ॥

मिथ्यात्व, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति रूप योग तथा लेश्या सहित कषाय—इन कारणों से जीव सर्वदा अशुभ कर्म का बंध करता है ।

.०१८० मुक्कजोगी (मुक्तयोगी) —बृह० उ ६।भाष्य गा ६।८८

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति निष्ठा न रखनेवाला ।

भिण्णरहस्से व णरे, णिस्साकरण व मुक्कजोगीय ।

छव्विहगतिगुविलग्गिम्, सो संसारे भमति दीहे ॥

टीका— × × × मुक्ताः—परित्यक्ता योगाः—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपो-विषया व्यापारा येन स मुक्तयोगी । ईदृशेऽपात्रे (कल्पाध्ययनं) न दातव्यम् । × × × ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तप का परित्याग करनेवाला कल्पाध्ययन का अपात्र—मुक्तयोगी ।

.०१८१ मोस-मणपओगे (मृषा-मनः प्रयोग) —सम० सम १५।सू ७।पृ० ४४

मूल—मणूसाणं पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते, तंजहा—× × × मोस-मणपओगे × × × ।

टीका—सत्यविपरीतमसत्यं, यथा—नास्ति जीवः एकान्तसद्रूपोवेत्यादि-कुविकल्पनपरं, तच्च तन्मनश्च तस्य प्रयोगोऽसत्यमनःप्रयोगः ।

.०१८२ वचनजोगञ्जलणा (वचनयोग खलना) —भग० श १७।उ ३

.०१८३ वतिसमित्तिजोगेण (वचनसमित्तियोग)

—पण्हा० अ ६।ढा १।सू १६।पृ० ६८७

वचन में सत्प्रवृत्ति रूप व्यापार ।

मूल—तत्तियं च वतीते पावियाते × × × वतिसमित्तिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा × × × अहिंसए संजए सुसाह ।

टीका— $\times \times \times$ वाचा पापं न भणितव्यमिति $\times \times \times$ वाचा पाणा-
त्मकं—प्राणिघातात्मकं, न कदापि भाषितव्यं, एवमुना प्रकारेण वचनसमिति
योग-युतो भाषितो भवति अन्तरात्मा—जीवः ।

अन्तरात्मा को भाषित करने में एक कारणभूत प्राणिघात रूप हिंसामूलक वचन से
सर्वथा वर्जित रहना—वचनसमितियोग ।

०१८४ वासणाजोगो (वासनायोग)

—विशेषा० गा २६१

वासना और जीव का पारस्परिक सम्बन्ध ।

तयर्णतरं तयत्थाविच्छवणं जो य वासणाजोगो ।

कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ ॥

टीका— $\times \times \times$ यश्च वासनाया जीवेन सह योगः सम्बन्धः $\times \times \times$ ।

जो वासना अर्थात् प्राप्ति की अभिलाषा कालान्तर में जाकर धारणा का रूप ग्रहण
कर लेती है, उसका जीव के साथ योग सम्बन्ध होना—वासनायोग ।

०१८५ वीरिय-सजोग-सहव्याप (वीर्य-सयोग-सद्रव्य)

—भग० श ५।उ ४।प्र ३७

०१८६ विसंवादाजोगो (विसंवादनायोग)

—ठाण० स्था ४।उ १।सू २५४

जिस रूप में कहा जाय उस रूप में विश्वास न करना ।

मूल—अउव्विहे मोसे पन्नत्ते तं जहा—कायअणुज्जुयया $\times \times \times$
विसंवादाजोगे ।

टीका—अनाभोगादिना गवादिकमश्वादिकं यद्वदति कस्मैचित् किञ्चि-
दभ्युपगम्य वा यन्न करोति सा विसंवादा (तथा) योगः—सम्बन्धो
(विसंवादनायोगः)

अनाभोगादि के कारण किसी के पास जाकर गो, अश्व आदि कुछ कहा जाय,
उसको अस्वीकार कर दिया जाय वह विसंवादना है उसके साथ योग—सम्बन्ध स्थापित
करना—विसंवादना योग ।

विसंवादनायोग चतुर्विध मिथ्यात्व का चौथा भेद है ।

०१८७ विवित्तवासवसहिसमितियोगेण (विवित्तवासवसतिसमितियोग)

—पण्हा० अ ८।द्रा ३।सू ६।पृ० ६६६

एकान्तवास रूप संयम का पालन ।

मूल—पढमं—देवकुल-सभ-प्पवा $\times \times \times$ विवित्तवासवसहिसमिति-
जोगेण भाषितो भवति अंतरप्पा $\times \times \times$ दत्तागुणाय-ओग्गहरई ।

टीका—विविक्ते—एकान्ते वासः—स्थानं वसतिर्यस्य स ससमिति-योगयुक्तो भावितो—वासितः अन्तरात्मा जीवः ।

अन्तरात्मा को वासित करने के लिए लोकाकुल स्थान को त्याग कर अलग एकान्त स्थान में रहकर साधु का संयम में व्यापृत रहना—विविक्तवासवसतिसमितियोग ।

०१८८ विविहाओ य जोगजुंजणाओ (विविध योगयोजन)

—पण्हा० द्वा ५।अ ५।सू ५।पृ० ६८०

अनेक प्रकार के उपायों का संयोजन ।

मूल—परिग्गहस्सेष य अट्ठाए × × × विविहाओ य जोगजुंजणाओ × × × संचिणंति मंदबुद्धी ।

टीका—विविधाश्च योग-योजनान् बहु-प्रकारांश्च वशीकरणप्रयोगान् परिग्रहवशीकरणार्थं शिक्षन्ति ।

यहाँ प्रकरण परिग्रह का है । पर-धन को अपने अधीन करने के लिए मंदबुद्धि व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले अनेक प्रकार के उपायों का संयोजन—विविध योगयोजन ।

०१८९ वेडव्वियमीससरीरकायप्पओगे (वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोग)

—पण्ण० प १६।सू १०६८

वैक्रियमिश्र शरीर रूप काय का प्रयोग—योग ।

पण्णरसच्चिहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा—× × × वेडव्वियमीससरीर-कायप्पओगे १२ × × × ।

टीका—वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगो देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां, मिश्रता च तदानीं कर्मणेन सह वेदितव्या × × × ।

देव और नारकियों में अपर्याप्त अवस्था में कर्मण से मिश्रित वैक्रिय प्रधान शरीर के होनेवाले व्यापार—वैक्रियमिश्रकायप्रयोग ।

०१९० वेडव्वियसरीरकायप्पओगे (वैक्रियशरीरकायप्रयोग)

—पण्ण० प १६।सू १०६८

वैक्रिय शरीर रूप काय का प्रयोग—योग ।

पण्णरसच्चिहे पओगे पण्णत्ते । तंजहा—× × × वेडव्वियसरीरकायप्प-ओगे ११ × × × ।

टीका—वैक्रियशरीरकायप्रयोगो वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्त्व ।

वैक्रिय लब्धि के द्वारा वैक्रिय शरीर योग्य पर्याप्त पर्याप्त शरीर रूप काय का व्यापार—वैक्रियशरीरकायप्रयोग ।

.०१९१ सगसगउवजोगजोगआदीहि (स्वक-स्वक-उपयोग-योग आदि)

—गोक० गा ४६०

स्व-स्व गुणस्थान के आधार पर होनेवाले उपयोग, योग आदि ।

उदयट्टाणं पयडि सगसगउवजोगजोगआदीहि ।

गुणयित्ता मेलविदे पदसंखा पयडिसंखा य ॥

मोहनीय की स्थानसंख्या और प्रकृतियों की संख्या जानने के साधन स्वरूप—
स्वकस्वकउपयोगयोग आदि ।

यहाँ प्रकरण मोहनीय की स्थानसंख्या तथा प्रकृतियों की संख्या जानने का है ।
अपने-अपने गुणस्थान में होनेवाली उदयस्थानों की संख्या तथा उन स्थानों की प्रकृतियों
की संख्या को उपयोग, योग तथा आदि पद से संयम, देशसंयम, लेश्या और सम्यक्त्व की
संख्या से गुणा करके फिर सबको जोड़ देने पर जो संख्या बनती है उसी ही वहाँ पर
मोहनीय की स्थानसंख्या और प्रकृतियों की संख्या होती है ।

.०१९२ सच्चमणपओगे (सत्यमनःप्रयोग)

—सम० सम १५।सू ७।पृ० ४४

मन का सत्यपरक व्यापार ।

मूल—मणूसाणं पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते, तंजहा—सच्चमणपओगे

× × × ।

टीका—सत्थार्यालोचननिबन्धनं मनः सत्यमनस्तस्य प्रयोगो—व्यापारः
सत्यमनःप्रयोगः ।

सत्थार्य के प्रतिपादन में निबद्ध मन का प्रयोग—व्यापार—सत्यमनःप्रयोग ।

.०१९३ सच्चमणप्पओगे (सत्यमनःप्रयोग)

—पण्ण० प १६।सू १०६८

सत्य रूप मन का व्यापार ।

पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते, तंजहा—सच्चमणप्पओगे १ × × × ।

टीका—‘सच्चमणप्पओगे’ इत्यादि, सन्तो मुनयः पदार्था चा तेषु यथा-
संख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थितस्वरूपचिन्तनेन च साधु सत्यं—अस्ति जीवः
सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपतया यथावस्थित-वस्तुचिन्तनपरं, सत्यं च
तत् मनश्च सत्यमनःतस्य प्रयोगो—व्यापारः सत्यमनः प्रयोगः × × × ।

मुनि तथा पदार्थ को ‘सत्’ कहा जाता है । मुनियों में मुक्ति प्राप्ति की इच्छा से
यथावस्थित स्वरूप का चिन्तन तथा पदार्थों में सत्-असत् रूप जीव को देहमात्र व्यापी
यथावस्थित वस्तु का चिन्तन करना—सत्यमनःप्रयोग ।

.०१९४ सच्चमोसवइप्पओगे (सत्यमृषावचनप्रयोग)

—पण्ण० प १६ । सू १०६८

आंशिक सत्य और आंशिक मिथ्या वचन का प्रयोग करना ।

पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते तं जहा—(सच्चमोसवइप्पओगे) एवं वइप्पओगेवि चउहा $\times \times \times$ ।

टीका—‘एवं वइप्पओगेवि चउहा’ इति, यथा मनः प्रयोगश्चतुर्धा तथा वाक्प्रयोगोऽपि चतुर्धा, तद्यथा— $\times \times \times$ सत्यमृषावाक् प्रयोगः $\times \times \times$, एताश्च सत्यवागादयः सत्यमनः प्रभृतिवद्भावनीया इति ।

एक दृष्टान्त के अनुसार यथा—किसी वन को धव, खदिर, पालस आदि वृक्षों से मिश्रित अशोक वृक्षों की बहुलता के कारण ‘अशोकवन’ ही है—इस कथन में अशोकवृक्षों के सद्भाव के कारण सत्यता तथा धवखदिरादि के भी सद्भाव के कारण असत्यता रहती है—इस प्रकार के वचन का प्रयोग करना—सत्यमृषावचनप्रयोग ।

‘०१९५ सच्चवइप्पओगे (सत्यवचनप्रयोग) —पण्ण० प १६ । सू १०६८

सत्य स्वरूप वचन का व्यवहार ।

पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते, तं जहा— $\times \times \times$ (सच्चवइप्पओगे) $\times \times \times$ ।

टीका—‘एवं वइप्पओगेवि चउहा’ इति, यद्यथा मनःप्रयोगश्चतुर्धा तथा वाक्प्रयोगोऽपि चतुर्धा, तथा—सत्यवाक्प्रयोगो $\times \times \times$ ।

सुक्ति प्राप्ति की अभिलाषा से जीव को सत्-असत् रूप तथा देह मात्र में व्याप्त स्वीकार कर वचन का प्रयोग करना—सत्यवचनप्रयोग ।

‘०१९६ सच्चामोसमणप्पओगे (सत्यमृषामनःप्रयोग) —पण्ण० १६ । सू० १०६८

आंशिक सत्य और आंशिक मिथ्या रूप मन का व्यापार ।

पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते तं जहा— $\times \times \times$ असच्चामोसमणप्पओगे $३ \times \times \times$ ।

टीका—‘सच्चामोसमणप्पओगे’ इति सत्यमृषा-सत्यासत्ये यथा धवखदिर-पलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेषु अशोकवनमेवेदमिति विकल्पनपरं, तत्र हि कतिपयाशोकवृक्षाणां सद्भावात् सत्यता अन्येषामपि धवखदिरादीनां सद्भावादसत्यता $\times \times \times$ ।

एक दृष्टान्त के अनुसार, यथा धव, खदिर, पलास आदि वृक्षों के रहते हुए भी अशोक वृक्ष की बहुलता के कारण किसी वन को अशोकवन कहना ; इस कथन में जिस प्रकार अशोक वृक्षों की बहुलता के कारण आंशिक सत्य तथा अन्य वृक्षों की भी सत्ता के कारण आंशिक असत्य का आभास होता है ; इस प्रकार के मन के व्यापार को ‘सत्यमृषामनोयोग’ कहते हैं ।

‘०१९७ संजमजोगविसन्ना (संयमयोगविषण्णा)

—ठाण० स्था २ । उ ४ । सू ४११ । टीका

टीका—संजमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणंतु ।

इंदियविसयवसगया मरंति जे तं वसटंतु ॥

संयम योग से निवृत्त होकर, परिषदादि के बाधित होने से वलायमरण है ।

०१९८ सजोगिभवत्थकेवलणाणे (सयोगिभवत्थकेवलज्ञान)

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ८६ । पृ० ५०६

योगयुक्त अवस्था में होनेवाला केवलज्ञान ।

मूल—भवत्थकेवलणाणे दुबिहे पणत्ते, तं जहा—सयोगिभवत्थ-
केवलणाणे × × × ।

टीका—‘भवत्थे’ त्यादि सह योगैः—कायव्यापारादिभिर्यः स सयोगी
इन्समासान्तत्वात् स आसौ भवत्थश्च तस्य केवलज्ञानमिति विग्रहः ।

मन, वचन, काय के व्यापार के साथ बरतनेवाले भवत्थ मनुष्य में होनेवाला एक
ज्ञान—सयोगिभवत्थकेवलज्ञान ।

०१९९ सजोगी केवली (सयोगी केवली) —सम० सम १४ । सू ५ । पृ० ४१

मन, वचन, और काय के व्यापार से युक्त केवलज्ञानी ।

मूल—कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च अउइस जीवट्ठाणा पणत्ता, तंजहा—
मिच्छदिट्ठी × × × सयोगी केवली × × × ।

टीका—सयोगी केवली—मनः प्रभृतिव्यापारवान् केवलज्ञानीति ।

कर्म—विशोधन के द्वारा होनेवाले जीव के चौदह स्थान—गुणस्थान होते हैं, उनमें
तेरहवाँ गुणस्थान—सयोगी केवली ।

०२०० संजमजोगयं (संयमयोगज)

—दसवे० अ ८ । गा ६१

संयम रूप योग—आचरण ।

तवं खिमं संजमजोगयं च सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए ।

सूरे व सेणाए समत्तमाउहे अलमप्पणो होइ अलं परेसि ॥

टीका—‘समयोगं च’ पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं च ।

जीवकाय, इन्द्रिय तथा मन के संयम के प्रति समाचरण करना—जागरूक रहना—
संयमयोग कहा जाता है ।

०२०१ सजोगाजोगा (सयोगायोग)

—ध्याश० गा ६४

योगयुक्त तथा योगरहित साधक ।

एएच्चिय पुव्वारणं पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा ।

दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवल्लिणो ॥

टीका— $\times \times \times$ 'द्वयोः' शुक्लयोः परयोः—उत्तरकालभावितोः प्रधान-योर्वा सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति-व्युपरतक्रियाऽप्रतिपातिलक्षणयोर्यथासंख्यं सयोगा-योगकेवलिनो ध्यातार इति $\times \times \times$ ।

यहाँ पर विवेचन है सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति अर्थात् जिस अवस्था में काययोग की क्रिया सूक्ष्म हो जाती है—ऐसा ध्यान करनेवाला सयोगी । व्युपरतक्रियाऽप्रतिपाती अर्थात् जिस अवस्था में योग की क्रिया नहीं होती है—ऐसा ध्यान करने वाला अयोगी ।

सयोग—अयोग—इन दो शब्दों का द्वन्द्व समास मूलक शब्द सयोगायोग ।

०२०२ सजोगिभवस्थकेवलज्ञानं (सयोगिभवस्थकेवलज्ञान)

—नन्दी० सू० ३५

योगयुक्त अवस्था का केवलज्ञान ।

मूल—से किं तं भवस्थकेवलज्ञानं ? भवस्थकेवलज्ञानं दुविहं पण्णत्तं । तं जहा—सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं $\times \times \times$ ।

टीका—सह योगेन वर्तन्ते ये ते सयोगा मनोवाक्कायास्ते यथासम्भव-मस्य विद्यन्ते इति सयोगी सयोगी आसौ भवस्थश्च सयोगिभवस्थस्तस्य केवलज्ञानं सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ।

जिस साधक में मन, वचन और काय के व्यापार विद्यमान रहते हैं, उसके उस स्थिति में होनेवाला केवलज्ञान—सयोगिभवस्थकेवलज्ञान ।

भवस्थ केवलज्ञान का प्रथम भेद—सयोगिभवस्थकेवलज्ञान ।

०२०३ सद्धिमेत्तसजोगिकेवलीणं (पष्ठिमितसयोगिकेवली)

—षट्० खं १, ८ । सू० १३७ । टीका । पृ ५ । पृ २६८

सयोगिकेवलियों की संख्या ६० ।

टीका—पदर-लोगपूरणेसु उक्त्सेण सद्धिमेत्तसजोगिकेवलीणमुबलंभा ।

प्रतर और लोकपूरण समुद्धात में सयोगिकेवलियों की उत्कृष्ट संख्या का प्रमाण ६० है ।

०२०४ समाहिजोगे (समाधियोग)

—दसवे० अ ६ । उ १ । गा १६

मोक्ष की साधना में सहायभूतध्यानविशेष ।

महागरा आयरिया महेसी समाहिजोगे सुयसीलबुद्धि ।

संपाविउकामे अणुत्तराहं आराहण तोसण धम्मकामी ॥

टीक—समाधियोगैः—ध्यानविशेषैः ।

अनुत्तर ज्ञान आदि गुणों की सम्प्राप्ति में साधक को कर्मों की निर्जरा करने के लिए सहायभूत ध्यान विशेष—समाधियोग ।

*०२०५ सव्वजोगट्ठाणजीवा (सर्वयोगस्थानजीव)

—षट्० खं ४, २, ४ । सू २६ । टीका । पु १० । पृ० ६८

सब योगस्थानवर्ती जीवों की संख्या ।

उक्कस्सजोगजीवमेत्तेण । सव्वजोगट्ठाणजीवा बिसेसाहिया । केत्तिय-
मेत्तेण ? जवमज्झादो हेट्ठिमजीवमेत्तेण ।उत्कृष्ट योगस्थानवर्ती जीवों की अपेक्षा से यवमध्य से नीचे के स्थानों में रहने
वाले जीवों की संख्या रूप विशेषाधिक होनेवाले—सर्वयोगस्थानजीव ।

*०२०६ सातिजोगे (सातियोग)

—सम० सम ५२ । सू १ । पृ० १२३

मोहनीय कर्म का एक भेद ।

मूल—मोहणिज्जस्स णं कम्मस्स बावन्नं नामधेज्जा पणत्ता, तं जहा—
कोहे कोवे × × × सातिजोगे × × × ।मोहनीय कर्म के ५२ नामों में एक नाम—सातियोग । शब्द के आधार पर मन-
वचन-काय की अति अशुभ प्रवृत्ति—सातियोग ।

टीकाकार भी अभयदेव सूरि ने 'सातिजोग' शब्द की कोई व्याख्या नहीं की है ।

*०२०७ सावज्जजोगं (सावद्ययोग)

—उत्त० अ २१ । गा १३

पापयुक्त मन, वचन और काय की प्रवृत्ति ।

सव्वेहि भूएहि दयाणुकंपी खन्तिक्खमे संजयबंभयारी ।

सावज्जजोगं परिवज्जयन्तो चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिण् ।

टीका—सावद्ययोगं वर्जयन्, सपापयोगं परित्यजन् ।

चारित्र पालन में वर्जनीय मन, वचन और काय की सपाप प्रवृत्ति—सावद्य योग ।

*०२०८ सर्विन्दियजोगजुंजणता (सर्वेन्द्रियजोगयुंजनता)

—ठाणा० स्था ७ । सू ५८५

जिसमें सभी इन्द्रियों के योग की योजना हो ।

मूल—पसत्थकायविणए सत्तबिहे पणत्ते तं जहा—आउत्तं × × ×
सर्विन्दियजोगजुंजणता ।टीका—सर्वेषामिन्द्रियाणां योगा—व्यापाराः योगा—व्यापाराः सर्वे वा
ये इन्द्रिययोगास्तेषां योजनता—करणं सर्वेन्द्रिययोगयोजनता ।जिस विनय में सभी इन्द्रियों के व्यापार संयोजित होते हैं वह सर्वेन्द्रिययोग-
योजनता ।

सर्वेन्द्रिययोगयोजनता सात प्रकार के प्रशस्त कायविनय का सातवाँ भेद है ।

०२०९ सावज्जं जोगं (सावद्य योग)

—दसवे० अ ७।गा ४०

पापयुक्त अथवा निन्दनीय मन, वचन, तथा काय का व्यापार ।

तद्देव सावज्जं जोगं परस्सट्ठाए निट्ठियं ।

कीरमाणं तिवा नञ्चा सावज्जं न लवे मुणी ॥

अनिश्चितार्थ कथन अथवा स्वयं को अप्रिय लगनेवाली बात दूसरों के लिए प्रयोग करना—सावद्य (वचन) योग ।

०२१० सावज्जं जोगं (सावद्य योग)

—आव० अ ४

सामाइयं सावज्जं जोगं पञ्चक्खामि (सामायिक सावद्य-योग-प्रत्याख्यान)

—आव० अ ४

करेमि भंते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पञ्चक्खामि जाघ नियम मुहुत्तं—

× × × ।

—आव० अ ४

हे भगवान् : मैं एक मुहूर्त के लिए सामायिक करता हूँ—सावद्य योग का प्रत्याख्यान करता हूँ । दो करण, तीन योग से ।

०२११ सत्थमूसजाइ-सावज्जजोग-पञ्चक्खान (शस्त्र-मूसलं सावद्ययोग-प्रत्याख्यान)

—आव० अ ४

एक्कारसमं पोसहोववासव्वयं × × × सत्थमूसजाइ-सावज्जजोग-पञ्चक्खानं ।

—आव० अ ४

ग्यारहवें पौषघ व्रत में × × × शस्त्र-मूसल आदि सावद्य योग—व्यापार का प्रत्याख्यान । दो करण, तीन योग ये सावद्य योग-व्यापार न करूँगा न कराऊँगा, मन से, वचन से, काया से ।

०२१२ सुहं जोगं (शुभ योग)

—भग० श १।उ १।प्र ४८

अनारम्भ शुभ कर्म में प्रवृत्ति ।

× × × तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च णो आयारंभा णो परारंभा णो तदुभयारंभा अणारंभा ।

टीका—प्रमत्तसंयतस्य हि शुभोऽशुभश्च योगस्स्यात् संयतत्वात्, प्रमाद-परत्वाच्च । इत्यत आह—‘सुहं जोगं पडुच्च’ त्ति शुभयोग—उपयुक्ततया प्रत्यु-पेक्षणादिकरणम् ।

आत्मारम्भ, परारम्भ, उभयारम्भ रूपकर्मों में उपयोगितावश उपेक्षादि करना—शुभ योग ।

यह कथन प्रमत्तसंयत की अपेक्षा से है । प्रमत्तसंयत में संयम और प्रमाद रहने के कारण शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के योग होते हैं ।

०२१२ सुहुमणिगोदजोगादो (सूक्ष्मनिगोदयोग)

—षट्० खं ४, २ ४।सू ५७।टीका।पु १० पृ० २७७

सूक्ष्मनिगोद जीव का योग ।

पज्जत्तिसमाणकालो जहण्णओ वि एगसमयादिओ णत्थि, अंतोमुहुत्तो चेवेत्ति जाणावणट्ठमंतोमुहुत्तगहणं । किमट्ठं सव्वलहुं पज्जत्ति णीदो ? सुहुमणि-गोदजोगादो असंखेज्जगुणेण बादरपुढविकाइयापज्जत्तजोगेण संखियमाणदव्व-पडिसेहट्ठं ।

बादर पृथ्वीकायिक जीव के अपर्याप्त योग से असंख्यात गुणहीन—सूक्ष्मनिगोदयोग ।
सूक्ष्मनिगोद का योग सर्वतः लघुकाल स्थायी होता है ।

०२१३ सुहुमेइंदियजोगादो (सूक्ष्मएकेन्द्रिययोग)

—षट्० खं ४, २।सू ७।टीका।पु १०।पृ० ३२

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव का योग—प्रवृत्ति ।

बादरपुढवीजीवेसु अंतोमुहुत्तूणतसठिदीप ऊणियं कम्मठिदिमच्छिदो जीवो सो उक्कस्सदव्वसामी होदि । कुदो ? सुहुमेइंदियजोगादोबादरेइंदिय-जोगस्स असंखेज्जगुणत्तुवलंभादो ।

बादर पृथिवीकायिक जीव में अन्तर्महूर्त कम त्रसस्थिति से हीन कर्मस्थिति रूप काल तक रहनेवाले जीव के उत्कृष्ट द्रव्य के स्वामित्व होने में कारण बताया गया है सूक्ष्म एकेन्द्रिययोग से बादर एकेन्द्रिययोग का असंख्यात गुणा होना ।

०२१४ सेज्जासमितियोग (शय्यासमितियोग)

—ण्हा० अ ङाद्वा ३।सू ११।पृ० ६६६

पीठ-फलक-शय्यादि के निमित्त प्रयत्न-विशेष न करने रूप संयम का पालन ।

मूल—पीठ-फलक-सेज्जा-संधारगट्ठाए रुक्खान छिंदियव्वा, × × × एवं सेज्जासमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा × × × दत्ताणुण्णाय ओग्गहरुई ।

टीका—तृतीया भावना वस्तुशय्यापरिकर्मवर्जना नाम, तच्चैवंप्रकारेणाह पीठफलक शय्यासंस्तारकार्यनाय वृक्षस्तरुर्न छेदितव्यः, × × × समितः समितिभिः एको (५) सहायोऽपि रागाद्यभावात् अरेत्—अनुतिष्ठेत् धर्मं—चारित्रधर्मं एवं शय्यासमितियोगेन भावितो वासितो भवति अन्तरात्मा जीवः ।

आत्मा को भावित करने के लिए साधु का पीठ-फलक-शय्यादि के निमित्त वृक्ष के छेदन से वर्जित रहने रूप संयम को धारण करना—शय्यासमितियोग ।

यह अहिंसा की वस्तुशय्यापरिकर्मवर्जना नाम की तीसरी भावना है ।

.०२१५ सेसदुजोगेसु (शेषद्वियोग)

—गोक० गा ५४६

शेष अन्त के दो योग—औदारिकमिश्र और कर्मण ।

अडवीसदु हारदुगे सेसदुजोगेसु छकमादिल्लं ।

वेदकसाये सव्वं पढमिल्लं छकमण्णाणे ॥

योग के आधार पर आदि के छः बन्धस्थानों की सत्ता रहने वाले योग औदारिक-मिश्र और कर्मण—शेषद्वियोग ।

.०२१६ एयजोगसमाउत्तो (एतत्त्योगसमायुक्त)

—उत्त० अ ३४गा २२

अर्थात् इन योगों से सहित ।

पंचासवप्पवत्तो, तीहि अगुत्तो छसुं अविरओ य ।

तिव्वारंभपरिणओ, खुट्ठो साहस्सिओ णरो ॥ २१ ॥

णिद्धंसपरिणामो, णिस्संसो अजिइंदिओ ।

एयजोगसमाउत्तो, किणहलेसं तु परिणमे ॥ २२ ॥

—उत्त० अ ३४गा २१, २२

पाँच आसवों द्वारों में प्रवृत्ति करने वाला, तीन गुप्तियों से, अगुप्त (आत्मा का गोपन न करने वाला) छह काया में अविरत (छह काया की विराधना करने वाला), तीव्र भावों से आरंभादि करने वाला, क्षुद्र, साहसिक, (बिना विचारे काम करने वाला) निर्दयता के परिणाम वाला, नृशंस (क्रूर)—अजितेन्द्रिय (इन्द्रियों को वश में न करने वाला) इन योगों से युक्त मनुष्य कृष्णलेश्या के परिणाम वाला होता है ।

णीयावित्ती अचचले, अमाई अकुऊहले ।

विणीयविणप दंते, जोगवं उपहाणवं ॥ २७ ॥

पियधम्मे ददधम्मे, अवज्ज-भीरुहिएसप ।

एयजोग-समाउत्तो, तेऊलेसं तु परिणमे ॥ २८ ॥

—उत्त० अ ३४गा २७, २८

नम्रवृत्ति वाला (अहंकार रहित), चपलता रहित, माया रहित, कूतुहल आदि न करनेवाला, परम विनय भक्ति वाला, इन्द्रियों का दमन करनेवाला, स्वाध्यायादि में रत रहनेवाला, उपधानादि तप करनेवाला, धर्म में प्रेम रखने वाला, धर्म में दृढ़ रहने वाला, पाप से डरने वाला, सभी प्राणियों का हित चाहनेवाला, इन उपरोक्त परिणामों से युक्त प्राणी तेजलेश्या के परिणामवाला होता है ।

.०२१७ केवल्लिणोद्धनिरुद्धजोगस्स (केवल्लिनोऽर्धनिरोधजोगस्स)

—ठाण० स्था ४।उ १।सूटीका में उद्धृत

निर्वाण के समय तेरहवें गुणस्थान में काय योग का अर्ध निरोध ।

निष्वाणगमणकाले केवलिनोद्धनिरुद्धजोगस्स ।

सुहुमकिरियाऽनियट्ठि तइयं तणुकायकिरियस्स ॥

तस्सेवय सेलेसीगयस्स सेलोव्व निप्पकंपस्स ।

वोच्छिन्नकिरिय मप्पडिवाई ज्ञाणं परमसुवकं ॥

—ठाण० स्था ४।उ २।सू।टीका में उद्धृत

निर्वाण के समय केवली के मन और वचन योगों का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है तथा काययोग का अर्थ निरोध होता है । उस समय उनके शुद्धध्यान का तीसरा भेद 'सुहुम-किरिए अनियट्ठी' होता है और सूक्ष्मकायिकी क्रिया-उच्छ्वासादि के रूप में होती है ।

उस निर्वाणगामी जीव के शैलेत्व प्राप्त होने पर, सम्पूर्ण योग निरोध होमे पर भी शुद्धध्यान का चौथा भेद 'समुच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाती' होता है, यद्यपि शैलेत्व की स्थिति मात्र पाँच ह्रस्व स्वराक्षर उच्चारण करने समय जितनी होती है ।

.०२१८ जोगर्व (योगवत्) —उत्त० अ ३।गा २७, सूय० श्रु १।अ २।उ १।गा ११ शुभ प्रवृत्ति बाला ।

जययं विहराहिजोगवं अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा ।

अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहि सम्मंपवेइयं ॥

—सूय० श्रु १।अ २।उ १।गा १

.०५ परिभाषा(के उपयोगी पाठ

.०१ वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धि विशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभि-सन्धि

पूर्वमात्मनो वीर्यं योगः × × × ।

—ठाण० स्था ३।उ १।सू १२।टीका

वीर्यान्तराय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से निष्पन्न लब्धि विशेष को योग कहते हैं ।

.०२ लेश्या-सहित वीर्य-पराक्रम योग है

× × × स्पन्दनारूपं यथासंभवं सूक्ष्मबादरपरिस्पन्दरूपक्रियात्मकं,

एतदेव च सलेश्यं वीर्यमुक्तस्वरूपं योगसंज्ञमुच्यते ।

—पंचश्वे० भा ३।गा ४।टीका।पृ० ७२१

सूक्ष्म-बादर परिस्पन्दनात्मक रूप क्रिया व सलेशी वीर्ययुक्त स्वरूपको योग कहते हैं ।

.०३ योग-परिणाम जीव-परिणाम का भेद

जीवपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णते ? गोयमा ! दसविहेपण्णत्ते ।

तंजहा—गतिपरिणामे १ इन्द्रियपरिणामे २ कसायपरिणामे ३ लेसापरिणामे ४

जोगपरिणामे ५ उवजोगपरिणामे ६ णाणपरिणामे ७ दंसणपरिणामे ८ चरित्त-

परिणामे ९ वेदपरिणामे १० ।

—पण्ण० प १३ सू ६२६।पृ० २२६

—ठाण० स्था १०।सू १०

पण्ण० टीका—योग एव परिणामो योगपरिणामः ।

जीव परिणाम के दस भेदों में जोग परिणाम भी है ।

.०४ द्रव्ययोग पुद्गल है

पोग्गलत्थिकाएणं पुच्छा । गोयमा ! पोग्गलत्थिकाएणं जीवाणं
ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेया-कम्मए सोइंदिय-च्चिंखदिय-घाणिंदिय-
जिर्णिभदिय-फासिंदिय-मणजोग-वयजोग-कायजोग-आणापाणूणं च गहणं
पवत्तइ गहणलक्खणे णं पोग्गलत्थिकाए । —भग० श १३।उ ४।प्र १८

पुद्गलास्तिकाय के द्वारा मनोयोग, वचनयोग, तथा काययोग का द्रव्य रूप से ग्रहण होता है, अतः द्रव्य की अपेक्षा मनोयोग, वचनयोग और काययोग पुद्गल है ।

योगेन ये समायान्ति शस्ताशस्तेन पुद्गलाः ।

तेऽष्टकर्मत्वमिच्छन्ति कषायपरिणाममतः ॥

—योसा० अ २।श्लो २३

.०५ योग मूल प्रत्यय है

एत्थ ताव पच्चयपरूवणा कीरदे । तंजहा—मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगा
इदि एदे चत्तारि मूलपच्चया । × × × । —षट्० खं ३ सू ६।टीका।पु ८।पु० १६
चार मूल प्रत्यय है—मिथ्यात्व, असंजम, कषाय और योग ।

.०६ पापास्त्रय का कारण

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योगवृत्तयः ।

सामान्येन प्रजायन्ते दुरितास्त्रयहेतवः ॥

मिथ्यादृक्त्वमचारित्रं कषायो योग इत्यमी ।

चत्वारः प्रत्ययाः सन्ति विशेषेणाघसंप्रहे ॥

—योसा० अ ३ । श्लो १, २

.०७ योग कर्म का निमित्त है

कम्मं जोगनिमित्तं सुमोऽसुभो वा स एगसमयस्मि ।

होउज्ज न उ उभयरूवो कम्मं पि तथो तयणुरूवं ॥

—विशेषा० गा १६३५

टीका—मिथ्यात्वाऽविरति-प्रमाद-कषाययोग बन्धहेतव इति पर्यन्ते
योगाभिधानात् सर्वत्र कर्मबन्धहेतुत्वस्य योगाविनाभावाद् योगानामेव बन्ध-
हेतुत्वमिति कर्म योगनिमित्तमुच्यते । स च मनो-वाक्-कायात्मको योग
एकस्मिन् समये शुभोऽशुभो वा भवेत्, न त्भयरूपः, अतः कारणानुरूपत्वात्

कार्यस्य कर्मापि तदुत्तरूपं शुभं पुण्यरूपं बध्यते, अशुभं वा पापरूपं बध्यते, न तु संकीर्णस्वभावमुभयरूपमेकदैव बध्यत इति ।

योग अजीवद्रव्य-परिणाम है

.०८ योग अजीव द्रव्य परिणाम है

जीवद्ववा णं भंते ! अजीवद्ववा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, अजीव-
द्ववाणं जीवद्ववा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ? × × × । गोयमा । जीद्ववा
णं अजीवद्ववे परियाइयंति, अजीवद्ववे परियाइइत्ता ओरालियं वेउव्वियं
आहारगं तेयगं कम्मगं, सोइंदियं जाव फासिंदियं, मणजोगं, वइजोगं, काय-
जोगं, आणापाणुत्तं च णिव्वत्तयंति, से तेणट्ठेणं जाव 'हव्वमागच्छंति' ।

—मग० श २५ । उ २।पृ ४

जीवद्रव्य अजीवद्रव्य को ग्रहण कर औदारिक यावत् कार्मण—पाँच शरीर,
श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शनेन्द्रिय—इन पाँच इन्द्रिय, मनोयोग, वचनयोग, काययोग तथा
श्वासोच्छ्वास रूप में परिणमन कराता है, अतः योग अजीवद्रव्य का परिणाम है ।

.०९ योग क्षीरास्रवादि लब्धकलाप है

× × × योगः क्षीरास्रवादिलब्धिकलापसम्बन्धः × × × ।

आया० शीलांकाटीका

.१० योग आस्रवद्वार है

पंच आस्रवद्वारा पन्नत्ता तं जहा—मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया
जोगा ।

—सम० सम ५ । सू ५ । पृ० १३

पाँच आश्रव द्वार है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग ।

.११ योग मार्गणा का एक भेद है

गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय
सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ।

—षट्० खं १ । १ । सू ४ । पृ १ । पृ० १३२

टीका—गताविन्द्रिये काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने संयमे दर्शने लेश्यायां
भव्ये सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे च जीवसमासाः मृश्यन्ते ।

.१२ योग सत्यपर्याप्ति का एक भेद है

पज्जत्तिया णं भंते ! भासा कतिविहा पण्णता ? गोयमा ! दुविहा
पण्णत्ता । तं जहा—सच्चा य मोसा य । सच्चा णं भंते ! भासा पज्जत्तिया
कतिविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । तं जहा—जणवयसच्चा १

सम्मत्सञ्चा २ उवणासञ्चा ३ णामसञ्चा ४ रूवसञ्चा ५ पडुच्चसञ्चा ६ ववहार-
सञ्चा ७ भावसञ्चा ८ जोगसञ्चा ९ ओवम्मसञ्चा १० ।

—पण्ण० प ११ । सू ८६१-६२ । पृ० २१३

टीका—योगः सम्बन्धः तस्मात् सत्या योगसत्या, तत्र छत्रयोगात्
विविक्षितशब्दप्रयोगकाले छत्राभावेऽपि छत्रयोगस्य सम्भवात् छत्री दण्डयोगात्
दण्डी × × × ।

दसविहे सच्चे पणत्ते तं जहा—

संगहणी-गाहा—

जणवय सम्मय-ठवणा, णामे रूवे पडुच्च सच्चेय ।

ववहार भाव जोगे, दसमे ओवम्मसच्चेय ।

—ठाण० स्था १० । सू ८६

.१३ योग द्वार का एक भेद है

दिसि १ गति २ इन्द्रिय ३ काण ४ जोगे ५ वेदे ६ कसाय ७ जेस्सा य ८ ।

सम्मत्त ९ णाणा १० दंसण ११ संजय १२ उवओग १३ आहारे १४ ॥

भासग १५ परित्त १६ पज्जत्त १७ सुहुम १८

सण्णी १९ भवऽत्थिए २०-२१ चरिमे २२ ।

जीवे य २३ खेत्त २४ बंधे २५ पोग्गल २६ महदंडण २७ चेव ॥

—पण्ण० प ३ । सू २१२ । गा १८०-८१ । पृ० ८१

.१४ योगबन्ध का कारण

पुद्गलानां यदादानं योग्यानां सकषायतः ।

योगतः स मतो बन्धो जीवस्वातन्त्र्यकारणम् ॥

—योसा० अ ४ । श्लो १

.०२ मनोयोग की परिभाषा

मननं मनः—औदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूह-सात्त्विक्याज्जीव-
व्यापारो मनोयोग इति इति भावः, मन्यते वाऽनेनेति मनो-मनोद्रव्यमात्रमेवेति ।

—ठाण० स्था १ । सू १६ । टीका

तनुयोगेन मनःप्रायोग्यवर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिण-
मितानि वस्तुचिन्ताप्रवर्तकानि द्रव्याणि मन इत्युच्यन्ते, तेन मनसा सहकारि-
कारणभूतेन योगो मनोयोगः ; मनोविषयो वा योगो मनोयोगः ।

—कर्म० भा ४ । गा १० । टीका । पृ० १२८

× × × ब्रह्मत्यर्चितावावदमणादो समुष्पण्णजीवपदेसपरिप्फंदो मण-
जोगो णाम । —षट्० खं ४, २, ४ । सू १७५ । टीका । पु १० । पृ० ४३७

मनसा योगो मनोयोगः । अथ स्यान्न द्रव्यमनसा सम्बन्धो मनोयोगः
मनोयोगस्य देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरकालस्थितिप्रसङ्गात् । न सक्रियावस्था योगः
योगस्याहोरात्रकालप्रसङ्गात् । न भावमनसा सम्बन्धो मनोयोगः तस्य ज्ञान-
रूपत्वतः उपयोगान्तर्भावात् इति न त्रितयविकल्पोक्तदोषः, तेषामनभ्युपगमात् ।
कः पुनः मनोयोग इति चेद्भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः ।

षट्० खं १, १ । सू ४७ । टीका । पु० १ पृ० २७८-७९

मनन करना मन है । औदारिकादि शरीर के व्यापार के द्वारा ग्रहीत मनोद्रव्य
समूह के सहयोग से होनेवाला व्यापार-चेष्टा मनोयोग कहलाता है । अथवा जिससे मनन
किया जाता है वह मन अर्थात् मनोद्रव्य मात्र है ।

काययोग के द्वारा मनः प्रायोग्य वर्णणाओं से ग्रहण करके मनोयोग के द्वारा मन
रूप से परिणमित जो पदार्थ की चिन्ता के प्रवर्तक द्रव्यों को मन कहते हैं । इस प्रकार के
मन के सहकार से होनेवाला योग अर्थात् प्रवृत्ति को मनोयोग कहा जाता है । अथवा मन
को विषय बनाने वाले योग को मनोयोग कहा जाता है ।

बाह्य पदार्थों के चिन्तन में व्यापृत मन से जो जीव-प्रदेशों का परिस्पन्दन होता है
वह मनोयोग है ।

मन के साथ योग-सम्बन्ध होना मनोयोग है । द्रव्य मन के साथ सम्बन्ध होना
मनोयोग नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर देशोन तैत्तिश सागर काल पर्यन्त मनो-
योग की स्थिति का प्रसंग आ जायगा । सक्रियावस्था भी योग नहीं है, क्योंकि ऐसा
मानने पर अहोरात्र योग की स्थिति का प्रसंग आ जायेगा । भाव मन के साथ सम्बन्ध होने
को भी मनोयोग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके ज्ञान रूप होने के कारण उपयोग में
अन्तर्भाव हो जायगा । इस प्रकार तीन विकल्पों में दिखाये गये दोष स्वीकार्य नहीं हैं,
क्योंकि वे दोष प्राप्त नहीं होते । फिर तो मनोयोग का लक्षण होना चाहिए । भावमन की
उत्पत्ति के लिए किया जानेवाला प्रयत्न मनोयोग है ।

०२.०१ सत्यमनोयोग की परिभाषा

सन्तो मुनयः पदार्था वा तेषु यथासंख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थित-
वस्तुस्वरूपचिन्तनेन च साधु सत्यं—अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्या-
दिरूपतया यथावस्थितवस्तुचिन्तनपरं, सत्यं च तत् मनश्च सत्यमनः तस्य
प्रयोगो—व्यापारः सत्यमनःप्रयोगः × × × ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

तत्र सन्तो मुनयः पदार्था वा, तेषु यथासंख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथा-

वस्थिततत्त्वचिन्तनेन च हितः सत्यः, यथास्ति जीवः सदसद्रूपः कायप्रमाण इत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुविकल्पनपर इत्यर्थः, सत्यश्चासौ मनोयोगश्च सत्यमनोयोगः १ ।

—कर्म० भा ४ । गा २४ । टीका

सन्त सुनियों का तथा पदार्थों को 'सत्' कहा जाता है । सुनियों में मुक्ति प्राप्त की अपेक्षा से तथा पदार्थों में यथावस्थित पदार्थ के स्वरूप-चिन्तन की अपेक्षा से सत्य कहा जाता है, यथा जीव सदसत् रूप देहमात्र व्यापी है इत्यादि रूप से यथावस्थित पदार्थ का चिन्तन सत्य है । सत्य रूप मन—सत्यमन, उसके व्यापार को सत्यमनोयोग कहा जाता है ।

सत्ये मनः सत्यमनः तेन योगः सत्यमनोयोगः ।

—षट्० खं १, १ । सू ४६ । टीका । पु १ । पृ० २८०

सत्य में व्यवस्थित मन के द्वारा योग—व्यापार को सत्यमनोयोग कहते हैं ।

०२.०२ असत्यमनोयोग की परिभाषा

× × × 'असच्चमणप्पओगे' इति, सत्यविपरीतमसत्यं, यथा—नास्ति जीवः एकान्तसद्रूपो वेत्यादिकुविकल्पनपरं, तच्च तन्मनश्च तस्य प्रयोगोऽसत्यमनःप्रयोग × × × ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

तथा सत्यविपरीतोऽसत्यः, यथा नास्ति जीव एकान्तसद्भूतो विश्व-व्यापीत्यादिकुविकल्पचिन्तनपरः, असत्यश्चासौ मनोयोगश्च असत्यमनोयोगः २ ।

—कर्म० भा ४ । गा २४ । टीका । पृ० १५१

तद्विपरीतो मोषमनोयोगः ।

—षट्० खं १, १ । सू ४६ । टीका । पु १ । पृ० २८०

सत्य के विपरीत को असत्य कहा जाता है, यथा—जीव एकान्त सद्रूप नहीं है, इत्यादि प्रकार का कुविकल्प पूर्ण मन के प्रयोग-व्यापार को असत्यमनःप्रयोग या असत्यमनोयोग कहा जाता है ।

०२.०३ सत्यमृषामनोयोग की परिभाषा

× × × 'सच्चमोसमणप्पओगे' इति सत्यमृषा-सत्यासत्ये यथा—ध्वखदिर-पलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेषु अशोकवनमेवेदमिति विकल्पनपरं, तत्र हि कतिपयाशोकवृक्षाणां सद्भावात् सत्यता अन्येषामपि ध्वखदिरादीनां सद्भावादसत्यता, व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते, परमाद्यतः पुनरिदमसत्यमेव, यथाविकल्पितार्थायोगात्, तच्च तन्मनश्चेत्यादि प्राग्वत् × × × ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

तथा मिश्रः—सत्यासत्यमनोयोगः, यथा इह धवखदिर पलाशादिमिश्रेषु बहुध्वशोकवृक्षेषु अशोकवनमेवेदमिति यदा विकल्पयति तदा तत्राऽशोकवृक्षाणां सद्भावात् सत्यः, अन्येषामपि धवखदिरपलाशादीनां तत्र सद्भावात् असत्य इति सत्यासत्यमनोयोग इति व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते, परमार्थतः पुनरयम-सत्य एव यथाविकल्पार्थायोगात् ३ । —कर्म० भा ४ । गा २४ । टीका

तदुभययोगात्सत्यमोषमनोयोगः ।

—षट्० खं १, १ । सू ४६ । टीका । पु १ । पु० २८०

जिसमें सत्य और असत्य मिश्रित हो, यथा—धव, खदिर, पलाश आदि वृक्षों से मिश्रित वन को अशोक वृक्षों की बहुलता के कारण 'अशोक वन ही है' ऐसा विकल्प मानना । यद्यपि यहाँ पर कतिपय अशोक वृक्षों के सद्भाव के कारण सत्यता है, किन्तु अन्य धव, खदिर आदि के सद्भाव के कारण असत्यता भी है । व्यवहार नय की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है, परमार्थतः यह असत्य ही है, क्योंकि विकल्पार्थ का योग नहीं रहता है । इस प्रकार के मन के व्यापार को सत्यमोषमनोयोग कहते हैं ।

.०२.०४ असत्यामृषामनोयोग की परिभाषा

× × × 'असञ्चामोसमणपओगे' इति यन्न सत्यं नापि मृषा तदसत्या-मृषा, इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठासया सर्वज्ञमतानुसारेण विकल्प्यते यथा अस्ति जीवः सदसद्रूप इति तत्किञ्च सत्यं परिभाषितमाराधकत्वात्, यत्पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां यद्वस्तुप्रतिष्ठाशयापि सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते यथा नास्ति जीवः एकान्तनित्यो वेत्यादि तदसत्यं विराधकत्वात्, यत्पुनर्वस्तु-प्रतिष्ठाशामन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरं यथा—देवदत्तात् ३ घट आनेतव्यो गौर्यान्वनीया इत्यादिचिन्तनपरं तत् असत्यामृषा, इदं हि स्वरूपमात्रपर्यालोचन-परत्वात् न यथोक्तलक्षणं सत्यं नापि मृषा, एतदपि व्यवहारनयमतापेक्षया द्रष्टव्यं, अन्यथा विप्रतारणबुद्धिपूर्वकमसत्येऽन्तर्भवति अन्यत्तु सत्ये, तच्च तन्मनश्च तस्य प्रयोगोऽसत्याऽमृषामनः प्रयोगः । × × × ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः, असत्यश्चा-साधमृषश्च 'कं नञादिभिन्नैः (सि० ३।१।१०५) इति कर्मधारयः, असत्यामृष-श्चासौ मनोयोगश्च असत्यामृषमनोयोगः ४ । इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रति-ष्ठासया × × × सर्वज्ञमतोत्तीर्णं किञ्चिद् विकल्प्यते, यथा नास्ति जीवएकान्तनित्यो वेत्यादि, तद् असत्यमिति परिभाषितं विराधकत्वात् । यत् पुनर्वस्तु प्रतिष्ठाशामन्तरेण स्वरूपमात्रप्रतिपादनपरं व्यवहारपतितं किञ्चिद् विकल्प्यते,

यथा हे देवदत्त ! घटमानय गां देहि मह्यमित्यादि, तद् एतत् स्वरूपमात्रप्रति-
पादनं व्यावहारिकं विकल्पज्ञानम् । न यथोक्तलक्षणं सत्यं नापि मृषेत्यसत्या-
मृषमनोयोग इति व्याख्यातश्चतुर्धा मनोयोगः । —कर्म० भा ४ । गा २४ । टीका

ताभ्यां सत्यमोषाभ्यां व्यतिरिक्तोऽसायमोषमनोयोगः ।

—षट्० खं १, १ । सू ४६ । टीका । पु १ । पृ० २८१

जो न सत्य हो और न मिथ्या हो वह असत्यामृषा । विशेष जिज्ञासा रहने पर पदार्थ को प्रतिष्ठित करने की इच्छा से सर्वज्ञ मतानुसार विकल्प किया जाता है, यथा—जीव सदसत् रूप है, यह आराधक होने के कारण सत्य कहा गया । और, फिर जिज्ञासा होनेपर पदार्थ को प्रतिष्ठित करने के लिए सर्वज्ञ मत से बाहर विकल्प किया जाता है, यथा—जीव एकान्त नित्य नहीं है, यह विराधक होने के कारण मिथ्या है । फिर, पदार्थ को प्रतिष्ठित करने की इच्छा के बिना स्वरूप मात्र का पर्यालोचन करते हुए कोई किसी को आशा देता है—देवदत्त से घट ले आओ तथा गाय माँग लेना, इत्यादि चिन्तन असत्यामृषा है, क्योंकि इससे स्वरूप मात्र का पर्यालोचन होता है, अतः यह न तो उपर्युक्त रूप से सत्य है और न मृषा । इसको भी व्यवहार नय की अपेक्षा से देखना चाहिए, अन्यथा जो कुछ देवदत्त को ठगने की बुद्धि से कहा गया उसका असत्य में जन्तर्भाव हो जायगा और जो वास्तविक है उसका अन्तर्भाव सत्य में हो जायगा । ऐसे मन के प्रयोग-व्यापार को असत्या-मृषामनोयोग कहा जाता है ।

०२०५ वचनयोग की परिभाषा

चतुर्विधमनोभ्यः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तद्व्यपदेशं प्रति-
लभन्ते तथा प्रतीयते च । —षट्० खं १ । १ । सू ५२ । टीका । पु १ । पृ० २८६

भासावगणवखंधे भासारूपेण परिणामैतस्स जीवपदेसाणं परिण्फंदो
वच्चिजोगोणाम् । —षट्० खं ४ । २ । ४ । सू १७५ । टीका । पु १० । पृ० ४३७

तथा वचसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः ।

—षट्० खं १ । १ । सू ४७ । टीका । पु १ । पृ१ २७६

वचनं वाक्—औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहतबागद्भव्यसमूह-
साच्चिव्याज्जीवव्यापारो, वाग्योग इति भावः ।

—ठाणा० स्था १ । सू २० । टीका

उच्यत इति वचनं भाषापरिणामापन्नः पुद्गलद्रव्यसमूह इत्यर्थः, तेन
वचनेन सहकारिकारणभूतेन योगो वचनयोगः, वचनविषयो वा योगो
वचनयोगः । —कर्म० भा ४ । गा १० । टीका । पृ० १२८

भासावगणवखंधे भासारूपेण परिणामैतस्स जीवपदेसाणं परिण्फंदो
वच्चिजोगो णाम् । —षट्० खं ४, २, ४ । सू १७५ । टीका । पु १० । पृ० ४३७

बोलना वाक् है। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के व्यापार द्वारा गृहीत वाक्द्रव्य समूह के सहकार से होनेवाला जीवका व्यापार वाग्योग है।

जो कहा जाता है वह वाक् है, अर्थात् भाषा परिणाम को प्राप्त पुद्गल द्रव्यसमूह है। ऐसे सहकारी कारणभूत वचन के साथ होनेवाला योग—सम्बन्ध वचनयोग है, अथवा वचन को विषय करने वाला योग—वचनयोग है।

भाषावर्गणा के स्कन्धों को भाषा रूप से परिणमन करानेवाले व्यक्ति के जो जीव प्रदेशों का स्पन्दन होता है वह वचनयोग है।

०२०६ सत्य वचनयोग की परिभाषा

सतांहिता सत्या, सत्या चासौ वाक् च सत्यवाक्, तथा सहकारिकारण-भूतया योगो [सत्य] वाग्योगः, अथवा वचनगतं सत्यत्वं तत्कार्यत्वात् योगेऽप्युपचर्यते, ततश्च सत्यश्चासौ वाग्योगश्च सत्यवाग्योगः, भावार्थः सत्यमनोयोगवद् वाच्यः।

—कर्म० भा ४। गा २४। टीका। पृ० १५१

चतुर्विधमनोभ्यः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तद्व्यपदेशं प्रतिज-
भन्ते तथा प्रतीयते च। —षट्० खं १, १। सू १७५। टीका। पु १। पृ० २८६

सत्—मुनि या पदार्थ के सम्बन्ध में जो हित हो वह सत्य, सत्य रूप वचन सत्य-वचन, उसके सहकार से होनेवाला योग सत्यवचनयोग। अथवा, वचनगत सत्यता को कार्यरूप में परिणत करना उपचारवश योग कहा जाता है। सत्य रूप वचनयोग सत्यवचन-योग। इसका भावार्थ सत्यमनोयोग के समान समझना चाहिए।

चार प्रकार के मनो से उत्पन्न वचन उसी प्रकार के नाम से व्यवहृत होते हैं तथा प्रतीत होते हैं।

०२०७ असत्यवचनयोग की परिभाषा

असत्या—सत्याद् विपरीता साचासौ वाक् चाऽसत्यवाक् तथा योगो-
ऽसत्यवाग्योगः।

—कर्म० भा ४। गा २४ टीका। पृ० १५१

सत्य से विपरीत वचन के साथ योग—प्रवृत्ति को असत्यवचनयोग कहते हैं।

०२०८ सत्यमृषावचनयोग की परिभाषा

सत्या चासावसत्या चेत्यादि पूर्ववत् कर्मधारयो बहुव्रीहिर्वा, सा चासौ वाक् च सत्यासत्यवाक्, तत्प्रत्ययो योगः सत्यासत्यवाग्योगः।

—कर्म० भा ४। गा २४। टीका पृ० १५१

सत्य और असत्य दोनों से मिश्रित वचन के साथ योगप्रवृत्ति को सत्यमृषावचनयोग कहते हैं।

०२०९ असत्यामृषावचनयोग की परिभाषा

न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः, असत्य-

श्चासावमृषश्चासत्यामृषः, स चासौ वाग्योगश्च असत्यामृषवाग्योगः, शेषं मनोयोगवत् सर्वं वाच्यम् । —कर्म भा ४ । गा २४ । टीका । पृ० १५१

जिसमें न सत्य हो और न मिथ्या हो, ऐसे वचन के साथ योग—आत्मप्रवृत्ति को असत्यामृषावचनयोग कहते हैं ।

०२०१० सत्यवचनयोग की परिभाषा

एवं ब्रह्मपओगोवि चउहा' इति, यथा मनःप्रयोगश्चतुर्धा तथा वाक् प्रयोगोऽपि चतुर्धा, यद्यथा—सत्यवाक्प्रयोगो मृषावाक्प्रयोगः सत्यामृषावाक्-प्रयोगः असत्यामृषावाक्प्रयोगः एताश्च सत्यवागादयः सत्यमनः प्रभृतिवद्भावनीया इति: × × × । —पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

तत्र सतां हिता सत्या, सत्या चासौ वाक् च सत्यवाक्, तथा सहकारि-कारणभूतया योयो [सत्य] वाग्योगः, भावार्थः सत्यमनोयोगवद् वाच्य १ ।

कर्म० भा० ४ । गा २४ । टीका

०२०११ मृषावचनयोग की परिभाषा

× × × एताश्च सत्यवागादयः सत्यमनःप्रभृतिवद्भावनीया इति × × × ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

असत्या सत्याद् विपरीता चासौ वाक् चाऽसत्यवाक् तथा योगोऽसत्य-वाग्योगः २ ।

—कर्म० भा ४ । गा २४ । टीका

०२०१२ सत्यमृषावचनयोग की परिभाषा

× × × एताश्च सत्यवागादयः सत्यमनः प्रभृतिवद्भावनीया इति × × × ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

सत्या चासावसत्या चेत्यादि पूर्ववत् कर्मधारयो बहुव्रीहिर्वा, सा चासौ वाक् च सत्यासत्यवाक्, तत्प्रत्ययो योगः सत्यासत्यवाग्योग ३ ।

—कर्म० भा ४ । गा २४ टीका

०२०१३ असत्यामृषावचनयोग की परिभाषा

× × × एताश्च सत्यवागादयः सत्यमनः प्रभृतिवद्भावनीया इति । × × × ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः, असत्यश्चासावमृषश्चासत्यामृषः, सचासौ वाग्योगश्च असत्यामृषवाग्योगः, शेषं मनो-योगवत् सर्वं वाच्यम् ४ ।

—कर्म० भा ४ । गा २४ । टीका

.०२.०१४ काययोग के लक्षण—

स्वीयत इति कायः—शरीरं तस्य व्यायामो व्यापारः कायव्यायामः
औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणति विशेष इति भावः ।

—ठाण० स्था १ । सू २१ । टीका

तनोति—विस्तारयत्यात्मप्रदेशानस्यामिति तनुरौदारिकशरीरं तथा
सहकारिकारणभूतया योगस्तनुयोगः, तनुविषयो वा योगस्तनुयोगः ।

—कर्म० भा ४ । गा १० । टीका । पृ० १२८

वात-पित्त-सैंभादीहि जणिदपरिस्समेण जादजीवपरिष्फंदो कायजोगो
णाम ।

—षट्० खं ४, २, ४ । सू १७५ । टीका । पृ १० । पृ० ४३८

जो एकत्र किया जाता है वह काय अर्थात् शरीर, उसका व्यायाम अर्थात् व्यापार
काय व्यायाम है अर्थात् औदारिक आदि शरीर से युक्त जीव का वीर्य परिणाम विशेष काय-
योग कहलाता है ।

जिसमें आत्मप्रदेशों को विस्तृत किया जाता है वह औदारिक आदि शरीर, उसके
सहकारी कारण रूप से होनेवाला योग काययोग है । अथवा काय को विषय बनानेवाला
योग काययोग है ।

वात, पित्त, जंभाई आदि के द्वारा उत्पन्न भ्रम से जो जीवप्रदेशों का परिस्पन्दन
होता है वह काययोग है ।

.०२.०१५ औदारिकमिश्र काययोग की परिभाषा

× × × 'औदारिकमिश्रकायशरीरप्रयोग' इति औदारिकं च तन्मिश्रं च
औदारिकमिश्रं, केन सह मिश्रितमिति चेत् ? उच्यते, कर्मणेन, तथा चोक्तं
निर्युक्तिकारेण शस्त्र (आहार) परिक्षाड्ययने—'जोएणं कम्मएणं आहारेइ
अणंतरं जीवो । तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स निष्फत्ती ॥१॥ × × × । ननु
मिश्रत्वमुभयनिष्ठं, तथाहि—यथा औदारिकं कर्मणेन मिश्रं तथा कर्मणमपि
औदारिकेण मिश्रं ततः कस्मादौदारिकमेव तदुच्यते न कर्मणमिश्रमिति ?
उच्यते, इह व्यपदेशः स प्रवर्तनीयो येन विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्निष्पत्तिपक्षा श्रोतृ-
णामुपजायते, अन्यथा सन्देहापत्तितो विवक्षितार्थप्रतिपत्त्या न तेषामुपकारः
कृतः स्यात्, कर्मणं च शरीरमासंसारमविच्छेदेनावस्थितत्वात् सकलैष्वपि
शरीरेषु सम्भवति, ततः कर्मणमिश्रमित्युक्तेन ज्ञायते किं तिर्यग्मनुष्याणामपर्या-
प्तावस्थायां तद्विवक्षितमुत देवनारकाणामिति ? तत उत्पत्तिमाश्रित्यौदारिकस्य
प्रधानत्वात् कादाचित्कत्वाच्च निष्प्रतिपक्षविवक्षितार्थप्रतिपत्त्यर्थमौदारिकेण

व्यपदिश्यते—औदारिक मिश्रमिति, तथा यदौदारिकशरीरो वैक्रियलब्धि सम्पन्नो मनुष्यस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः पर्याप्तकवादरवायुकाधिको वा वैक्रियं करोति तदा किञ्चौदारिकशरीरप्रयोग एव वर्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानुपादाय वैक्रियशरीरपर्याप्त्या यावन्न पर्याप्तिमुपगच्छति तावत् यद्यपि वैक्रियेण मिश्रतौदारिकश्चोभयनिष्ठा तथाप्यौदारिकस्य प्रारम्भकतया प्रधानत्वात् तेन व्यपदेश औदारिकमिश्रमिति, न वैक्रियेणेति, तथा आहारकमपि शरीरं यदा कश्चिदाहारकलब्धिमान् पूर्वधरः करोति तदा यद्यप्याहारकेण मिश्रत्वमौदारिकस्योभयनिष्ठं तथाप्यौदारिकमारंभकतया प्रधानमिति तेन व्यपदेशप्रवृत्तिरौदारिकमिश्रमिति, न त्वाहारकेणेति, औदारिकमिश्रं च तत् शरीरं चेत्यादि पूर्ववत् २ ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

औदारिकं मिश्रं यत्र कामणेनेति गम्यते स औदारिकमिश्रं, उत्पत्तिदेशेहि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कामणेनेव केवलेनाऽऽहारयति, ततः परमौदारिकस्याऽऽप्यारब्धत्वात् औदारिकेण कामणमिश्रेण यावत् शरीरनिष्पत्तिः ।
× × × । केवलसमुद्घातावस्थायां तु द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कामणेन मिश्रमौदारिकम् प्रतीतमेव, “मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ।” (प्रश०का० २७६) इति वचनात्, औदारिकमिश्रश्चासौकायश्च तेनयोग औदारिकमिश्रकाययोगः ६ ।

—कर्म० भा ४ । गा २४ । टीका

.०२.०१६ औदारिकमिश्रकाययोग की परिभाषा

कामणौदारिकस्कन्धाभ्यां जनितवीर्यात्तत्परिस्पन्दनार्थः प्रयत्नः औदारिकमिश्रकाययोगः । उदारः पुरुः महानित्यर्थः, तत्र भवं शरीरमौदारिकम् । अथ स्यान्न महत्त्वमौदारिकस्य ? कथमेतद्वगम्यते ? वर्गणासूत्रात् । किं तद्वर्गणासूत्रमिति चेदुच्यते ‘संवत्थोया ओरालियसरीर-द्व-वग्गणा-पदेसा, वेउच्चिय-सरीर-द्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, आहार-सरीर-द्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-द्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, भासा-द्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, मण-द्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, कम्मइय-सरीर-द्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा स्ति ।’ न, अवगाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्वोपपत्तेः । यथा ‘संवत्थोवा कम्मइय-सरीर-द्व-वग्गणाए ओगाहणा, मण-द्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, भासा-द्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-द्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहार-

सरीर-द्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, वेउब्बिय-सरीर-द्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, ओरालिय-सरीर-द्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा सि ।
—षट्० खं १, १ । सु ५६ । टीका । पु १ । पृ० २६०

औदारिकमिश्र में मिश्रता किसके साथ है? इसके उत्तर में कहा गया है—कामर्ण के साथ । जैसा कि शस्त्रपरिशा अध्ययन में निर्युक्तिकार ने कहा है—जन्म के अनन्तर जीव कामर्ण योग के द्वारा आहार ग्रहण करता है, उसके बाद जब तक शरीर की निष्पत्ति होती है तब तक मिश्र योग के द्वारा आहार ग्रहण करता है ।

यहाँ पर मिश्रता तो उभयनिष्ठ है, यथा—औदारिक कामर्ण से मिश्रित है उसी प्रकार कारण भी औदारिक से मिश्रित है । इस स्थिति में क्या कारण है इसको औदारिक ही कहा जाता है, कामर्ण नहीं कहा जाता है । कहा जाता है—कथन ऐसा होना चाहिए जिससे श्रोताओं को विवक्षित अर्थ की प्रतिपत्ति निष्प्रतिपक्ष मालूम हो । अन्यथा सन्देहापन्न होने से विवक्षितार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होगी, फिर श्रोताओं का उपकार नहीं हो सका । कामर्ण शरीर तो संसारी जीवों के सभी शरीरों में जीवन पर्यन्त संभव है, फिर तो कामर्णमिश्र कहने से यह नहीं जाना जाता है कि तिर्यच और मनुष्यों के अपर्याप्त अवस्था में होने वाला योग है अथवा देवों और नारकियों में होने वाला योग है । फिर तो उत्पत्ति की अपेक्षा से औदारिक की प्रधानता रहती है तथा यह योग कदाचित् होनेवाला है । अतएव तटस्थ रूप से विवक्षितार्थ को समझाने के लिए औदारिक के साथ कहा जाता है—औदारिक मिश्र । जब औदारिक शरीर वैक्रिय लब्धिद्युक्त मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय अथवा पर्याप्त बादर बायुकायिक वैक्रिय करता है तब तो औदारिक काययोग में वर्तमान रहकर ही प्रदेशों को विक्षिप्त कर वैक्रिय शरीर योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर वैक्रिय शरीर की पर्याप्ति से जब तक पर्याप्त नहीं हो जाता है तब तक यद्यपि वैक्रिय के साथ मिश्रता औदारिक शरीर की उभयनिष्ठ रहती है अर्थात् वैक्रिय और कामर्ण दोनों के साथ मिश्रता रहती है तथापि औदारिक शरीर से प्रारम्भ होने के कारण प्रधानता रहती है, अतः कहा जाता है—औदारिकमिश्र किन्तु वैक्रियमिश्र नहीं कहा जाता है । जब कोई आहारक लब्धि सम्पन्न पूर्वधर आहारक शरीर धारण करता है तब यद्यपि आहारक के साथ मिश्रता औदारिक शरीर की उभयनिष्ठ रहती है तथापि औदारिक शरीर के आरम्भक होने के कारण प्रधानता रहती है इसलिए कहा जाता है औदारिकमिश्र । आहारक के साथ भी मिश्रता स्वीकार नहीं की गई ।

जहाँ कामर्ण के साथ औदारिक की मिश्रता होती है उसको औदारिक मिश्र कहा जाता है । उत्पत्ति स्थान में पूर्वभव से आने के तुरन्त बाद प्रथम समय में जीव केवल कामर्ण योग से ही आहार ग्रहण करता है, उसके बाद औदारिक का आरम्भ हो जाता है तथा जब तक शरीर की निष्पत्ति होती है तब तक कामर्ण मिश्रित औदारिक योग से आहार ग्रहण करता है । केवली की समुद्धातावस्था के द्वितीय, षष्ठ और सप्तम समय में कामर्ण से मिश्रित औदारिक योग का कथन आगम में स्पष्ट रूप से किया गया है । औदारिकमिश्र रूप काय के साथ योग-प्रवृत्ति को औदारिकमिश्र काययोग कहा जाता है ।

कर्मण और औदारिक के स्कन्धजनित वीर्य से उसके परिस्पन्दन के निमित्त किया गया प्रयत्न औदारिकमिश्र काययोग कहलाता है। उदार शब्द का अर्थ होता है पुरु अर्थात् महान्, उसमें होनेवाला शरीर औदारिक। वर्णसूत्र के आधार पर जाना जाता है कि औदारिक का महत्त्व यहाँ पर नहीं है। वह वर्णसूत्र है—औदारिक शरीर द्रव्य वर्णणा प्रदेश सबसे स्तोक है। उससे वैक्रिय शरीर द्रव्य वर्णणा प्रदेश असंख्यातगुणा है। उससे आहारक शरीर द्रव्य वर्णणा प्रदेश असंख्यातगुणा है। उससे तैजस शरीर द्रव्य वर्णणा प्रदेश अनन्तगुणा है। उससे भाषा द्रव्य वर्णणा प्रदेश अनन्तगुणा है। उससे मन द्रव्य वर्णणा प्रदेश अनन्तगुणा है। उससे कर्मण शरीर द्रव्य वर्णणा प्रदेश अनन्तगुणा है। किन्तु ऐसा कहा नहीं जा सकता है।

औदारिक शरीर का महत्त्व अवगाहना की अपेक्षा से माना जाता है। यथा—कर्मण शरीर द्रव्य वर्णणा की अवगाहना सबसे स्तोक है। उससे मन द्रव्य वर्णणा की अवगाहना असंख्यातगुनी है। उससे भाषा द्रव्य वर्णणा की अवगाहना असंख्यातगुनी है। उससे तैजस शरीर द्रव्य वर्णणा की अवगाहना असंख्यातगुनी है। उससे आहारक शरीर द्रव्य वर्णणा की अवगाहना असंख्यातगुनी है। उससे वैक्रिय शरीर द्रव्य वर्णणा की अवगाहना असंख्यातगुनी है। उससे औदारिक शरीर द्रव्य वर्णणा की अवगाहना असंख्यातगुनी है।

०२१७ वैक्रिय काययोग की परिभाषा

वैक्रियशरीरकायप्रयोगो वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य ३।

—पण० प १६। सू १०६८। टीका

विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम्। तथाहि—तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति, अनेकं भूत्वेकम्, अणु भूत्वा महद् भवति, महद् भूत्वाऽणु, तथा खच्चरं भूत्वा भूमिखरं भवति, भूमिखरं भूत्वा खच्चरम्, अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति, दृश्यं भूत्वाऽदृश्यमित्यादि। यद्वा विशिष्टं कुर्वन्ति तदिति वैकुर्विकम्, पृषोदरादित्वाद् अभीष्टरूपसिद्धिः। तच्च द्विधा—औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च। तत्रौपपातिकमुपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देवनारकाणाम् लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणाम्। × × ×। तदेव काययोगस्तन्मयो च योगो वैक्रियकाययोगो वैकुर्विककाययोगो वा १

—कर्म० भा ४। गा २४। टीका

अणिमादिर्विक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते। तत्र भवं शरीरं वैक्रियम्। तदवष्टम्भतः समुत्पन्नपरिस्पन्देन योगः वैक्रियकाययोगः।

—षट्० खं० १, १। सू ५६। टीका। पु १। पु० २६१

वैक्रियशरीर की पर्याप्त से पर्याप्त शरीर की चेष्टा को वैक्रियशरीर-कायप्रयोग कहते हैं।

विविध या विशिष्ट क्रिया को विक्रिया कहते हैं, उसमें होनेवाले को वैक्रिय कहा जाता है। यथा—एक होकर अनेक हो जाता है, अनेक होकर एक हो जाता है, अणु—सूक्ष्मतम होकर विशाल बन जाता है, विशाल होकर अणु बन जाता है, खचर—आकाशचारी होकर भूमिचर हो जाता है, भूमिचर होकर खचर हो जाता है, अदृश्य होकर दृश्य हो जाता है तथा दृश्य होकर अदृश्य हो जाता है इत्यादि। अथवा जिससे विशिष्ट कार्य करते हैं वह वैकुर्विक है, पृषोदरादि गण के आधार पर अभीष्ट रूप सिद्ध होता है। वह वैकुर्विक दो प्रकार का होता है—औपपातिक और लब्धिप्रत्यय। उपपात या जन्म के निमित्त से होनेवाला औपपातिक है जो देव और नारकियों में होता है। लब्धिप्रत्यय तिर्यंच और मनुष्यों में होता है। उसी रूप का काययोग या तन्मय होनेवाला योग वैक्रियकाययोग या वैकुर्विककाययोग कहा जाता है।

अणिमादि को विक्रिया कहा जाता है उसके योग से पुद्गलों को भी विक्रिया कहा जाता है, उनमें होनेवाले शरीर को वैक्रिय कहा जाता है। उसको आश्रव मानकर उत्पन्न होनेवाले परिस्पन्दन के साथ होनेवाले योग—प्रवृत्ति को वैक्रियकाययोग कहते हैं।

०२१८ औदारिक काययोग की परिभाषा

(क) 'ओरालियसरीरकायप्पओगे' इति × × × औदारिकमेव शरीरं तदेव पुद्गलस्कन्धसमुदायरूपत्वात् उपचीयमानत्वाच्च कायः औदारिककायः तस्य प्रयोगः औदारिकशरीरकायप्रयोगः अयं च तिरश्चो मनुष्यस्य च पर्याप्तस्य १।

—पण्ण० प १६। सू १०६८ टीका

(ख) इह प्रसिद्ध × × × श्री हरिभद्रसूरिदर्शिता ऽयुत्पत्तिर्लियतेतत्थ ताव उदारं उरालं उरलं ओरालं वा। तित्थगरगणधरसरीराइं पडुच्च उदारं वुच्चइ, न तओउदारतरमन्नमत्थि काउं, उदारं नाम प्रधानम्। उदारं नाम बिस्तरालं विशालमिति वा, जं भणियं होइ कहं? साइरेगजोयणसहस्समबद्धि-यप्पमाणमोरालियं अन्नमिद्धमिच्छं नत्थि, वेउव्वियं हुज्जइ लक्खमहियं अवट्ठियं पंचधणुसयाइं अहे सत्तमाए, इत्थं पुण अवट्ठियपमाणं अइरेगं जोयणसहस्सं वनस्पत्यादीनामिति। उरालं नाम स्वल्पप्रदेशोपचितत्वात् वृहत्त्वाच्च भिण्डवात्। ओरालं नाम मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वात्। (अनु० हा०टी०पत्र८७) × × ×। सर्वत्र स्वार्थिक इकप्रत्ययः, उदारमेव उरालमेव उरलमेव ओरालमेव औदारिकम् पृषोदरादित्वात् इष्टरूपनिष्पत्तिः [औदारिकमेव चीयमानत्वात् कायः, तेन सहकारिकारणभूतेन तद्विषयो वा योग औदारिककाययोगः ५।]

—कर्म० भा ४। गा २४। टीका पृ० १५२-५३

(ग) औदारिकशरीरजनितवीर्याजीवपरिस्पन्दननिघनधनप्रयत्नः औदारिककाययोगः।

—षट्० खं १, १। सू ५६ टीका। पु १। २६८

(क) उदार शब्द से स्वार्थ में इस प्रत्यय करके औदारिक शब्द बनता है तथा प्रदुर्गलस्कन्धों के समुदाय रूप तथा बढ़ते रहने के कारण काय कहा जाता है। औदारिक रूप काय के प्रयोग अर्थात् आत्मप्रवृत्ति को औदारिक कायप्रयोग या औदारिक काययोग कहते हैं।

(ख) उदार, उराल, उरल तथा ओराल—सभी पर्यायवाची शब्द हैं। तीर्थंकर और गणधर के शरीरों की अपेक्षा से इसे उदार कहा जाता है। इससे उदारतर दूसरा नहीं है। उदार का अर्थ होता है प्रधान, विस्तराल तथा विशाल। इस विशालता का कारण है—औदारिक शरीर की अवस्थिति प्रमाण है साधिक सहस्र योजन दूसरे की अवस्थिति ऐसी नहीं होती है। वैक्रिय शरीर की साधिक लक्ष योजन होती है। अधः सप्तम पृथ्वी की अवस्थिति पाँच सौ धनुष तथा वनस्पतियों की अवस्थिति साधिक सहस्र योजन होती है। उराल का अभिप्राय होता है स्वल्प प्रदेश में बढ़ने से तथा बृहत् होने से, यथा मिट्टी का टीला या भिंड। ओराल का अभिप्राय होता है मांस, अस्थि, स्नायु आदि अवयवों से बद्ध होना। औदारिक को ही उपचय-वृद्धि होने के कारण काय कहा जाता है, उसके सहयोग से या तद्विषयक योग-प्रवृत्ति को औदारिक काययोग कहा जाता है।

(ग) औदारिक शरीरजित्त वीर्य से जीव का परिस्पन्दन रूप योग-प्रवृत्ति को औदारिक काययोग कहते हैं।

०२०१९ वैक्रियमिश्रकाययोग की परिभाषा

वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगो देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां, मिश्रता च तदानीं कार्मणेन सह वेदितव्या, अत्राक्षेपपरिहारौ प्राग्वत्, तथा यदा मनुष्यस्ति-यंकृपञ्चन्द्रियो बायुकायिको वा वैक्रियशरीरी भूत्वा कृतकार्यो वैक्रियं परि-जिहीर्षुरौदारिके प्रवेष्टुं यतते तदा किल वैक्रियशरीरबलेनौदारिकोपादानाय प्रवर्तते इति वैक्रियस्य प्रधान्यात्तेन व्यपदेशो नौदारिकेणेति वैक्रियमिश्रमिति ४।

—पण्ण० प १६। सू १०६८। टीका

वैक्रियं मिश्रं यत्र कार्मणेन औदारिकेण वा स वैक्रियमिश्रः, तत्र कार्मणेन मिश्रं देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां प्रथमसमयादनन्तरम्, बादरपर्याप्तकयोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च वैक्रियलब्धिमतांवैक्रियारम्भकाले वैक्रिय परित्याग-काले वा औदारिकेण मिश्रम्, ततोवैक्रियमि श्चासौ कायश्च वैक्रियमिश्रकाय-स्तेन, योगो वैक्रियमिश्रकाययोगः २।

—कर्म० भा ४। गा २४। टीका

कार्मण-वैक्रियकस्कन्धतः समुत्पन्नधीर्येण योगः वैक्रियमिश्र काययोगः।

—षट्० खं १, १। सू ५६। टीका। पु १। पृ० २६१

वैक्रियमिश्रशरीर कायप्रयोग देव और नारकियों में अपर्याप्त अवस्था में होता है। उस समय मिश्रता कार्मण के साथ समझनी चाहिए। जब मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय अथवा

वायुकायिक जीव वैक्रिय शरीर धारण कर अपना कार्य समाप्त कर लेता है तथा वैक्रिय शरीर को छोड़ना चाहता है और औदारिक शरीर में प्रवेश करने की चेष्टा करता है उस समय वैक्रिय शरीर के बल से औदारिक शरीर को पाने के लिए प्रवृत्त होता है। इस प्रकार वैक्रिय की प्रधानता के कारण उसी नाम से व्यवहार होता है, औदारिक नाम से नहीं होता है। यह वैक्रियमिश्र शरीर काययोग है।

जहाँ पर कर्मण या औदारिक के साथ वैक्रिय मिश्रित रहता है उसको वैक्रियमिश्र कहा जाता है। कर्मण के साथ मिश्रता देव और नारकियों की अपर्याप्तवस्था में प्रथम समय के अनन्तर रहती है। दोनों बादर पर्याप्त और वैक्रिय लब्धि सम्पन्न पंचेन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्यों के वैक्रिय के आरम्भकाल में तथा वैक्रिय के परित्यागकाल में औदारिक के साथ मिश्रता है। वैक्रियमिश्र रूप काय के साथ योग-प्रवृत्ति को वैक्रियमिश्रकाययोग कहते हैं।

कर्मण और वैक्रिय के स्कन्धों से उत्पन्न बीर्य के साथ योग—प्रवृत्ति को वैक्रिय-मिश्र काययोग कहते हैं।

०२०२० आहारक काययोग की परिभाषा

आहारकशरीरकायप्रयोगः आहारकशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य ५।

पण्ण० प १६। सू १०६८। टीका

चतुर्दशपूर्वविदा तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते निर्वर्त्यन्ते इत्याहारकम्, अथवाऽऽह्रियन्ते गृह्यन्ते तीर्थकरादिसमीपे सूक्ष्मा जीवादवः पदार्था अनेनेत्याहारकम् × × × । तदेव कायस्तेन योग आहारक-काययोगः ३।

—कर्म० भा ४। गा २४। टीका

आहारकशरीरकायप्रयोग आहारकशरीर की पर्याप्ति से पर्याप्त जीव के होता है।

चतुर्दश पूर्वधर के द्वारा उस प्रकार के कार्य सामने आ जाने पर विशिष्ट लब्धि के बल से जिस (लघुशरीर) का आहरण अर्थात् निष्पादन किया जाता है वह आहारक है। अथवा तीर्थकर आदि के समीप में जिसके द्वारा सूक्ष्म जीवादि पदार्थ आहरण अर्थात् ग्रहण किये जाते हैं वह आहारक है, इस रूप काय के साथ योग—प्रवृत्ति को आहारककाययोग कहते हैं।

०२०२१ आहारकमिश्र काययोग की परिभाषा

आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगः आहारकादौदारिकं प्रविशतः, एतदुक्तं भवति—यदा आहारकशरीरीभूत्वा कृतकार्यः पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति तदा यद्यपि मिश्रत्वमुभयनिष्ठं तथाप्यौदारिके प्रवेश आहारकबलेनेत्याहारकस्य प्रधानत्वात् तेन व्यपदेशो नौदारिकेणाहारकमिश्रमिति ६। एतच्च सिद्धान्ताभि-प्रायेणोक्तं, कर्मग्रंथिकाः पुनर्वैक्रियस्य प्रारम्भकाले परित्यागकाले च वैक्रिय-

मित्रमाहारकशरीरस्य प्रारम्भकाले परित्यागकाले च आहारकमिश्रं, न त्वेकस्या-
मप्यवस्थायामौदारिकमिश्रमिति प्रतिपन्नाः । — पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

आहारकं मिश्रं यत्र औदारिकेणेति गम्यते स आहारकमिश्रः, सिद्धप्रयो-
जनस्य चतुर्दशपूर्वविद् आहारकं परित्यजत औदारिकमुपाददानस्य आहारकं
प्रारम्भमाणस्य वा प्राप्यते, स एव कायस्तेन योग आहारकमिश्रकाययोगः ४।

—कर्म० भा ४ । गा २४ । टीका

आहारकमिश्रस्तु साधिताहारककायप्रयोजनः पुनरौदारिकप्रवेशे औदा-
रिकेणेति ।

—ठाणा० स्था ३ । उ १ । सू १३ । टीका । पृ० ५४१

आहार-कामर्णस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः आहारमिश्रकाययोगः ।

—षट्० खं १, १ । सू ५६ । टीका । पु १ । पृ० २६३

आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोग आहारक शरीर से औदारिक शरीर में प्रवेश करते समय होता है । ऐसा कहा जाता है—जब आहारक शरीर धारण करनेवाला जीव कृतकार्य होकर अर्थात् अपना उद्देश्य पूर्ण कर पुनः औदारिक शरीर को ग्रहण करता है तब यद्यपि मिश्रता उभयनिष्ठ होती है तथापि औदारिक शरीर में प्रवेश आहारक शरीर के बल से होता है, अतः आहारक की प्रधानता रहती है और उसी नाम से प्रसिद्धि पाता है, औदारिक नाम से कथन नहीं होता है । यह सिद्धान्त के अभिप्राय से कहा गया है, कर्मग्रन्थकारों के अनु-
सार वैक्रियशरीर के प्रारम्भकाल और परित्यागकाल में वैक्रियमिश्र रहता है तथा आहारक शरीर के प्रारम्भकाल और परित्यागकाल में आहारकमिश्र रहता है, किन्तु किसी भी अवस्था में औदारिकमिश्र नहीं रहता है ।

जहाँ पर आहारक शरीर औरारिक से मिश्रित रहता है वह आहारकमिश्र है । यह चतुर्दश पूर्वधारी के जिस निमित्त से आहारक शरीर धारण करता है वह प्रयोजन सिद्ध कर आहारक शरीर का परित्याग करते समय और औदारिक को ग्रहण करते समय तथा आहारक शरीर का प्रारम्भ करते समय प्राप्त होता है, तद् रूप काय के द्वारा होनेवाले योग—प्रवृत्ति को आहारकमिश्र काययोग कहते हैं ।

आहारक शरीर के द्वारा होनेवाला कार्य सिद्ध हो जाने पर फिर औदारिक शरीर में प्रवेश करते समय आहारकमिश्र काययोग होता है ।

आहारक और कामर्ण शरीर के स्कन्धों से उत्पन्न वीर्य—पराक्रम के द्वारा होनेवाले योग—सम्बन्ध को आहारक मिश्रकाययोग कहते हैं ।

‘०२’०२२ कामर्ण काययोग की परिभाषा

तैजसकामर्णशरीरप्रयोगो विग्रहगतौ समुद्घातावस्थायां वा सयोगि-
केवजिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु, इह तैजसं कामर्णेन सहाव्यभिचारीति
युगपत्तैजसकामर्णग्रहणम् ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ । टीका

कर्मणो विकारः कर्मणम्, “विकारे” (सि० ६।१।३०) अण् प्रत्ययः, यद्वा कर्मैव कर्मणम्, “प्रज्ञादिभ्योऽण्” (सि० ७।२।१६५) [इत्यण्] प्रत्ययः, कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवद् अन्योभ्यानुगताः सन्तः कर्मणं शरीरम् । उक्तं च—

कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिष्फलं ।

सव्वेसिं सरीराणं, कारणभूयं मुणेयव्वं ॥

(अनु० हा० टी० पत्र ८७)

अत्र ‘सव्वेसिं’ इति सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणां कारणभूतं—बीज-भूतं कर्मणशरीरम्, न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोह-बीजभूते कर्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भवः ।

इदं च कर्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसंक्रान्तौ साधकतमं करणम् । तथाहि कर्मणेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमुपसर्पति ।

ननु यदि कर्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं संक्रामति तर्हि गच्छन् कस्मात् नोपलक्ष्यते ? [उच्यते] कर्मपुद्गलानामति सूक्ष्मतया चक्षुरादीन्ध्रियागोचर-त्वात् । आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि—

अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते ।

निष्क्रामन् प्रविशत् वाऽपि नाभावोऽनीक्षणादपि ॥

कर्मणमेव कायस्तेन योगः कर्मणकाययोगः ७।

—कर्म० भा ४ । गा २४ । टीका

कर्मणस्तु विग्रहे केवलिसमुद्घाते वेति ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १३ । टीका । पृ०

कर्मैव कर्मणम् शरीरम्, अष्टकर्मस्कन्ध इति यावत् । अथवा कर्मणि भवं कर्मणं शरीरं नामकर्मावयवस्य कर्मणो ग्रहणम् । तेन योगः कर्मण काय-योगः । केवलेन कर्मणा जनितवीर्येण सहयोग इति यावत् ।

—षट्० खं १, १ । सू ५६ । टीका । पु १ । पृ० २६५

तैजस-कर्मणशरीरकायप्रयोग जीव की विग्रहगति में या सयोगिकेवली की समुद्घातावस्था के तृतीय, चतुर्थ और पंचम समय में होता है । यहाँ पर तैजस शब्द कर्मण के साथ अव्यभिचारी रूप से प्रयुक्त होता है, अतः एक साथ तैजस और कर्मण का ग्रहण हुआ है ।

कर्म का विकार कर्मण या कर्म ही कर्मण । कर्मपरमाणु ही आत्मप्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की तरह परस्पर सम्मिलित हो जानेपर कर्मण शरीर बनता है । कहा गया है—

कर्मों का विकार कार्मण है, जो आठ प्रकार के विचित्र कर्मों के द्वारा निष्पन्न होता है तथा यह सभी औदारिकादि शरीरों का बीजभूत कार्मण शरीर है, क्योंकि भवप्रपञ्च रूप वृक्ष के बीजभूत कार्मण शरीर के आमूल नष्ट हो जानेपर शेष शरीरों का प्रादुर्भाव होना संभव नहीं है ।

यह कार्मणशरीर जीव के गत्यन्तर संक्रमण करने में प्रमुख कारण है । कार्मण शरीर से ही परिकरित-सुरक्षित होकर जीव मरणदेश को छोड़कर उत्पत्तिदेश में उपसर्पण करता है ।

यद्यपि कार्मणशरीर से घिरकर जीव गत्यन्तर में संक्रमण करता है तथापि जाता हुआ देखा नहीं जाता है, क्योंकि कर्मपुद्गलों के अति सूक्ष्म होने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियों के अगोचर रहता है । प्रज्ञाकरगुप्त ने कहा है—

भवशरीर पास से निष्क्रमण या प्रवेश करते हुए सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देता है, किन्तु दिखाई नहीं देने के कारण उसका अभाव नहीं है । कार्मण रूप काय से वोग-प्रवृत्ति को कार्मण काययोग कहते हैं ।

कार्मण काययोग जीव की विग्रहगति में तथा केवली के ससुद्धातावस्था में होता है ।

कर्म ही कार्मण शरीर है अर्थात् आठ प्रकार के कर्मस्कन्ध है । अथवा कर्म में होने वाला कार्मण शरीर है, इससे नामकर्म के अवयव रूप कर्म का ग्रहण होता है । इस प्रकार के काय के द्वारा होनेवाला योग-प्रवृत्ति को कार्मणकाययोग कहते हैं । अर्थात् यह केवल कर्मजनित वीर्य के द्वारा होनेवाला योग है ।

०२०२३ सत्यमनोयोग का लक्षण

सत्यार्थालोचननिबन्धनं मनः सत्यमनस्तस्य प्रयोगो—व्यापारः सत्यमनः प्रयोगः ।

—सम० सम १५ । सू १५ । टीका । पृ० ८४६

सम्भावमणो सच्चो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।

× × × ×

—गोजी० गा २१७

सत्यार्थ के आलोचन में व्यापृत मन के प्रयोग-व्यापार को सत्यमनःप्रयोग या सत्यमनोयोग कहते हैं ।

सत्ये मनः सत्यमनः तेन योगः सत्यमनोयोगः ।

—षट्० खं १, १ । सू ४६ । टीका । पु १ । पृ० २८०

सत्यनिष्ठ मन के योग—व्यापार को सत्यमनोयोग कहते हैं ।

०२०२४ असत्यमनोयोग के लक्षण

सत्यविपरीतमसत्यं × × × ।

—पण० प १६ । सू १०६८ । टीका

तद्विचरीओ मोसो × × × ।

—गोजी० गा २१७

तद्विचरीतो मोषमनोयोगः ।

—षट्० खं १, १ । सू ४६ । टीका । पु १ । पृ० २८०

उपर्युक्त सत्य के विपरीत मनः के व्यापार को असत्यमनोयोग या मृषामनोयोग कहते हैं ।

•०२२५ सत्यमृषामनोयोग का लक्षण

× × × × ।

जाणुभयं सच्चमोसोत्ति ॥ —गोजी० गा २१७

जिसमें उपर्युक्त सत्य और असत्य दोनों का मिश्रण हो उसको सत्यमृषामनोयोग कहते हैं ।

•०२०२६ असत्यमृषामनोयोग का लक्षण

ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो ।

जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो ॥ —गोजी० गा २१८

जो न सत्य हो और न मिथ्या हो, ऐसे असत्यमृषा मन के द्वारा होनेवाले योग को असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ।

•०२०२७ सत्यवचनयोग का लक्षण

दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवच्चियोगो ।

× × × × ॥ — गोजी० गा २१६

दस प्रकार के सत्य अर्थ के वाचक वचन को सत्यवचन कहते हैं तथा उससे होनेवाले योग को सत्यवचन योग कहते हैं ।

•०२०२८ मृषावचनयोग का लक्षण

× × × × ।

तद्विचरीओ मोसो ॥ —गोजी० गा २१६

सत्यवचनयोग के विपरीत जो वचन को विषय करनेवाला योग होता है उसको मृषावचनयोग या असत्यवचनयोग कहते हैं ।

•०२०२९ सत्यमृषावचनयोग के लक्षण

× × × × × ।

× × × जाणुभयं सच्चमोसो स्ति ॥ —गोजी० गा २१६

जो कुछ सत्य और कुछ मिथ्या का वाचक हो उसको सत्यमृषा वचनयोग कहते हैं ।

•०२०३० असत्यामृषावचनयोग का लक्षण

जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवच्चियोगो ।

अमणानं जा भासा सण्णीणामंतणी आदी ॥ —गोजी० गा २२०

जो न सत्य रूप हो और न मृषा रूप हो उसको अनुभयवचनयोग या असत्यामृषा-वचनयोग कहते हैं। असंज्ञियों की समस्त भाषाएँ तथा संज्ञियों की आमन्त्रणी आदि भाषाएँ अनुभय भाषा कही जाती है।

•०२•०३१ औदारिककाययोग का लक्षण

पुरुमहदुदारालं एयद्वो संविजाण तम्हि भवं ।

ओरालियं तमुच्चइ ओरालियकाययोगो सो ॥ —गोजी० गा २२६

उदार (शरीर) में होनेवाला जो काययोग होता है उसको औदारिक काययोग कहते हैं ।

•०२•०३२ औदारिकमिश्र काययोग का लक्षण

ओरालिय उत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।

जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सजोगो सो ॥ —गोजी० गा २३०

औदारिक शरीर की अपरिपूर्णवस्था को औदारिक मिश्र कहा जाता है, उसके द्वारा होनेवाले योग को औदारिकमिश्र काययोग कहते हैं ।

•०२•०३३ वैक्रिय काययोग का लक्षण

विचिहगुणइड्ढिजुत्तं विकिरियं वा हु होदि वेगुव्वं ।

तिस्से भवं च णेयं वेगुव्वियकायजोगो सो ॥ —गोजी० गा २३१

अनेक प्रकार के गुण और ऋद्धिओं से युक्त शरीर को वैक्रिया या विकूर्व कहते हैं तथा इस शरीर के द्वारा होनेवाले योग को वैक्रियकाययोग कहते हैं ।

•०२•०३४ वैक्रियमिश्र काययोग का लक्षण

वेगुव्वियउत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।

जो तेण संपजोगो वेगुव्वियमिस्सजोगो सो ॥ —गोजी० गा २३३

वैक्रिय शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है तब तक उसको वैक्रियमिश्र कहते हैं । ऐसे शरीर के द्वारा होनेवाले योग को वैक्रियमिश्र काययोग कहते हैं ।

•०२•३५ आहारक काययोग का लक्षण

आहारस्सुदयेण या पमत्तविरदस्स होदि आहारं ।

असंजमपरिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं च ॥

× × × ×

आहरदि अणेण मुणी सुहमे अत्थे सयस्स संदेहे ।

गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारगो जोगो ॥

—गोजी गा २३४, २३८

आहारकशरीर नामकर्म के उदय से असंयम के परिहार तथा सन्देह की निवृत्ति के लिए प्रमत्तविरत (छूटे गुणस्थानवर्ती) सुनि के आहारक शरीर होता है ।

स्वयं में सन्देह होनेपर जिस शरीर के द्वारा केवली के पास जाकर सूक्ष्म अर्थों का आहरण (ग्रहण) करता है, उस शरीर के द्वारा होनेवाले योग को आहारक काययोग कहते हैं ।

आहारयमुत्तथं विजाण मिस्संतु अपरिपुण्णं तं ।

जो तेण संपजोगो आहारयमिस्सजोगो सो ॥ —गोजी० गा २३६

आहारक शरीर जब तक अपरिपूर्ण अर्थात् अपर्याप्त रहता है तब तक उसको आहारकमिश्र कहा जाता है उसके द्वारा होनेवाले योग को आहारकमिश्र काययोग कहते हैं ।

***२०३६ कर्मण काययोग का लक्षण**

कम्मेव य कम्मभवं कम्मइथं जो तु तेण संजोगो ।

कम्मइयकायजोगो इगिधिगतिगसमयकालेसु ॥ —गोजी० गा २४०

कर्मों को ही या कर्मणशरीर नामकर्म के उदय से होनेवाले काय को कर्मणकाय कहते हैं । इस काय के द्वारा होनेवाले योग को कर्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक, दो या तीन समय तक होता है ।

.०५ परिभाषा के उपयोगी पाठ

.१ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श

.०५१ द्रव्ययोग की परिभाषा के उपयोगी पाठ

.०१ कण्ठलेसाणं भंते ! कतिवण्णा, कति गन्धा, कइरसा, कइफासा पन्नत्ता ? गोयमा ! दब्बलेसं पडुच्च पंचपण्णा, जाव अट्ठभासा पन्नता × × × । मणजोगे, बइजोगे, चउफासे, कायजोगे अट्ठफासे । —भग० श १२ । उ ५ । सू ११७

द्रव्य योग—द्रव्य मन, द्रव्य वचन और द्रव्य काययोग पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस वाले हैं । परन्तु द्रव्य मनोयोग और द्रव्य वचन योग चतुःस्पर्शी है तथा द्रव्य काययोग अष्टस्पर्शी है ।

.०२ पुद्गल भी वर्ण-गंध-रस-स्पर्शी है अतः द्रव्ययोग पुद्गल है ।

पोगत्थिकाए णंभंते ! कतिपण्णे ? कतिगंधे, कतिरसे, कतिफासे ? गोयमा ! पंचषण्णे, पंचरसे, दुगंधे, अट्ठफासे । भग० श २ । उ १० । सू १२६

पुद्गल भी वर्ण-गंध-रस, स्पर्शी है अतः द्रव्ययोग पुद्गल है ।

.०३ द्रव्य योग पुद्गल है अतः पुद्गल के गुण भी द्रव्ययोग में है (पोगत्थिकाए) रूपी, अजीवे, सासए, अवट्ठिए, लोगदब्बे ।

से समासओ पंचविहे पणत्ते, तंजहा—द्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ, गुणओ ।

द्वओ णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं द्वाइं ।

खेत्तओ लोयप्पमाणमेत्ते ।

कालओ न कयाइ न आसि, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ—
भविस्सुय, भवत्थिय, भविस्सइय—धुवे, णियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अव-
ट्ठिए, णिच्चे ।

भावओ वण्णमंते, गंधमंते, रसमंते, फासमंते । गुणओ गहणगुणे ।

—भग० श २ । उ १० । सू १२६

.४ योग और गुरुलघु

कण्हलेस्सा णं भंते ! किं गरुया ? लहुया ? गरुयलहुया ? अगरुय-
लहुया ? × × × । मणजोगो चइजोगो चउत्थएणं पदेणं, कायजोगोततिएणं
पदेणं ।

—भग० श १ । उ ६ । प्र ४०८, ४१३ । पृ० ६८

मनोयोग और वचनयोग अगुरुलघु होते हैं तथा काययोग गुरुलघु होता है ।

नोट—यह विवेचन द्रव्ययोग की अपेक्षा है । मनोयोग-यावत् काययोग-भावयोग
की अपेक्षा अगुरुलघु है ।

.०५ द्रव्ययोग गुरुलघु-अगुरुलघु है

पोग्गलत्थि काएणं भंते ! किं गरुए ? लहुए ? गरुयलहुए ? अगरुयल-
हुए ? गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए ? गरुयलहुए वि ? अगुरुयलहुएवि ।
× × × । मणजोगो, चइजोगो चउत्थपदेणं, कायजोगो ततिएणं पदेणं ॥

—भग० श १ । उ ६ । सू ४०४, ४१३

द्रव्यमनोयोग तथा द्रव्य वचन योग अगुरुलघु है तथा द्रव्य काययोग गुरुलघु है ।

.०६ द्रव्ययोग अजीवोदयनिष्पन्न भाव है क्योंकि जीवद्वारा ग्रहण होने के
बाद द्रव्य योग का प्रायोगिक परिणमन होता है ।

सेकितं अजीवोदयनिष्पन्ने ? अजीवोदयनिष्पन्ने अणेगघिहे पणत्ते,
तंजहा—उरालिय वा सरीरं, उरालियसरीरपओगपरिणामियं वा द्द्वं, वेड्ढियं
वा सरीरं, वेड्ढियसरीरपओगपरिणामियं वा द्द्वं, पवं आहारगं सरीरं, तेयगं
सरीरं, कम्मगसरीरं च भाणियव्वं । पओगपरिणामिए वण्णे, गंधे, रसे, फासे,
सेत्तं अजीवोदयनिष्पन्ने ।

—अणुओ० सू १२६

१०७ द्रव्य लेश्या जीव ग्राह्य है

द्रव्यलेश्या की तरह द्रव्ययोग भी जीव ग्राह्य है देखें—लेश्याकोश पृ० ७

१०८ द्रव्ययोग-चतुस्पर्शी भी है, अष्टस्पर्शी भी है ।

मणजोगे, बड़जोगेय चउफासे, कायजोगे अठफासे

—भग० श १२ । उ ५ । सू ११७

द्रव्ये मन वचन जोग ओफरसी छै, द्रव्येकाय जोग अठफास ।

भगवती बार में शतक पंचमुदेशी धीर वयण सुविजासरे ॥

—झीणीचर्चा ढाल १५ । गा २

द्रव्य मनोयोग तथा द्रव्य वचनयोग चतुःस्पर्शी है तथा काययोग अष्टस्पर्शी है ।

१०९ द्रव्ययोग अनन्तप्रदेशी है

क्योंकि जीव द्वारा ग्राह्य है, संख्यात, असंख्यात प्रदेशी स्कन्धों को जीव ग्रहण नहीं करता है ।

१०१० द्रव्ययोग असंख्यात् प्रदेशी क्षेत्र-अवगाह करता है ।

लेश्या की तरह द्रव्ययोग भी असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र अवगाह करता है देखें—लेश्या-कोश पृ० ६

१०११ द्रव्ययोग की अनन्त वर्गणा होती है ।

द्रव्य लेश्या की तरह द्रव्ययोग की अनन्त वर्गणा होती है—लेश्याकोश पृ० ६

१०१२ द्रव्ययोग के असंख्यात स्थान है ।

द्रव्यलेश्या की तरह द्रव्ययोग के असंख्यात स्थान है—देखें लेश्याकोश पृ० ८

१५२ भावयोग के परिभाषा के उपयोगी पाठ

१ भावयोग जीवपरिणाम है ।

जीवे परिणामे णं भंते ! कइबिहे ? गोयमा ! दसबिहे पन्नत्ते, तंजहा—
गइपरिणामे, इन्द्रियपरिणामे, कसाय परिणामे, लेस्सापरिणामे, जोगपरिणामे,
वरित्तपरिणामे, वेयपरिणामे ।

—पण्ण० प० १३ । सू०

—ठाण० स्था १० । सू १०

२ भावयोग अवर्णी-अगंधी-अरसी-अस्पर्शी है ।

भावलेश्या की तरह भावयोग अवर्णी, अगंधी, अरसी-अस्पर्शी है ।—(देखें लेश्या-कोश पृ० ८)

३ भावयोग अवर्णी, अगंधी, अरसी, अस्पर्शी तथा जीव परिणाम है अतः जीव है ।

जीवस्थिकाए णं भंते ! कइवण्णे, कइगंधे, कइरसे, कइफासे ? गोयमा !
अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे, अरूची, जीवे, सासए, अबट्टिए, लोगदव्वे ।

— भग० श २ । उ० १० । सू १२८

भावजोगांनै कह्या अरूपी, दश जीव परिणामी मांछोरे ।

— मीणीचर्चा दाल १५ । गा १

गति इन्द्रिय कषायने लेस जोग छै दे, भाव पांचूँइ जीव परिणामरे ।

उपयोग ज्ञानं दर्शण चारित्र कह्या रे, भावते वेद परिणामी नांमरे ॥ २७ ॥

— मीणीचर्चा दाल १६ । गा २८

‘४ भावयोग अगुरुलघु है ।

भावलेश्या की तरह भावयोग भी अगुसलघु है—(देखें पृष्ठ ८ लेश्याकोश)

‘५ भावयोग उदयनिष्पन्न भाव है ।

लेश्या की तरह भावयोग उदयनिष्पन्नभाव है ।—(देखें लेश्याकोश पृ० ६)

भावयोग सुगति और दुर्गति के हेतु है । अतः कर्म बंधन में भी किसी प्रकार का हेतु है ।

लेश्या की तरह अशुभ योग दुर्गति के हेतु है तथा शुभयोग सुगति के हेतु है ।

‘०६ विभिन्न आचार्यों द्वारा की गयी परिभाषा

‘१ उमास्वाति—उमास्वामी—

(क) कायवाङ्मनः कर्म योगः ।

तत्त्व० अ ६ । सू १

भाष्य—कायिकं कर्म वाचिकं कर्म मानसं कर्म इत्येष त्रिविधो योगो भवति ।

‘०६ विभिन्न आचार्यों द्वारा की गई परिभाषा

‘०१ उमास्वाति (स्वामी) वाचक

कायवाङ्मनः कर्म योगः

—तत्त्व अ ६ । सू १

भाष्य—कायिकं कर्म वाचिकं कर्म मानसं कर्म इत्येष त्रिविधो योगो भवति । स एकशो द्विविधः शुभश्चाशुभश्च । तत्राशुभो हिंसास्तेयाब्रह्मादीनि कायिकः, सावद्यानृतपुरुषपिशुनादीनिवाचिकः, अभिध्याव्यापादेर्ष्यासूयादीनि मानसः । अतो विपरीतो शुभ इति ।

स आस्रवः । भाष्य—स एष त्रिविधोऽपि योग आस्रवसंज्ञो भवति । शुभाशुभयोः कर्मणोरास्रवणादास्रवः, सरसः सज्जिलावाहिनिर्वाहिस्रोतोवत् ।

शुभः पुण्यस्य । भाष्य—शुभो योगः पुण्यस्यास्रवो भवति ।

अशुभ पापस्य । तत्र सद्देयादि पुण्यं वक्ष्यते । श्रेष्ठं पापमिति ।

—तत्त्व० अ ६ । सू १, २, ३

काय, वचन और मन के द्वारा होनेवाले कर्म को तीन योग की संज्ञा दी जाती है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—शुभ और अशुभ। हिंसा में प्रवृत्ति, चोरी करना तथा अब्रह्म—मैथुन का सेवन करना—कायिक अशुभ योग है। पापयुक्त वचन बोलना, मिथ्या-भाषण, कठोर मर्मवेधी वचन बोलना तथा चुगलखोरी आदि करना—वाचिक अशुभ योग है। दुर्ध्यान अथवा बुरा चिन्तन करना, किसी के मरने-मारने का चिन्तन, दूसरे की भलाई से जलन, किसी के गुण में दोष प्रकट करना इत्यादि—मानस अशुभ योग है। इसके विपरीत जो काय, वचन और मन के द्वारा क्रिया होती है वह शुभ योग है।

ये तीनों प्रकार योग आस्रव अर्थात् कर्मवृद्धि में सहायक माने जाते हैं। शुभ योगपुण्य का आस्रव करता है और अशुभ योग पाप का आस्रव करता है।

०२ सिद्धसेन

× × × योजनं योगः—पुद्गलसम्बन्धादात्मनो वीर्यविशेषः, युज्यते वा स इति योगः, केन ? आत्मना, शक्तिविशेषः प्राप्यत इति यावत् कायाबाङ्मनो-रूपेणोत्पादः

—सिद्ध० अ ५ । सू ४४ । पृ० ४४०

× × ×। किंस्वरूपो योगः ? कतिप्रकारो वेत्याह—कायबाङ्मनः कर्म योग इति। कृतद्वन्द्वानां कायादीनामात्मनः करणानामभेदवृत्तीनां कर्मपदेन सह षष्ठीसमासः। कर्म व्यापारः क्रिया चेष्टेत्यनर्थान्तरम्। एतत् कर्म कायादि-सम्बन्धि यथा सम्भवं योग उच्यते, वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितेन पर्यायेणात्मनः सम्बन्धो योगः। स च वीर्यप्राणोत्साहपराक्रमचेष्टाशक्तिसामर्थ्यादिशब्दवाच्यः अथवा युनक्तयेन जीवो वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितं पर्यायमिति योगः। स च कायादिभेदात् त्रिविधः। साधकगमनादिभाषणचिन्तास्वात्मनः। × × ×।

—सिद्ध० अ ६ । सू १ । पृ० २

युक्त होना योग है, यह पुद्गल से सम्बन्धित रहने के कारण आत्मा का वीर्यविशेष योग है। अथवा, जो युक्त किया जाता है वह योग है। वह आत्मा के साथ युक्त होकर, काय, वचन और मन रूप से उत्पन्न होकर शक्ति विशेष को प्राप्त होता है।

इस योग का क्या स्वरूप है या यह कितने प्रकार का है ? काय, वचन और मन का कर्म योग है। काय, वचन और मन—इन तीनों का मूल सूत्र में द्वन्द्व समास हुआ है, ये तीनों आत्मा के करण अर्थात् सहायक हैं, अतः इनकी वृत्तियों में अभेद है और इन तीनों का कर्म पद के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास हुआ है। कर्म, व्यापार, चेष्टा, क्रिया—ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं। इस कायादि से सम्बन्धित कर्म को योग कहा जाता है। इस योग को वीर्य, प्राण, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य आदि भी कहा जाता है।

अथवा, इस कर्म को जीव जो वीर्यान्तराय के क्षय, उपशम और क्षयोपशम जनित

पर्याय रूप में युक्त करता है वह योग है। यह कायादि भेद से तीन प्रकार का है, जैसे आत्मा का साधक रूप में गमनादि (काय रूप में), भाषण (वचन रूप में) तथा चिन्ता (मन रूप में) परिणमन होता है।

•०२ सिद्धसेनगणि—

कायिकं कर्मेत्यादि भाष्यम् । एकैकस्य कायादेः कर्म भवति, वाचश्रयं समुदितानामेवेत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमभिसम्बन्धनं भाष्यकारः प्रत्येकमपि कर्मशब्दं कायिकं कर्म वाचिकं कर्म मानसं कर्मेत्याह । भवतु नाम कायकर्म केवलं भूदकतेजोमासुतवनस्पत्यादिषु, वाक्कर्म मनःकर्म वा कस्मिन्नेकस्मिन् दृष्टमिति, न ब्रूमो यथा कायकर्मंतरद्वन्द्वनिरपेक्षं तथा वाक्कर्मापीतरद्वन्द्वानपेक्षं मनःकर्म वा, किं तर्हि ? कायव्यापाराभावेऽपि कायवतो वाग्यापारो दृष्टोऽप्रणि- हतचेतसः, तथा कायवाग्व्यापाराभावेऽपि कदाचिन्मनोव्यापार एवकेवलो दृष्टः कश्चित्, अतः समुदिताः कायादय-आत्माधिष्ठिता एककाश्च क्रियाहेतवः । तत्र कायप्रयोजनं कायिकं, कायेन वा निवृत्तं, तत्र वा भवं, एवं वाचिकमानसे अपि वाच्ये। इतिशब्दः कर्मेयत्ताप्रतिपादनार्थः। एतावत् कर्मात्मनः कर्तुः शरीरै- कत्वपरिणामादभिननं करणं भवति, वीर्यं निर्वर्त्यं अभ्योन्यानुगतिपरिणामाद् प्रव्यरूपाः कायादियोगा भावयोगं वीर्यं निवर्तयन्ति । यथा कर्तुः शरीरस्य आगमने निर्वर्त्यंऽप्यादौ कारणमभिन्नमेकत्वादेवमेते अपीति । अत एव एव शरीरात्मप्रदेशपिण्डः प्रतिविशिष्टक्रियाकारित्वव्यवच्छिन्नस्त्रिविधो योगो भवति । तिस्रो विधा यस्यासौ त्रिविध । —सिद्ध० अ ६ । सू १ । पृ० २-३

एक-एक कायादि का कर्म होता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि सब के (कायादि के) सम्मिलित रूप से कर्म हो—इसी अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए भाष्य- कार ने कर्म शब्द को प्रत्येक के साथ सम्बद्ध किया है, अर्थात् कायिक कर्म, वाचिक कर्म और मानसिक कर्म । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति आदि में तो केवल कायकर्म हो सकता है। किन्तु केवल वाक्कर्म अथवा केवल मनःकर्म किसी में होता है ऐसा नहीं कह सकते। जिस प्रकार कायकर्म इतर द्वन्द्व (वाक्, मन) की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार वाक्कर्म और मनः कर्म भी इतर द्वन्द्व की अपेक्षा नहीं रखता है। किसी कायवान् जीव के असावधान अवस्था में कायिक व्यापार के अभाव में भी वाग्व्यापार होता है तथा काय और वाग् व्यापार के अभाव में भी कदाचित् मन का व्यापार होते कहीं देखा जाता है। इसलिए कायादि तीनों आत्माधिष्ठित होकर एक साथ या एक-एक पृथक् रूप से कर्म के हेतु हैं।

काय को प्रयोजन बनाकर, काय के द्वारा निष्पन्न या काय में होनेवाला कर्म- कायिक कर्म (काययोग) है। इसी प्रकार वचन को प्रयोजन बनाकर होनेवाला, वचन के

द्वारा निष्पन्न होनेवाला तथा वचन में होनेवाला कर्म वाचिक कर्म (वाग्योग) है और मन को प्रयोजन बनाकर होनेवाला, मनके द्वारा निष्पन्न होनेवाला तथा मन में होनेवाला कर्म मानस कर्म (मनोयोग) है ।

यह कर्म कर्ता रूप आत्मा और उसका शरीर दोनों के एक परिणाम होने के कारण अभिन्न करण (विशेष कारण) बनता है । वीर्य-पराक्रम बन जानेपर परस्पर अनुगमन के परिणाम वश द्रव्य रूप ये कायादि योग भावयोग रूप वीर्य का सम्पादन करते हैं । जिस प्रकार कर्ता के शरीर का आगमन हो जानेपर कर्ता का भी आगमन माना जाता है, वयोंकि दोनों अभिन्न हैं उसी प्रकार आत्मा के साथ समान रूप से सम्बन्धित रहने के कारण वाग्योग और मनोयोग को भी समझना चाहिए । इसलिए यही शरीर और आत्मप्रदेशों का पिण्ड ही परस्पर सहयोगी रूप में क्रियाकारिता से युक्त होकर तीन प्रकार का योग बनता है ।

०३ अभयदेव सूरी

इह वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभि-
सन्धिपूर्वमात्मनो वीर्यं योगः । आह च—“जोगो वीरियं थामो उच्छाह परक्रमो
तहा चेष्टा । सत्ती सामत्यन्ति य जोगस्स हवन्ति पज्जाया ॥१॥” इति, स च
द्विधा—सकरणोऽकरणश्च, तत्रालेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्ज्ञेयदृश्ययोरर्थयोः
केवलं ज्ञानं दर्शनं उपयुज्ज्ञानस्य योऽसावपरिस्पन्दोऽप्रतिघो वीर्यविशेषः
सोऽकरणः, स च नेहाधिक्रियते, सकरणस्यैव त्रिस्थानकावतारित्वात्, अत-
स्तत्रैव व्युत्पत्तिस्तमेव चाश्रित्य सूत्रव्याख्या, युज्यते जीवः कर्मभिर्येन ‘कम्मं
जोगनिमित्तं बज्झइ’ त्ति वचनात् प्रयुङ्क्ते यं पर्यायं स योगो—वीर्यान्तरायक्षयो-
पशमजनितो जीवपरिणामविशेष इति । —ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १२४ । टीका

वीर्यान्तराय के क्षय तथा क्षयोपशम जनित लब्धि विशेष की प्रतीति, जो इच्छा या अनिच्छापूर्वक आत्मा के वीर्य-पराक्रम को योग कहते हैं । कहा भी है—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य—ये सभी योग के पर्यायवाची शब्द हैं । यह वीर्य दो प्रकार का होता है—सकरण और अकरण । इनमें अलेशी केवली, जो केवल ज्ञान और केवल दर्शन का उपयोग करते हैं, उनका जितने भी ज्ञेय और दृश्य पदार्थ हैं उनमें अपरिस्पन्दात्मक अप्रतिघाती वीर्यविशेष होता है वह अकरणवीर्य है । यहाँ पर तो सकरण-वीर्य को ही तीन स्थानों में अवतरण कर अर्थात् मन, वचन और काय के रूप में विभक्त कर कहा गया है । ‘योग को निमित्त बनाकर कर्म का बन्ध होता है’—इस वचन के अनुसार जिसके द्वारा जीव कर्मों से युक्त होता है, अथवा जिस पर्याय को युक्त करता है या प्रयुक्त करता है वह योग है, अर्थात् वीर्यान्तराय के क्षय तथा क्षयोपशम जनित जीव का परिणाम-विशेष को योग कहते हैं ।

•०३ अभयदेवसूरि :—

(क) आत्मनि कर्मपुद्गलानाम् लेशनात्-संश्लेषणात् लेश्या, योग परिणामश्चैताः, योगनिरोधे लेश्यानामभावात्, योगश्च शरीरनामकर्मपरिणति विशेषः ।
—भग० श २ । उ २ । प्र ६८ की टीका

(ख) इयं (लेश्या) च शरीरनाम कर्मपरिणतिरूपा योगपरिणतिरूपत्वात्, योगस्य च शरीरनामकर्मपरिणति विशेषत्वात्, यत उक्तं प्रज्ञापना वृत्तिकृता—

“योगपरिणामोऽलेश्या, कथं पुनर्योग परिणामोऽलेश्या, यस्मात् सयोगि-केवली शुक्ल लेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तर्मुहूर्त्तं शेषे योगनिरोधं करोति ततो-प्रयोगित्वमलेश्यत्वं च प्राप्नोति अतोऽवगम्यते “योगपरिणामोऽलेश्यति, सपुन-र्योगः शरीरनामकर्मपरिणति विशेषः, यस्मादुक्तम्—‘कर्महि कार्मणस्य कार-णमन्येषां च शरीराणामिति” तस्मादौदारिकादि शरीरयुक्तास्यात्मनो वीर्य-परिणतिविशेषः काययोगः १, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीर व्यापाराद्वृत्तबाग्-द्रव्यसमूहसाच्चिव्यात् जीव व्यापारो यः स बाग्योगः २, तथौदारिकादि शरीर-व्यापाराद्वृत्तमनोद्रव्यसमूह साच्चिव्यात् जीव व्यापारो यः स मनोयोग इति ३, ततो यथैव कायादिकरणयुक्तस्यात्मनो वीर्य परिणतियोग उच्यते तथैव लेश्या-पोति, अन्येतु व्याचक्षते—‘कर्मनिस्यन्दो लेश्ये’ति साचद्रव्यभावभेदात् द्विधा, तत्र द्रव्यलेश्या कृष्णादिद्रव्याण्येव, भावलेश्या तु तज्जन्यो जीवपरिणाम इति ।”

—ठाण० स्था १ । सू ५१ । पर टीका

•०४ पूज्यपाद

कायबाङ्मनसां कर्म कायबाङ्मनः कर्म योग इत्याख्यायते । आत्म-प्रदेशपरिस्पन्दो योगः ।
—सर्व० अ ६ । सू १ । पृ० ३१८

कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम् । कायबाङ्मनसां कर्मकायबाङ्मनः-कर्म योग इत्याख्यायते । आत्मप्रदेश परिस्पन्दो योगः । स निमित्तभेदात्त्रिधा भिद्यते । काययोगो बाग्योगो मनोयोग इति ।
—सर्व० अ ६ । सू १ । पृ० ३१८

कर्म और क्रिया एकार्थवाची शब्द हैं । काय, वचन और मन के कर्म को योग कहा जाता है । आत्मा के प्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं । निमित्त भेद से यह योग तीन प्रकार का होता है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग ।

०५. वीरसेनाचार्य

युज्यत इति योगः न युज्यमानपटादिना व्यभिचार-स्तस्यानात्मधर्मत्वात् ।
न कषायेण व्यभिचारस्तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात् । अथवात्मप्रवृत्तेः कर्मादान-
निबन्ध वीर्योत्पादो योगः । अथवात्मप्रदेशानां सङ्कोचविकोचो योगः ।

—षट्० खं १, १ । सू ४ । टीका । पृ० २ । पृ० १३६-४०

युक्त किया जाने वाला योग है । युक्त किये जाने वाले घट-पटादि में इस लक्षण का व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि घट-पटादि आत्मधर्म नहीं हैं । कषाय भी योग नहीं है, क्योंकि उसमें कर्म को ग्रहण करने की हेतुता नहीं है । अथवा, आत्मप्रवृत्ति से कर्मों को ग्रहण करने के लिए वीर्य की उत्पत्ति को योग कहते हैं । अथवा आत्मप्रदेशों के संकोच-विकोच को योग कहते हैं ।

बाङ्मनः कायवर्गणानिमित्तः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति ।

—षट्० खं १, १ । सू ६० । टीका । पृ १ । पृ० २६६

वचन, मन तथा काय की वर्गणा के निमित्तवश आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन योग है ।

किं जोगोणाम् ? जीवपदेसाणं परिस्पन्दो संकोच-विकोच-भ्रमण सरू-
चओ । ण जीवगमणं जोगो, अजोगिस्स अद्यादिकम्मक्खणवुद्धं गच्छंतस्स
वि सजोगत्तप्पसंगादो । सो च जोगो मण-वच्चि-कायजोगभेदेण ति विहो ।

षट्० खं ४ । भा ४ । २ । ४ । सू १७५ । पृ १० । पृ० ४३७

योग क्या है ? जीव प्रदेशों के संकोच, विकोच तथा भ्रमण स्वरूप परिस्पन्दन को योग कहते हैं । यदि जीव की गति को योग माना जाय तो अयोगी, जिनके अघाती कर्मों के क्षय रहने के कारण ऊर्ध्वगमन करने को भी योगत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा । यह योग मन, वचन और काय के भेद से तीन प्रकार का है ।

०६. मलयगिरि

इहास्मिन् जगति वीर्यं द्विविधं द्विप्रकारं, तद्यथा—आवरणस्य वीर्यान्त-
रायरूपस्य देशक्षयेण सर्वक्षयेण च ; तत्र देशक्षयेण छद्मस्थानां, सर्वक्षयेण केव-
लिनां ; पुनरप्येकैकं द्विविधं, अभिसन्धिज-मनभिसन्धिजं च । तत्र यद्बुद्धि-
पूर्वकं धावनवल्गनादि क्रियासु नियुज्यते तदभिसन्धिजं, इतरदनभिसन्धिजं,
यद्भुक्तस्याहारस्य धातु-मलत्वादिरूपपरिणामापादनकारणं, एकेन्द्रियादीनां वा
मनोलब्धिरहितानां तत्तत्क्रियानिबन्धनं ; तथा उभयमपि छाद्यस्थिकं कैवलिकं
च प्रत्येकमकषायि सत्त्वैश्यं च भवति ।

तत्र छाद्यस्थिकमकषायि सलेश्यं उपशान्तमोहक्षीणमोहानां, कैवल्यिक-
मकषायि सलेश्यं सयोगिकेवल्लिनां 'होइकसाइवीत्यादि' प्रथमं छाद्यस्थिकं वीर्यं
कषाय्यपि कषायिकमपि, अपिशब्दादकषाय्यपि भवति । तत्र कषायिकं सूक्ष्म-
संपरायगुणस्थानकपर्यन्तानां सर्वेषां संसारिणां, अकषायिकं च प्रागेवोक्तं ।
इतरत्कैवल्यिकमलेश्यमपि भवति । तच्चाऽयोगिकेवल्लिनां सिद्धानां च वेदितव्यं ।
तदेवमनेकधा वीर्यं प्ररूप्य संप्रति येन वीर्येणाधिकारस्तद्विशेषतः प्ररूपयति—
'जलेसं तु इत्यादि' यत्सलेश्यं वीर्यं, तद्ग्रहणपरिणामरूपन्दनरूपं, तत्र ग्रहणं
औदारिकादिशरीर-प्रायोग्याणां पुद्गलानामुपादानं, परिणामस्तेषामेष पुद्गलाना-
नामौदारिकादिरूपतया परिणामापादनं, तद्रूपं तत्स्वभावं तत्कारणमित्यर्थः ।
इह ग्रहणपरिणामकारणं सत् ग्रहणपरिणामरूपमित्युक्तं, कार्येण सह कारणस्याऽ-
भेदविवक्षणात् । तथा रूपन्दनारूपं यथासंभवं सूक्ष्मबादरपरिरूपन्दरूपक्रिया-
त्मकं । एतदेव च सलेश्यं वीर्यमुक्तस्वरूपं योगसंज्ञमुच्यते । एकार्थिकाति
आस्यैव वक्ष्यति, अस्य च सहकारिकारणभूता मनोवाक्कायाः, ततस्तेऽपि कारणे
कार्योपचारात् योगशब्देन शास्त्रेषु व्यवक्रियन्ते । तथा चाह—'जोगमो
तिविह' योगतो मनोवाक्कायरूपतः सहाकारिकारण-बहुपजायमानं सलेश्यं वीर्य-
योगसंज्ञं त्रिविधं त्रिप्रकारं भवति, तद्यथा-मनोयोगो वाग्योगः काययोगः । तत्र
मनसा कारणभूतेन योगो मनोयोगः, वाचा योगो वाग्योगः, कायेन योगः
काययोगः ।

—पंच श्वे० भा ३ । गा ४ । टीका । पृ० ३१६-२१

धावन-बल्लगनादि क्रियाओं में जो बुद्धिपूर्वक नियोजन होता है वह अभिसन्धिजात
है । भुक्त आहार का घातु मल आदि रूप परिणमन तथा उसके अपादान-त्याग और
एकेन्द्रिय आदि या मनोलब्धि रहित जीवों के द्वारा जो उन-उन क्रियाओं में निबन्धन होता
है वह अनभिसन्धि जात है । ये दोनों वीर्य अकषायी सलेश्यी छद्मस्थ और केवली के भी
होता है ।

इस संसार में वीर्य-पराक्रम दो प्रकार का है, यथा—वीर्यान्तराय रूप आवरण के
देशक्षय से अथवा सर्वक्षय से । देशक्षयजनित वीर्य छद्मस्थों के होता है और सर्वक्षयजनित
वीर्य केवलियों के होता है । इनमें से प्रत्येक दो-दो प्रकार का है । अभिसन्धिजात और
अनभिसन्धिजात ।

छद्मस्थों में जो कषायरहित सलेश्य वीर्य होता है वह उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह
की अपेक्षा कहा गया है तथा केवलियों में जो कषायरहित सलेश्य वीर्य होता है वह सयोगि-
केवलि की अपेक्षा से कहा गया है ।

छद्मस्थों का वीर्य कषायसहित तथा कषायरहित दोनों प्रकार का होता है । कषाय-

सहित वीर्य सूक्ष्मसंपराय—दसवें गुणस्थान पर्यन्त सभी संसारियों के होता है। कहा जा चुका है इतर केवली अलेशी होते हैं।

इस प्रकार अनेक प्रकार से वीर्य का प्ररूपण कर जिस वीर्य का अधिकार है उसका प्ररूपण किया जाता है—सलेश्य वीर्य के तीन रूप होते हैं—ग्रहणरूप, परिणामरूप तथा स्पन्दनरूप। औदारिकादि शरीर के प्रयोजन योग्य पुद्गलों का उपादान—ग्रहण है। उन्हीं पुद्गलों को औदारिकादि शरीर रूप से परिणमन-त्याग करना—परिणाम है, उसके स्वभाव रूप से अर्थात् कारणरूप से परिणत हो जाना। यहाँ पर ग्रहण और परिणाम को कारण होते हुए जो ग्रहण और परिणाम का स्वरूप कहा गया है वह कार्य के साथ कारण की अभेद विवक्षा से। स्पन्दन रूप वीर्य वह है जो यथासंभव सूक्ष्म तथा बादर शरीर की परिस्पन्दन रूप क्रिया है।

यही जो सलेश्य वीर्य का स्वरूप कहा गया है उसको योग कहा जाता है। इसके सहकारी कारणभूत मन, वचन और काय हैं, अतः वे (मन, वचन और काय) भी कारण में कार्य के उपचार से शास्त्रों में योग शब्द के द्वारा व्यवहृत होते हैं।

मन, वचन, काय रूप योग से सहकारी कारण के समान उत्पन्न होनेवाला सलेश्य वीर्य रूप योग है वह तीन प्रकार का है, यथा—मनोयोग, वाग्योग और काययोग। मन रूप कारण से होनेवाला योग मनोयोग है। वचन रूप कारण से होनेवाला योग वाग्योग है। काय रूप कारण से होनेवाला योग काययोग है।

०६ मलयगिरि—

विरियमिति—वीर्यान्तरायस्य देशक्षयेण सर्वक्षयेण वा लब्धिवीर्य-
लब्धिरसुमतामुपजायते। तत्र देशक्षयेण छद्मस्थानां सर्वक्षयेण (च) केवलानां।
तस्याश्च वीर्यलब्धेः सकाशादुपजायमानं वीर्यं सलेश्यस्यापि च भवति,
अलेश्यस्यापि च। केवलमिह सलेश्यवीर्येणाधिकार इति तदेवोपदर्शयति—
'अभिसन्धिजमियरं वा तत्तो विरियं सलेशस्स' ततस्तस्याः क्षायिकक्षायोपश-
मिकरूपाया वीर्यलब्धेः सकाशात् सलेश्यस्य वीर्यमभिसन्धिजमितरद्वा भवति।
तत्र यद्बुद्धिपूर्वकं धावनवल्गनादिक्रियासु नियुज्यते तदभिसन्धिजं, इतर-
दनभिसन्धिजं यद्भुक्तस्याहारस्य धातुमलत्वरूपपरिणामापादानकारणं एकेन्द्रि-
याणां वा तत्तत्क्रियानिबन्धनं। एतच्चाभिसन्धिजमनभिसन्धिजं वा वीर्यमवश्यं
यथासंभवं सूक्ष्मबादरपरिस्पन्दरूपक्रियासहितं, योगसंज्ञमप्येतदेव। एकार्थि-
क्रानि आस्यामूनि—“जोगो विरियं थामो, उच्छाहपरिकमो तहा चि (चे) द्वा।
सत्ती सामत्थं विय, जोगस्स हवन्ति पज्जाया॥” —कम्म० गा ३। टीका

जीव के वीर्यान्तराय के देशक्षय अथवा सर्वक्षय के द्वारा जो लब्धि प्राप्त होती है उसको वीर्यलब्धि कहते हैं। छद्मस्थों के देशक्षय के द्वारा वीर्यलब्धि होती है तथा केवलियों

के सर्वक्षय के द्वारा वीर्यलब्धि होती है। इस वीर्यलब्धि की संप्राप्ति से उत्पन्न होनेवाला वीर्य सलेशी और अलेशी दोनों के होता है। किन्तु यहाँ पर सलेशी के ही वीर्य का कथन है, जिसको 'अभिसन्धिमयरं' इस गाथा से स्पष्ट किया गया है। अब यहाँ क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप वीर्यलब्धि से उत्पन्न सलेशी का वीर्य अभिसन्धिज है या अनभिसन्धिज ? जो वीर्य बुद्धिपूर्वक धावन-वलगनादि क्रियाओं में नियोजित किया जाता है वह अभिसन्धिज है, इससे भिन्न अनभिसन्धिज है यथा—जीव द्वारा भुक्त आहार का घातु-मल आदि रूप से परिणमन का कारण होता है तथा एकेन्द्रियों के अपनी क्रियाओं में निबन्धन होता है। यह अभिसन्धिज और अनभिसन्धिज वीर्य यथासंभव अवश्य ही सूक्ष्म और बादर जीवों के परिस्पन्दन रूप क्रिया से युक्त होता है—इसी को योग भी कहते हैं। ये एकार्थक शब्द कहे गये हैं—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य।

.६ मलयगिरि :—

(क) इहयोगे सति लेश्या भवति, योगाभावे च न भवति ततो योगेन सहान्वय व्यतिरेक दर्शनात् योगनिमित्ता लेश्येति निश्चीयते, सर्वत्रापि तन्निमित्तत्वनिश्चयस्यान्वयव्यतिरेक दर्शनमूलत्वात्, योगनिमित्ततायामपि विकल्प द्वयमवतरति—

किं योगान्तरगत द्रव्यरूपा योगनिमित्त—कर्मद्रव्यरूपा वा ? तत्र न तावद्योग निमित्त कर्मद्रव्यरूपा, विकल्प द्वयामतिक्रमात्, तथाहि-योग-निमित्त कर्मद्रव्यरूपा सतीधाति कर्मद्रव्यरूपा अघातिकर्मद्रव्यरूपा वा ? न तावद्घातिकर्मद्रव्यरूपा, तेषामभावेऽपि सयोगिकेवल्लिनि लेश्यायाः सद्भावात्, नापि अघातिकर्मरूपा तत्सद्भावेऽपि अयोगिकेवल्लिनि लेश्याया अभावात्, ततः पारिशेष्यात् योगान्तर्गत द्रव्यरूपा प्रत्येया। तानि च योगान्तर्गतानि द्रव्याणि यावत्कषायास्तावत्तेषामदप्युयोपवृंहकाणि भवन्ति, दृष्टं च योगान्तरगतानां द्रव्याणां कषायोदयोपवृंहणसामर्थ्यम्। यथापिस्त द्रव्यस्य तथाहि—

× × × केवलं योगान्तर्गत द्रव्य सहकारिकारण भेदवैचित्र्याभ्यां तेकृष्णादिभेदैर्भिन्नाः × × × तेन यदुच्यते कैश्चिदयोगपरिणामत्वे लेश्यानाम् “जोगा पयडिपपसंठिइअणुभागं कसायओ कुणइ” इति वचनात् प्रकृतिप्रदेश बंधहेतुत्वमेवस्यान्न कर्मस्थिति हेतुत्वमिति, तदपि न समीचीनम्, यथोक्त-भावार्थापरिज्ञानात् १ अपि च न लेश्या स्थितिहेतवः ॥

—पण० प १७। प्रारम्भ में टीका

.०७ देवेन्द्रसूरि

योजनं योगः—जीवस्य वीर्यं परिस्पन्द इति यावत्, यदि वा युज्यते-

धावनवल्गनादिक्रियासु व्यापार्यत इति योगः, कर्मणिघञ्, यद्वा युज्यते-सम्ब-
ध्यते धावनवल्गनादिक्रियासु जीवोऽनेनेति “पुंनाग्नि” (सि० ५।३।१३०) इति
करणे घप्रत्ययः, स च मनोवाक्काय-लक्षणसहकारिकारणभेदात् त्रिविधः × × × ।

—कर्म० भाग ४ । गा १ । टीका । पृ० ११३

योजन करना, अर्थात् जीव का वीर्य या परिस्पन्दन योग है (भावे घञ्) । अथवा
धावन-वल्गनादि क्रियाओं में युक्त किया जाता है या व्यापृत किया जाता है वह योग है
(कर्मणि घञ्) । अथवा जिसके द्वारा धावन-वल्गनादि क्रियाओं में जीव युक्त किया जाता
है अर्थात् संबद्ध किया जाता है वह योग है (करणे घञ्) । यह योग मन, वचन और
काय रूप सहकारी कारण के भेद से तीन प्रकार का है ।

.०८ अकलंकदेव

त्रैविध्यानुपपत्तिरात्मपरिणामाविशेषादिति चेत् ; न पर्यायविषयव्यापा-
रादूपादिषत् । ९ । स्यान्मतम्—योगस्य त्रैविध्यं नोपपद्यते । कुतः ? आत्म-
परिणामाविशेषात् । आत्मा हि निरवयवद्रव्यम्, तत्परिणामो योगः, सोऽविशिष्ट
इति ; तन्न ; किं कारणम् ? पर्यायविषयव्यापारादूपादिषत् । यथा घटस्यैकत्व-
मजहतश्चक्षुरादिकरणसम्बन्धवशादूपादिपरिणामभेदः, तथा आत्मनः एकत्वेऽपि
पर्यायभेदात् योगस्य भेदो ज्ञेयः ।

चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वाद् रूपाध्यवसायस्येति चेत् ; न ; आत्माभेदेऽपि
कायादीनां पूर्वकृतकर्मापादितसामर्थ्योपलम्भात् ॥१०॥ स्यादेतत्युज्यते घटस्य
रूपादिभेदाध्यवसायः । कुतः ? चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वात् । ग्रहणभेदाद्धि
लोके ग्राह्यभेदो दृष्टः, न तथा आत्मन इति ; तत्र ; किं कारणम् ? आत्माभेदेऽपि
कायादीनां पूर्वकृतकर्मापादितसामर्थ्योपलम्भात् । तद्यथा पुद्गलविपाकिनः
शरीरनामकर्मण उदयापादिते कायवाङ्मनोवर्गणान्यतमालम्बने सति वीर्यान्त-
रायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरबाग्लब्धिसान्निध्ये बाह्यपरिणामा-
भिमुख्यस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः । अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोऽन्विद्रया-
वरणक्षयोपशमात्मकमनोजब्धि सन्निधाने पूर्वोक्तबाह्यनिमित्तालम्बने च सति
मनः परिणामाभिमुख्यस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः । वीर्यान्तरायक्षयो-
पशमसद्भावे औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्षात्मप्रदेशपरि-
स्पन्दः काययोगः । यदि क्षयोपशमलब्धिरभ्यन्तरहेतुः क्षये कथम् ? क्षयेऽपि
हि सयोगकेवलिनः त्रिविधो योग इष्यते । अथ क्षयनिमित्तोऽपि योगः कल्प्यते,
अयोगकेवलिनां सिद्धानां च योगः प्राप्नोति ; नैष दोषः ; क्रियापरिणामिन

आत्मनस्त्रिविधवर्गणालम्बनापेक्षः प्रदेशपरिस्पन्दः सयोगकेवलिनो योगविधि-
बिम्बिष्यते, तदालम्बनाभावात् उत्तरेषां योगविधिर्नास्ति ।

अनेकान्ताच्च लाघकादिवत् ॥११॥ यथा देवदत्तस्य जातिकुलरूपसंज्ञा-
लक्षणसम्बन्धाद्यविशेषादेकत्वमजहतः बाह्योपकरणसम्बन्धोपनीतभेदलाघकाप-
घकादिपर्यायानास्कन्दतः स्यादेकत्वं स्यादनेकत्वमित्यनेकान्तः तथा प्रतिनियत-
क्षायोपशमिकशरीरादिपर्यायार्थादेशात् स्यात्त्रैविध्यं योगस्य, अनादिपारिणा-
मिकात्मद्रव्यार्थादेशात् स्यादैकविध्यमित्यनेकान्तः । ततो नायमुपालम्भः ।

—राज० अ ६ । सू १ । पृ० ५०४

आत्मपरिणाम की अविशेषता के कारण योग की त्रिविधता नहीं सिद्ध होती है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार घटादि द्रव्य में रूपादि पर्याय के विवक्षा-व्यापार से अनेकविधता मानी जाती है उसी प्रकार विवक्षा-व्यापार से योग की भी त्रिविधता होगी । अथवा, मानना चाहिए कि योग की त्रिविधता नहीं बनती है, क्योंकि आत्मपरिणाम अविशेष अर्थात् एक है । आत्मा निरवयव द्रव्य है और आत्मपरिणाम योग है जो अविशिष्ट है—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि रूपादि पर्याय के विवक्षा-व्यापार से घट में अनेकविधता देखी जाती है । जिस प्रकार घट एक रहते हुए भी चक्षुरादि करण के सम्बन्धवश रूप-रसादि परिणामों का भेद प्राप्त होता है उसी प्रकार आत्मपरिणाम एक होते हुए भी पर्याय भेद से योग का भेद जानना चाहिए ।

चक्षुरादि के द्वारा ग्रहण होने के कारण रूपादि का दृष्टान्त देना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मपरिणाम के अभेद रहते हुए कायादि के पूर्व-कृत कर्मों के द्वारा संप्राप्त सामर्थ्य पाया जाता है । अथवा, घट में रूपादि का अध्यवसाय ठीक है, क्योंकि चक्षुरादि के द्वारा ग्रहण होता है । लोक में ग्रहण के भेद से ग्राह्य में भेद देखा जाता है — ऐसा आत्मा का नहीं होता है—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा के अभेद रहते हुए भी कायादि में पूर्वकृत कर्मों से निष्पन्न सामर्थ्य प्राप्त होता है । जैसे—पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय होने पर काय, वचन और मन की वर्गणाओं में से किसी एक का आलम्बन लेने पर वीर्या-न्तराय कर्म रूप मति, अक्षरादि के आवरण के क्षयोपशम से संप्राप्त आभ्यन्तर वाग्लब्धि के सान्निध्य में वचन-परिणाम के अभिमुख आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन—हलन-चलन होता है वह वाग्योग है । आभ्यन्तर वीर्यान्तराय रूप नोइन्द्रिय (मन) के आवरण के क्षयोप-शम रूप मनोलब्धि के सान्निध्य में पूर्वोक्त रूप से बाह्य निमित्त—पुद्गल का आलम्बन लेने पर मनः परिणाम के अभिमुख आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दन मनोयोग है । वीर्यान्तराय के क्षयोपशम का सद्भाव रहते हुए औदारिकादि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक का आलम्बन लेने पर जो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन होता है वह काययोग है । यदि क्षयोपशम लब्धि को आभ्यन्तर हेतु माना जाता है तो क्षय में क्यों कहा गया ? क्योंकि सयोगिकेवली के वीर्यान्तराय के क्षय होने पर भी तीनों प्रकार का योग होता है । यदि

क्षयनिमित्त भी योग स्वीकार किया जाय तो अयोगिकेवली में भी योग होने का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा । यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि क्रिया-परिणामी आत्मा का जो त्रिविध वर्गणाओं के आलम्बन सापेक्ष प्रदेश परिस्पन्दन होता है उसको संयोगिकेवली का योग माना जाता है ; अयोगिकेवली में इन वर्गणाओं के आलम्बन का अभाव रहने के कारण योग नहीं होता है ।

अनेकान्त के द्वारा भी योग की त्रिविधता सिद्ध होती है । जैसे देवदत्त नामक कोई व्यक्ति जाति, कुल, रूप, संज्ञा रूप लक्षण आदि के द्वारा एक होते हुए भी बाह्य उपकरणों के सम्बन्ध से भेदक (भेदन करनेवाला), लावक (छेदन करनेवाला), पावक (पवित्र-करनेवाला) आदि पर्यायों को प्राप्त करते हुए कदाचित् एकत्व तथा कदाचित् अनेकत्व को प्राप्त कर अनेकान्त बन जाता है उसी प्रकार प्रतिनियत क्षायोपशमिक पर्यायों के द्वारा कदाचित् योग की भी त्रिविधता सिद्ध होती है । अनादि पारिणामिक आत्मद्रव्य रूप पदार्थ के आधार पर कदाचित् योग एक ही प्रकार का रह सकता है । इस प्रकार अनेकान्त के आधार पर कोई उपालम्भ नहीं रहता है ।

१०९ नेमिचन्द्र

पुगलविषाददेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥

—गोजी० गा० २१५ । पृ० ८७

पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन और काय से युक्त जीव की कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति का नाम 'योग' है ।

नेमिचन्द्र

पुगलविषाददेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोग ॥

—गोजी० गा० २१५

पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन और काय से युक्त जीव की जो कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं ।

११० पूज्यपादाचार्य

(क) भावक्षेश्या कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते ।

—सर्व० अ २ । सू ६

इसको अकलंक देव ने उद्धृत किया ।—राज० अ २ । सू ६ । पृ १०६ । ला २४

१११ अकलंकदेव

(क) कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ।

—राज० अ २ । सू ६ । पृ १०६ । ला २१

(ख) कषायश्लेपप्रकर्षापकर्षयुक्ता योगवृत्तिर्लेश्या ।

—राज० अ ६ । सू ७ । पृ० ६४ । ला १३

१२ विद्यानन्दि

कषायोदयतो योगप्रवृत्तिरूपर्शिता ।

—श्लो० अ २ । सू ६ । श्लो ११ । पृ ३१६

१३ सिद्धसेनगणिः

लिश्यन्ते इति लेश्याः मनोयोगावष्टम्भजनितपरिणामः ।

—सिद्ध० अ २ । सू ६ । पृ० १४७

१४ नेमिचन्द्राचार्यचक्रवर्ती

जोगपउत्ती लेशसा कसायउदयाणुरंजियाहोइ ।

—गोजी० गा ४८६

१५ हेमचन्द्रसूरि द्वारा उद्धृतः

× × × सत्यं किन्तु योगपरिणामो लेश्याः, योगस्तु त्रिविधोऽपि कर्मोदयजन्य एवततो लेश्यानामपि तदुभयजन्यत्वं नविह्वयते ।

—अनुश्रो० सू १२६ पर हेमचन्द्रसूरि वृत्ति

०७ योग के भेद

१ दो भेद

कायवाङ्मनः कर्म योग ।

—तत्त्व० अ ६ । सू १

भाष्य—कायिकं कर्म वाचिकं कर्म मानसकर्म इत्येष त्रिविधो योगो भवति । स एकशो द्विविधः ।—शुभश्चाशुभश्च । तत्राशुभो हिंसास्तेयाब्रह्मादीनि कायिकः सावद्यानृतपरुषपिशुनादीनि वाचिकः, अभिध्याव्यापदेर्ष्यासूयादीनि मानसः । अतो विपरीतः शुभ इति ।

प्राणातिपातानृतभाषणबध्दचिन्तनादिरशुभः । प्राणातिपातादत्तादान-मैथुनप्रयोगादिरशुभः काययोगः । अनृतभाषणपरुषासत्यवचनादिरशुभोवाग्बोगः । बध्दचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोगः ।

× × × अहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः । सत्यहितमित-भाषणादिः शुभो वाग्योगः । अर्हदादिभक्तिपरोक्षविश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः । × × × । कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् ?

शुभाशुभपरिणामनिवृत्तत्वाच्छुभाशुभव्यपदेशः । शुभपरिणामनिवृत्तो योगः शुभः, अशुभपरिणामनिवृत्तश्चाशुभ इति कथ्यते, न शुभाशुभकर्मकारण-

त्वेन । यद्येवमुच्यते; शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्ध-
हेतुत्वाभ्युपगमात् । —राज० अ ६ । सू ३ । पृ० ५०६-७

योग के शुभ तथा अशुभ दो भेद होते हैं । मूल सूत्र के अनुसार योग के काय, वचन तथा मन तीन मूल भेद होते हैं । इन तीनों के शुभ तथा अशुभ दो-दो भेद होते हैं । अतः कहा जाता है योग के शुभ तथा अशुभ दो भेद होते हैं ।

राजवार्तिककार का कथन है कि शुभ योग तथा अशुभ योग का कथन योग के शुभाशुभ का कारण होने के निमित्त से नहीं किया गया है, किन्तु जीव के शुभाशुभ परिणामों की निष्पन्नता के आधार पर किया गया है ।

द्रव्य और भाव

नणु मण-वइ-काओगा शुभासुभा वि समयम्मि दीसंति ।

दव्वम्मि मीसभावो भवेज्ज न उ भावकरणम्मि ॥

—विशेभा० गा १६३६

टीका—× × × इह द्विविधो योगः—द्रव्यतः, भावतश्च । तत्र मनो-
वाक्-काययोगप्रवर्तकानि द्रव्याणि, मनो-वाक्-कायपरिस्पन्दात्मको योगश्च
द्रव्ययोगः, यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसायः स भावयोगः । × × × ।

प्रशस्त और अप्रशस्त

योगेन ये समायान्ति शस्ताशस्तेन पुद्गलाः ।

तेऽष्टकर्मत्वमिच्छन्ति कषायपरिणामतः ॥

—योसा० अ २ । श्लो २३

शुभ और अशुभ

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योगवृत्तयः ।

सामान्येन प्रजायन्ते दुरितास्त्रवहेतवः ॥

—योसा० अ ३ । श्लो १

०२ योगपरिणाम के तीन भेद

जोगपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ? गोयमा ! तिविहे वणत्ते ।
तं जहा—मणजोगपरिणामे १ वइजोगपरिणामे २ कायजोगपरिणामे ३ ।

—पण्ण० प १३ । सू ६३१ । पृ० २२६

योग-परिणाम तीन प्रकार का होता है—मनोयोगपरिणाम, वचनयोगपरिणाम और काययोगपरिणाम ।

योग के तीन भेद

तिविहे जोगे पणत्ते, तंजहा—मणोजगे, वइजोगे कायजोगे । एवं
णेइयाणं विगल्लिदियवज्जाणं जाव वेमाणियारणं । —ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १३

जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगो वच्चिजोगो कायजोग चेदि ।

—षट्० खं १ । १ सू ४७ । पु १ । पृ० २७८

तिविहे जोगे पणत्ते, तं जहा—मणजोगे, वइजोगे, कायजोगे ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १३ । पृ० ५४१

प्रयोग के तीन भेद

तिविहे पओगे पणत्ते तंजहा—मणपओगे, वइपओगे, कायपओगे ।
जहाजोगो विगल्लिदियवज्जाण जावतहा पओगोवि ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १४

जीव और प्रयोग

जीवा णं तिविहे पओगे पणत्ते, तंजहा—मणप्पयोगे, वइप्पयोगे, काय-
प्पयोगे । इच्चेए णं तिविहेणं पयोगेणं जीवाणं कम्मोवच्चए पयोगसा, नो
वीससा ।

—भग० श ६ । उ ३ । सू २६

एवं सव्वेसिं पंचिदियाणं तिविहेपयोगे भाणियव्वे ।

पुढवीकाइयाणं एगविहेणं पयोगेणं, एवं जाव वणस्सइकाइयाणं ।

विगल्लिदियाणं दुविहे पयोगे पणत्ते, तंजहा—वइपयोगे, कायपयोगेय ।

इच्चेएणं दुविहेणं पयोगेणं कम्मोवच्चए पयोगसा, नो वीससा । से
तेणट्ठं गोयमा ! एवं वुच्चइ जीवाणं कम्मोवच्चए पयोगसा, नो वीससा । एवं
जरस्स जो पयोगे जाव वेमाणियारणं ।

.०३ चार भेद

चउव्विहा सव्वजीवा पणत्ता ते एवमाहंसु तं जहा—मणजोगी वइजोगी
कायजोगी अजोगी ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २५७ उ । पृ० ४४६

सब जीव चार प्रकार के हैं—मनोयोगी-वचनयोगी-काययोगी व अयोगी ।

.०४ योग के पन्द्रह भेद

कइविहे णं भंते ! जोए पणत्ते ? गोयमा ! पण्णरसविहे जोए पणत्ते,
तं जहा—१ सच्चमणजोए २ मोसमणजोए ३ सच्चामोसमणजोए ४ असच्चामोस-
मणजोए ५ सच्चवइजोए ६ मोसवइजोए ७ सच्चामोसवइजए ८ असच्चामोस-

वइजोए ९ ओरालियसरीरकायजोए १० ओरालियमीसाशरीरकायजोए ११
वेडव्वियसरीरकायजोए १२ वेडव्वियमीसासरीरकायजोए १३ आहारगसरीर-
कायजोए १४ आहारगमीसासरीरकायजोए १५ कम्मासरीरकायजोए ।

— भग० श २५ । उ १ । प्र ५

०५ पन्द्रह भेद

योगोपयोगौ जीवेषु ॥

भाष्य—जीवेष्वरूपिष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामावादिमन्तौ भवतः ।

स च पंचदशभेदः ।

—तत्त्व० अ ५ । सू ४४

कइबिहे णं भंते ! पओगे पन्नत्ते ? गोयमा ! पण्णरसबिहे पण्णत्ते । तं
जहा—सच्चमणप्पओगे १ मोसमणप्पओगे २ सच्चामोसमणप्पओगे ३ असच्चा-
मोसमणप्पओगे ४ एवं वइप्पओगेवि अउहा ८ ओरालियसरीरकायप्पओगे ९
ओरालियमीससरीरकायप्पओगे १० वेडव्वियसरीरकायप्पओगे ११ वेडव्विय-
मीससरीरकायप्पओगे १२ आहारसरीरकायप्पओगे १३ आहारगमीससरीरकायप्प-
ओगे १४ कम्मासरीरकायप्पओगे १५

—पण्ण० प १६ । सू १०६८ पृ० २६१

—सम० सम १५ सू ७

०६ एकान्तानुवृद्धियोग का स्वामित्व

टीका—उप्पण्णबिदियसमयप्पहुडि जाव सरीरपज्जत्तीए अपज्जत्तयद-
च्चरिमसमओ ताव एगंताणुवडिड जोगो होदि । णवरि लद्धिअपज्जत्ताणमाउ-
अबंघपाओग्गकाले सगजीविदत्तिभागे परिणामजोगो होदि । हेहा एगंताणुवडिड-
जोगो चेव ।

—षट्ठ० खण्ड ४ । २ । ४ सू १७३ । पु १० । पृष्ठ० ४२०

उत्पन्न होने के द्वितीय समय से लेकर शरीर पर्याप्ति से अपर्याप्ति अवस्था के अन्तिम
तक एकान्तानुवृद्धि योग होता है । विशेषता यह रहती है लब्धि-अपर्याप्ति के आयुबन्ध के
योग्य काल में अपने जीवन के तृतीय भाग में परिणाम योग होता है, उससे नीचे एकान्तानु-
वृद्धि योग ही होता है ।

०७ उपपादयोग का स्वामित्व

टीका—उववाद्जोगो णाम कत्थ होदि ? उप्पण्णपढमसमए चेव ।
केवडिओ तस्स काळो ? जहण्णुक्कस्सेण एगसमओ ।

—षट्ठ० खण्ड ४ । २ । ४ सू १७३ । पु १० । पृष्ठ० ४२०

उपपाद योग उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही होता है । उसका जघन्य और
उत्कृष्टकाल एक समय है ।

.०८ परिणामयोग का स्वामित्व

टीका—लद्धिअपज्जत्ताणमाउअबंघकाले चेव परिणामजोगो होदि त्ति के वि भणंति । तण्णघड्दे, परिणामजोगेद्विदस्स अपत्तुववाद्दजोगस्स एयंताणु-
वड्ढिजोगेण परिणामविरोहादो । एयंताणुवड्ढिजोगकालो जहण्णुक्कस्सेण
एगसमओ । पज्जत्तपढमसमयप्पहुडि उवरि सव्वत्थ परिणामजोगो चेव ।
णिव्वत्तिअपज्जत्ताणं णत्थि परिणामजोगो ।

—षट्० खण्ड ४ । २ । ४ सू १७३ । पु १० । पृष्ठ ४२० । १

कितने ही आचार्यों का मत है कि लब्धि-अपर्याप्त के आयु बन्धकाल में ही परिणाम योग होता है, परन्तु यह घटित नहीं होता है, क्योंकि जो जीव परिणाम योग में स्थित है वह उपवाद योग को प्राप्त नहीं हुआ है उसके एकान्तानुवृद्धि योगके साथ परिणमन करने में विरोध आता है । एकान्तानुवृद्धि योग का जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय मात्र है, अतः पर्याप्त के प्रथम समय से लेकर आगे सर्वत्र परिणाम योग ही रहता है । निवृत्ति-अपर्याप्त में परिणाम योग नहीं रहता है ।

.०९ वचनयोग के भेद

वच्चिजोगो चउव्विहो सच्चवच्चिजोगो मोसवच्चिजोगो सच्चमोसवच्चिजोगो
असच्चमोसवच्चिजोगो चेदि ।

—षट्० खं १ । १ । सू ५२ । पु १ । पृ० २८६

.०१० मनयोग के भेद

मणजोगो चउव्विहो, सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो
असच्चमोसमणजोगो चेदि ।

—षट्० खं० १ । १

.०११ सत्य (वचनयोग) के भेद

दसविहे सच्चे पणत्ते तंजहा—

संगहणी गाहा—

जणवय समय ठवणा, णामे रूवे पडुच्चसच्चेय ।

ववहार भाव जोगे, दसमे ओवम्मसच्चेय ॥

—ठाण० स्था १० । सू ८६

.०१२ मृषा (वचनयोग) के भेद

दस बिधे मोसे पणत्ते, तं जहा—

क्रोधे माणे माया, जोभे पेज्जे तहेव दोसेय ।

हास भए अक्खाइय, उवघात णिस्सिते दसमे ।

—ठाण० स्था १० । सू ६०

.०१३ सत्यमृषा (वचनयोग) के भेद

दसविधे सच्चा-मोसे पण्णत्ते, तं जहा—उप्पण्णमीसए, विगतमीसए, उप्पणविगतमीसए, जीवमीसए, अजीवमीसए, जीवाजीवमीसए, अणंतमीसए, परित्तमीसए अद्धामीसए, अद्धद्धामीसए ।
—ठाण० स्था १० । सू ६१

.०१४ काययोग के भेद

कायजोगो सत्तविहो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो वेडव्वियकायजोगो वेडव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो कामणकायजोगो खेदि ।

—पट० खं १ । १ । सू ५६ । पु १ । पृ० २८६

०८ योग पर विवेचन

.०१ गिण्हइ य काइएणं निसिरइ तह वाइएण जोएणं ।

एगंतंरं च गिण्हइ निसिरइ एगंतंरं चैव ॥

—विशेभा० गा ३५५

टीका—कायेन निवृत्तः कायिकः योजनं योगो व्यापारः, कर्म, क्रिया, इत्यनर्थान्तरम् । तत्र सर्व एव वक्ता कायिकेन योगेन शब्दद्रव्याणि गृह्णाति । चशब्दस्त्वेवकारार्थः, तस्य च व्यवहितसम्बन्धात् कायिकेनैवेति द्रष्टव्यम् । निसृजति, उत्सृजति, मुञ्चति, इति पर्यायाः । तथेति ग्रहणानन्तरमित्यर्थः । उक्तिर्वाक् तथा निवृत्तो वाचिकस्तेन योगेन निसृजति । किमनुसमयमेव गृह्णाति, निसृजति वा; उताऽन्यथा ? इत्याशङ्क्याह—एकान्तरमेव गृह्णाति, निसृजत्येकान्तरं चैव । अयमत्र भावार्थः—प्रतिसमयंगृह्णाति मुञ्चति च । कथम् ? यथा ग्रामादन्यो ग्रामान्तरं पुरुषाद् वाऽन्यः पुरुषो निरन्तरोऽपि सन् पुरुषान्तरम्, एवमेकैकस्मात् समयादेकैक एवैकान्तरोऽनन्तरसमय एवेत्यर्थः !

काय अर्थात् शरीर से निवृत्त—निष्पन्न कायिक कहलाता है । जोड़ना योग है । योग, व्यापार, कर्म तथा क्रिया—सभी एकार्थवाची हैं । सभी वक्ता कायिक योग से शब्दद्रव्यों (शब्दपदगल) को ग्रहण करते हैं । यहाँ पर गाथा में च शब्द एवकारार्थक है, अतः उसके व्यवधान युक्त सम्बन्ध रहने के कारण ऐसा अर्थ करना चाहिए—‘कायिक योग से ही शब्दद्रव्य ग्रहण किये जाते हैं । निसर्ग, उत्सर्ग तथा मोचन—पर्यायवाची हैं । अब ग्रहण के बाद उसका निसर्ग—त्याग होगा । वाच् से निवृत्त होनेवाला वाचिक कहलाता है । वाचिक योग के द्वारा शब्दद्रव्यों का मोचन अर्थात् त्याग होता है । क्या प्रति समय शब्द-

द्रव्यों का ग्रहण और त्याग होता रहता है अथवा भिन्न प्रकार से होता है ? एकान्तर ही ग्रहण होता है और एकान्तर ही त्याग होता है । भावार्थ यह है कि प्रतिसमय ग्रहण और मोचन होता रहता है । यह कैसे ? जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरा ग्राम अनन्तर रहने पर भी ग्रामान्तर कहा जाता है, एक पुरुष से दूसरा पुरुष, अन्तर न रहने पर भी अर्थात् समान रूप आदि के होने पर भी पुरुषान्तर कहा जाता है, इसी प्रकार एक-एक समय से भिन्न एक-एक समय ही एकान्तर अर्थात् अनन्तर है ।

.०२ गिण्हज्ज काइएणं किह निसिरइ वाइएण जोएणं ? ।

को वाऽयं वा जोगो किं वाया कायसंरंभो ? ॥

वाया न जीवजोगो पोग्गलपरिणामओ रसाइ व्व ।

न य ताए निसिरिज्जइ स च्चिय निसिरिज्जए जम्हा ॥

अह सो तनुसंरंभो निसिरइ तो काइएण वत्तव्वं ।

तणुजोगविसेस च्चिय मण-वइजोग त्ति जमदोसो ॥

—विशेभा० गा ३५६-५८

टीका—अत्र परः प्राह—ननु ‘गिण्हइ य काइएणं’ इति यदुक्तं तद् मम्यामहे, यत गृह्णीयात् कायिकेन योगेन वागद्रव्याणि भाषकः, नेदमयुक्तम् कायव्यापारमन्तरेण तद्ग्रहणाऽयोगात् । यत्पुनरुक्तम्—‘निसिरइ तह वाइएण जोएणं (गा ३५५) इति, तदेतद् नावगच्छामः, यतः कथं नाम निस्सृजति वाचिकेन योगेन ?’ गृह्यमाणाया वाचो जीवव्यापाररूपयोगाभावाद् नैतदुच्यते इत्यर्थः । इति संक्षेपेणोक्तवा विस्तराभिधित्सया प्राह—को वाऽयमित्यादि’ वेत्यथवा किमनेन संक्षेपेण ?, विस्तरेणाऽपि पृच्छामः—कोऽयं नाम वाग्योगः, येन निस्सृजतीत्युक्तम् ? ‘किंवाय त्ति’ वागेव निस्सृज्यमानभाषापुद्गलसमूहरूपो वाग्योगः, किंवा कायसंरंभः कायव्यापारस्तन्निसर्गहेतुर्वाग्योगः ? इति विकल्प-द्वयम् । तत्र प्रथमविकल्पपक्षं निराकुर्वन्नाह—‘वाया न जीवजोगो’ इत्यादि, योगोऽत्र स शरीरजीवव्यापारः प्रस्तुतः, स च वाग् न भवति, पुद्गलपरिणाम-त्वात् तस्याः, रस-गन्धादिषु; यस्तु जीवव्यापाररूपो योगः स पुद्गलपरिणामोऽपि न भवति, यथा जीवाधिष्ठितकायव्यापारः । अपि च, ‘न य ताए त्ति’ न च तथा वाचा किञ्चिद् निस्सृज्यते, तस्या एव निस्सृज्यमानत्वात्; न च कर्मैव करणं भवति । अतो वागेव वाग्योग इति प्रथमविकल्पो न घटते । अथ द्वितीयमधिकृत्याह—‘अहेत्यादि’ अथाऽसौवाग्योगस्तनुसंरंभः कायव्यापारः, ततः ‘कायिकेन निस्सृजति’ इत्येवमेव वक्तव्यं स्यात्, अतः किमुक्तम्—निसिरइ

तह बाइएणजोएण' (गा ३५५) इति ? अत्रोत्तरमाह—'तणु' इत्यादि ननु द्वितीयविकल्प एवाऽत्राऽङ्गीक्रियते, केवलमवशिष्टः काययोगो वाग्योगतया नाऽस्माभिरिष्यते, किन्तु तनुयोगविशेषावेव कायव्यापारविशेषावेव मनो-वाग्योगाविष्येते यद् यस्मात्; ततोऽयमदोषः। न हि कायिको योगः कस्यांश्चिदप्यवस्थायां शरीरिणां जन्तूनां निवर्तते, अशरीरिणां सिद्धानामेव तन्निवृत्तेरिति अतो वाग्निसर्गादिकाले सोऽस्त्येवेति भावः

पर पक्ष का कथन है—'कायिक योग से ग्रहण होता है'—यह जो कहा है उसे हम स्वीकार करते हैं, क्योंकि वक्ता कायिक योग से वाग्द्रव्यों को ग्रहण करता है, यह युक्तियुक्त भी है, क्योंकि काय-व्यापार के बिना वाग्द्रव्यों का ग्रहण नहीं हो सकता है। फिर यह जो कहा—'वाचिक योग से उसका निस्सरण होता है'—इसे हम समझ नहीं पाते हैं, क्योंकि वाचिक योग से निसर्ग कैसे होता है ? ग्रहण की जाती हुई वाणी में जीव के व्यापार रूप योग का अभाव है—यह घटित नहीं होता है। राह संक्षेप से कहकर अब विस्तार से पूछते हैं—यह वाग्योग क्या है ? जिससे भाषापुद्गल छोड़े जाते हैं वह ? वाणी ही छोड़े जाते हुए भाषापुद्गल के समूह रूप में वाग्योग है, अथवा निसर्ग का कारणभूत कायव्यापार वाग्योग है ? ये दो विकल्प हैं।

प्रथम विकल्प का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यह जो शरीर से युक्त जीव का व्यापार कहा गया है वह वाक् नहीं है, क्योंकि वह रस-गन्धादि की तरह पुद्गलपरिणामी है। जीव के व्यापार रूप जो योग है वह पुद्गलपरिणामी भी नहीं है, जिस प्रकार जीवाधिष्ठित कायव्यापार पुद्गलपरिणामी नहीं है। और क्या, वाग् से कुछ भिन्न वस्तु निकलता नहीं है, अपि तु वही निकलती है। कर्म ही करण नहीं होता है। अतः वाग् ही वाग्योग है यह प्रथम विकल्प नहीं घटता है।

अब दूसरे विकल्प पर विचार किया जाता है—क्या कायशरीर का व्यापार वाग्योग है—ऐसा ही कहेंगे ? इसके उत्तर में कहा गया है—द्वितीय विकल्प को ही यहाँ पर स्वीकार किया गया है। केवल अवशिष्ट काययोग को वाग्योग के रूप में हम स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु काय के व्यापार विशेष के रूप में मनोयोग और वाग्योग को स्वीकार करते हैं, अतः यह दोषरहित है। कायिक योग किसी भी अवस्था में शरीरधारियों के निवृत्त नहीं होता है, अपि तु अशरीरी सिद्धों के ही कायिक योग की निवृत्ति होती है, अतः वाग् के निसर्गकाल में भी कायिक योग रहता ही है।

.०३ किं पुण तणुसंरंभेण जेण मुंचइ स बाइओ जोगो ।

मण्णइ य स माणसिओ तणुजोगो खेव य विभत्तो ॥

—विशेमा० गा ३५६

टीका—'किं पुण' इति तथापि इत्यस्यार्थं । ततश्चेदमुक्तं भवति—यद्यपि

काययोगः सर्वत्राऽनुगतोऽस्ति, तथापि येन मनो वाग्द्रव्याणामुपादानं करोति स कायिको योगः येन तु संरंभेण तान्येव मुञ्चति स वाचिकः, येन तु मनो-द्रव्याणि चिन्तायां व्यापारयति स मानसिकः, इत्येवं तनुयोग एवैक उपाधि-भेदात् त्रिधा विभक्त इति ; एतावन्मात्रभेदेन त्रयोऽप्यमी योगा व्यवहियन्ते । परमार्थतस्तु एक एव कायिको योग इति । तथा च प्रमाणयन्ति—

इस गाथा से यह सूचित होता है—यद्यपि काययोग सब स्थान में अनुगमन करता है तथापि जिससे मन वाग्द्रव्यों को ग्रहण करता है वह कायिक योग है, जिस संरंभ से मन उन्हीं (वाग्द्रव्य) को छोड़ता है वह वाचिक योग है तथा जिस संरंभ से मनोद्रव्यों को चिन्ता में व्यापृत करता है वह मानसिक योग है । इस प्रकार एक ही काययोग उपाधि भेद (मन, वचन, काय) से तीन भागों में विभक्त होता है । परमार्थ रूप में एक ही काययोग सर्वत्र रहता है । अग्रिम गाथा से इसको प्रमाणित करते हैं ।

तणुजोगो च्चिय मण-वइजोगा काएण दव्वगहणाओ ।

आणापाण व्व, न चे, तओ वि जोगंतरं होज्जा ॥

—विशेषा० गा ३६०

टीका—तनुयोग एव मनो-वाग्योगौ—तदन्तर्गतावेवैताचित्यर्थः, इयं प्रतिज्ञा; कायेनैव तद्द्रव्यग्रहणादिति हेतुः, प्राणाऽपानवदिति दृष्टान्तः; यथा कायेन द्रव्यग्रहणात् प्राणाऽपानव्यापारः कायिकयोगाद् न भिद्यते एवं मनो-वाग्योगावपीति भावः । न चेदेवं—न चेत् त्वया प्राणाऽपानव्यापारस्तनु-योगतयाऽभ्युपगम्यते, तर्हि तकोऽपि सोऽपि प्राणाऽपानव्यापारो योगान्तरं स्यात्, ततो योगचतुष्टयप्रसङ्गः, अनिष्टं चैतत्, तस्मात् कायिकयोग एवाय-मिति । अत्र परः प्राह—

मनोयोग और वचनयोग, काययोग में अन्तर्भूत है—ऐसा मानते हैं, क्योंकि काय से ही उनके (मन और वचन) द्रव्यों का ग्रहण होता है इसमें प्राण-अपान का दृष्टान्त देते हैं, जिस प्रकार काय द्वारा द्रव्य ग्रहण होने के कारण प्राण-अपान को काययोग से भिन्न नहीं मानते हैं उसी प्रकार मनोयोग और वाग्योग को भी काययोग के अन्तर्गत स्वीकार करें । अन्यथा जब आप प्राण-अपान रूप व्यापार को काययोग के रूप में स्वीकार करते हैं तब उस प्राण-अपान रूप व्यापार को भी योगान्तर स्वीकार करें । ऐसा करने पर तो चार योग का प्रसंग उपस्थित हो जायगा जो अभीष्ट नहीं है, अतः यह काययोग ही है । यहाँ पर परपक्ष का कथन है—

तुल्ले तणुजोगत्ते कीस व जोगंतरं तओ न कओ ? ।

मण-वइजोगा व कया, भण्णइ ववहारसिद्धत्थं ॥

—विशेषा० गा ३६१

टीका—ननु त्वदुक्तयुक्तयैव सर्वेषां तुल्ये तनुयोगत्वे मनो-वाग्योगवत् किमिति तकोऽसौ प्राणाऽपानव्यापारः कायिकयोगात् योगान्तरं न कृतः, किमिति चतुर्थो योगो न कृतः ? इत्यर्थः । अथ नैवं क्रियते, तर्हि तुल्येऽपि तनुयोगत्वे मनो-वाग्योगौ काययोगात् किमिति पृथक् कृतौ ? । तस्मात् तनुयोगत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वादेक एव काययोगः क्रियताम् ; उपाधिभेदेन तु चत्वारो वा योगाः क्रियन्ताम् ; अन्यथा पक्षपातमेव स्यात्, न युक्तिः, इति भावः । अत्रोत्तरमाह—‘भण्णइ’ इत्यादि भण्यतेऽत्रोत्तरम् । किं तत् ? इत्याह—व्यवहारस्य लोक-लोकोत्तररूढस्य सिद्ध्यर्थं प्रसिद्धिनिमित्तं मनो-वाग्योगावेव पृथक् कृतौ, न प्राणाऽपानयोग इति । व्यवहारोऽपि किमितीत्यं प्रवृत्तः ? इत्याह—

तुम्हारे कथनानुसार मनोयोग और वाग्योग की तरह जब सर्वत्र काययोग समान रूप से रहता है तब क्या कारण रहा जो इस प्राणापान रूप व्यापार को काययोग से पृथक् योगान्तर नहीं स्वीकार किया गया ; क्यों न चतुर्थ योग स्वीकार किया गया ? यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो तुल्य रूप में ही काययोग से सम्बन्ध रहने के कारण मनोयोग और वचनयोग को काययोग से पृथक् क्यों किया गया ? इसलिए जब काययोग सर्वत्र तुल्य ही रहता है तो एक ही काययोग माना जाय, अथवा उपाधि भेद से चार योग माने जायें ! अन्यथा पक्षपात ही कहा जायगा, इसमें कोई युक्ति नहीं है । इसके उत्तर में कहा जाता है—लोक और लोकोत्तर में रूढ व्यवहार की सिद्धि के लिए अर्थात् प्रसिद्धि के रक्षार्थ मनयोग और वाग्योग को तो पृथक् माना गया, किन्तु प्राणापान रूप योग नहीं माना गया । व्यवहार ही ऐसा क्यों प्रवृत्त हुआ ? इसके सम्बन्ध में कहा जाता है—

.०३ कायकिरियाइरित्तं नाणा-पाणफलं जह वईए ।

दीसइ मणसो य फुडं तणुजोगब्भंतरं तो सो ॥

—विशेषा० गा ३६२

टीका—कायक्रिया कायव्यापारः, तदतिरिक्तं तदभ्यधिकं प्राणाऽपानफलं न किमपि दृश्यते, यथा वाचो मनसश्च स्फुटं तद् दृश्यते । इदमुक्तं भवति—यथा वाचः स्वाध्यायविधान-परप्रत्यायनादिकं, मनसश्च धर्मध्यानादिकं विशिष्टं स्फुटं कायक्रियातिरिक्तं फलमुपलभ्यते, नैवं प्राणापानयोः, इति तनु-योगाभ्यन्तरवर्त्येवाऽसौ प्राणाऽपानव्यापारो व्यवहियते, न पृथक् । न च वक्तव्यम्—‘जीवत्यसौ’ इति प्रतीतिजननादिकं प्राणाऽपानफलमप्युपलभ्यत एवेति ; एवंभूतस्य प्रयोजनमात्रस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात् धावन-चलनादि-

व्यापारस्याऽपि पृथग्योगत्वप्रसङ्गात् । तस्मात् विशिष्टव्यवहाराङ्गभूतपर-
प्रत्यायनादिकलत्वात् वाग्मनोयोगावेव पृथक् कृतौ, न प्राणाऽपानयोग इति ।

तदेवं तनुयोगो वाग्निसर्गविषये व्याप्रियमाणो वाग्योगः, मनने तु
व्याप्रियमाणो मनोयोगः ; वाग्विषयो योगो वाग्योगः, मनोविषयो योगो मनो-
योग इति कृत्वा । इत्येवं 'तनुयोगविशेषावेव वाग्-मनोयोगौ' इत्येतद् दर्शितम् ।
अथवा 'स्वतन्त्रावेतौ' इति दर्शयन्नाह—

काय-व्यापार के अतिरिक्त प्राणापान का कुछ भी फल देखा नहीं जाता है, जिस प्रकार वाग् और मन का स्फुट फल दिखाई देता है । इससे यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार स्वाध्यायविधान तथा पर-प्रत्यय (दूसरे को समझाना) आदि वाणीका और धर्म-ध्यानादि रूप मन का कायक्रिया से भिन्न स्फुट फल उपलब्ध होता है वैसा स्फुट फल प्राणापान का नहीं मिलता है, अतः प्राणापान के व्यापार को काययोग के अभ्यन्तर ही माना गया, पृथक् नहीं । यदि ऐसा कहें कि किसी मरणोन्मुख प्राणी के प्राणापान व्यापार को लक्ष्य कर 'यह जीवित है'—इस प्रकार प्राणापान का भी स्फुट फल प्राप्त होता है । इस प्रकार यदि देखा जाय तो सर्वत्र कुछ न कुछ प्रयोजन की विद्यमानता रहती है और उसके आधार पर धावन-वल्गनादि को भी पृथक् योग स्वीकार करना होगा । इसलिए विशिष्ट व्यवहार के अंगभूत पर प्रत्यय आदि फल प्राप्त होने के कारण वाग्योग और मनोयोग को पृथक् स्वीकार किया गया, किन्तु प्राणापान को नहीं स्वीकार किया गया ।

जिस योग का विषय वाक् हो वह वाग्योग है तथा जिस योग का विषय मन हो वह मनोयोग है, इस आधार पर काययोग जब वाक् के निसर्ग में व्यापृत रहता है तब वाग्योग है और जब मनन में व्यापृत रहता है तब मनोयोग है । इस प्रकार काययोग विशेष ही वाग्योग और मनोयोग है—यह दिखा दिया गया । अथवा ये दोनों योग स्वतन्त्र हैं—यह दिखाते हुए आगे कहा जाता है—

.०४ अहवा तणुजोगाहिअवइदव्वसमूह जीववावारो ।

सो वइजोगो भण्णइ वाया निसिरिज्जए तेणं ॥

तह तणुवावाराहिअमणदव्वसमूह जीववावारो ।

सो मणजोगो भण्णइ मण्णइ नेयं जओ तेणं ॥

—विशेभा० गा ३६३-६४

टीका—अथवा तनुयोगेन कायव्यापारेणाऽऽहतो (प्र०.....ऽऽहतो)
गृहीतो योऽसौ वाग्द्रव्यसमूहस्तेन सहकारिकारणभूतेन तन्निसर्गार्थं योऽसौ
जीवस्य व्यापारः स वाग्योगो भण्यते, वाचा सहकारिकारणभूतया जीवस्य
योगो वाग्योग इति कृत्वा । किं पुनस्तेन क्रियते ? इत्याह—सैव वाग् तेन

जीवव्यापारेण निसृज्यते परप्रत्यायनार्थमुच्यते इति । तथा, तनुव्यापारेणाऽऽहतो (प्र०.....ऽऽहतो) योऽसौ मनोद्रव्यसमूहस्तेन सहकारिकारणभूतेन वस्तु-चिन्तनाय योऽसौ जीवस्य व्यापारः स मनोयोगो भण्यते, मनसा सहकारि-कारणभूतेन जीवस्य योगो मनोयोग इति व्युत्पत्तेः । कुतः पुनरयं मनोयोगः ? इत्याह—यतस्तेन ह्येयं जिनमूर्त्यादिकं मन्यते चिन्त्यते, अतस्तस्य मनो-योगत्वमिति ।

तदेवमत्र पक्षे वाग्द्रव्यनिसर्गादिकाले तनोव्यापारः सन्नपि न विवक्षितः, किन्तु वाग्-मनोद्रव्यसंस्पर्शजीवस्य, इति स्वतन्त्रावेव वाग्-मनोयोगौ, न तु तनुयोगविशेषभूताविति भावः । आनाऽपानद्रव्यसांख्य्यात् तन्मोचने जन्तोस्त-द्योगोऽपि स्वतन्त्रः पृथक् प्राप्नोति, इति चेत् । न, 'भण्णइ वचहारसिद्धत्थं' (गा ३६१) इत्यादिना प्रतिविहितत्वात् ।

अथवा तनुयोग अर्थात् काय-व्यापार के द्वारा जो वाग्द्रव्यसमूह ग्रहण किया जाता है वह उसके निसर्ग में सहकारि कारणभूत है, अतः उसके निसर्ग के लिए जीव जो व्यापार करता है वह वाग्योग कहलाता है, क्योंकि सहकारि कारणभूत वाग् के द्वारा जो जीव का व्यापार होता है वह वाग्योग है—इस प्रकार वाग्योग की व्युत्पत्ति मानी जाती है । फिर इससे क्या किया जाता है, इसके उत्तर में कहा जाता है—वही वाग् जीव-व्यापार के द्वारा निसर्ग की जाती है और दूसरे को समझने के लिए कही जाती है । और; काय-व्यापार के द्वारा आहत जो मनो द्रव्य समूह है उसके सहयोग से वस्तु चिन्तन के लिए जो जीव का व्यापार होता है वह मनोयोग है, क्योंकि सहकारि कारणभूत मन के द्वारा जो जीव का व्यापार है वह मनोयोग है—ऐसी मनोयोग की व्युत्पत्ति की जाती है । फिर यह मनोयोग क्या करता है ? इसके उत्तर में कहा गया—उसके (मनोयोग) द्वारा ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य जिनमूर्ति आदि का मनन-चिन्तन होता है ।

इस प्रकार यहाँ पर वाक् के निसर्गादि काल में काय-व्यापार रहते हुए भी विवक्षित नहीं किया गया, किन्तु वाग्-मनोद्रव्य सहयुक्त जीव-व्यापार को विवक्षित किया, गया, अतः वाग्योग और मनयोग स्वतन्त्र ही हैं, अपितु काययोग विशेष नहीं हैं । प्राणापानद्रव्य के सहयोग से उसके (प्राणापान) मोचन में भी जीव का व्यापार स्वतन्त्र है, अतः उसको भी 'योग' माना जाय—ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके ऊपर गा ३६१ में विवेचन किया जा चुका है ।

.०५

जह गामाओ गामो गामंतरमेवमेग एगाओ ।

एगंतरं ति भण्णइ समयाओऽणंतरो समओ ॥

विशेभा० गा ३६५

टीका—यथैकस्मात् ग्रामादन्यो ग्रामोऽनन्तरितोऽपि लोककृत्वा ग्रामा-

न्तरमुच्यते, पुरुषाद् वाऽन्यः पुरुषोऽनन्तरोऽपि पुरुषान्तरमभिधीयते ; एवमि-
हापि एकस्मात् समयाद् योऽयमन्यः समयः सोऽयमनन्तरोऽपि सन्नेकान्तर-
मित्यभिधीयते । ततः किमुक्तं भवति ?, इत्याह—एकस्मात् समयादनन्तरः
समय एकान्तरमिति, एवं चानुसमय एव गृह्णाति, मुञ्चति चेति पर्यवसितं
भवति ।

जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरा ग्राम अनन्तर अर्थात् अभिन्न रहते हुए भी
ग्रामान्तर कहा जाता है और एक पुरुष से दूसरा पुरुष अनन्तर रहते हुए भी पुरुषान्तर
कहा जाता है उसी प्रकार एक समय से अन्य समय अनन्तर—एक समान आभासित होते
हुए भी 'एकान्तर' कहा जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि एक समय से अनन्तर समय
'एकान्तर' है; अतः अनुसमय अर्थात् निरन्तर योगद्रव्यों का ग्रहण और निसर्ग होता
रहता है ।

अन्ये तु 'एकान्तरम्' इत्येकैकेन समयेनाऽन्तरितं ग्रहणं, निसर्गं
चेच्छन्ति, इति दर्शयति—

.०५ केई एगंतरियं मण्णंते गंतरंति, तेसि च ।
विच्छिन्नावलीरूपो होइ ध्वणी, सुयविरोहो य ॥

—विशेभा० गा ३६६

टीका—इह केचिद् व्याख्यातारो मन्यन्ते—ग्रहणं, विसर्जनं चैकेन सम-
येनाऽन्तरितमेकान्तरमुच्यते । एतच्चाऽयुक्तम्, यतस्तेषामेवं व्याख्यातृणामन्त-
रान्तरविच्छिन्नरत्नावलीरूपो ध्वनिः प्राप्नोति, अन्तरान्तरग्रहणसमयेषु सर्वेष्व-
प्यश्रवणात् । तथा श्रुतविरोधश्च, यत उक्तं श्रुते—“अणुसमयमविरहिणं निरं-
तरं गिणइइ” इति ; तथाहि—इदं सूत्रं प्रतिसमयग्रहणप्रतिपादकत्वात् प्रतिसमय-
निसर्गप्रतिपादकमपि द्रष्टव्यम्, गृहीतस्य द्वितीयसमयेऽवश्यं निसर्गादिति ।

कुछ आचार्यों का कथन है—ग्रहण और निसर्ग एक समय का अन्तर लेकर होता
है तथा इस एक समय के अन्तर को 'एकान्तर' कहा जाता है । यह अयुक्त है, क्योंकि
उन्हीं व्याख्याकारों के अनुसार जिस प्रकार मणिमाला में प्रत्येक मणि अन्तरित रूप में
दिखाई देती है उसी प्रकार ध्वनि भी अन्तरित सुनाई देगी, क्योंकि इस प्रकार एक समय
का अन्तर लेकर गृहीत (वाग्द्रव्य) सभी समयों में श्रवण नहीं होगा । श्रुतविरोध भी
होता है, जैसा कि कहा गया है—“अनुसमय अर्थात् प्रत्येक समय अविरहित रूप से ग्रहण
होता है ।” यद्यपि यह सूत्र प्रतिसमय ग्रहण मात्र का प्रतिपादन करता है तथापि इसको
प्रतिसमय निसर्ग का भी प्रतिपादक मानना चाहिए, क्योंकि गृहीत द्रव्य का द्वितीय समय
में निसर्ग अवश्य होता है ।

.०६ आह, सुएच्चिय निसिरइ संतरियं न उ निरंतरं भणियं ।
एगेण जओ गिणहइ समयेगेणे सो मुयइ ॥

—विशेभा० गा ३६७

टीका—परः प्राह—यथा स्वपक्षसमर्थकं सूत्रं त्वया दर्शितं, तथा श्रुत एवाऽस्मत्पक्षसमर्थकमपि तद् भणितमेव । किं तत् ? इत्याह—‘निसिरइ’ इत्यादि इत्थं (प्र०.....इदं) प्रज्ञापनोक्तसूत्रं गायथा मुपनिबद्धं, तच्चेदम्—‘संतरं निसिरइ, नो निरंतरं निसिरइ ; एगेणं समयेणं गिणहइ, एगेणं समयेणं निसिरइ’ इत्यादि । तदनेन सूत्रेण निसर्गस्य सान्तरस्योक्तत्वात् मद्रव्याख्यान-मुपपन्नमेव । इति परस्याभिप्रायः ।

अत्रोत्तरमाह—

अणुसमयमणंतरियं ग्रहणं भणियं जओ विमुक्खो वि ।

जुत्तो निरंतरो च्चिय भणइ, कह संतरो भणिओ ? ॥

—विशेभा० गा ३६८

टीका—आचार्यः प्राह—हन्त ! तावद् ग्रहणमनुसमयमनन्तरितमव्यवहितं प्राक्तनसूत्रेण भणितं प्रतिपादितमिति भवतोऽपि प्रतीतम् । यत एवम्, अतो विमोक्षोऽपि निसर्गोऽपि निरन्तर एव युक्तः, गृहीतस्याऽवश्यमेवाऽनन्तर-समये निसर्गादिति । प्रेरकः पुनरपि भणति । किम् ? इत्याह—‘कह संतरो भणिउ त्ति’ इदमुक्तं भवति—अहमपि जानामि यतः सूत्रे ग्रहणं निरन्तरमुक्तं, परं यस्तत्रैव निसर्गः सान्तर उक्तः स कथं नीयते ? इति भवानपि निवेदयतु । सत्यम्, किन्तु विषयविभागोऽत्र द्रष्टव्यः ।

वादी का कथन है—जिस प्रकार अपने पक्ष के समर्थन में तुमने सूत्र दिखाया उसी प्रकार मेरे पक्ष के समर्थन में भी श्रुत में कहा गया है । जैसा कि प्रज्ञापना में कहा गया है—‘सान्तर निसर्ग होता है, निरन्तर निसर्ग नहीं होता है । एक समय से ग्रहण होता है तथा एक समय से निसर्ग होता है । इस सूत्र में निसर्ग को सान्तर कहा गया है, अतः मेरा (परपक्ष) कथन भी उपयुक्त ही है । वादी पक्ष का ऐसा अभिप्राय है । इसके उत्तर में आचार्य का कथन है—

पूर्व सूत्र में जो योगग्रहण का समय अनुसमय अर्थात् अव्यवहित—निरन्तर कहा गया है—यह वादी पक्ष को भी अभीष्ट है । जबकि ग्रहण निरन्तर होता है तो निसर्ग भी निरन्तर ही होना चाहिए, क्योंकि गृहीत द्रव्य का अनन्तर समय में अवश्य ही निसर्ग होता है । वादी पक्ष का पुनः कथन है—सूत्र में जो ग्रहण का समय निरन्तर कहा गया है—यह तो मैं भी समझता हूँ, परन्तु वहीं पर निसर्ग को जो सान्तर कहा गया है उसको कैसे

स्वीकार करते हैं यह आप भी बतायें। आचार्य को कथन है—यह तो ठीक है, किन्तु इसमें विषय-विभाग देखना चाहिए।

.०७ ग्रहणावेक्खाइ तओ निरन्तरं जम्मि जाइं गहियाइं ।

न वि तम्मि चेव निसिरइ जह पढमे निसिरणं नत्थि ॥

—विशेषा • गा ३६६

तकोऽसौ निसर्गो ग्रहणापेक्षया भाषाद्रव्योपादानापेक्षया पूर्वं ग्रहणमपेक्ष्येत्यर्थः, 'सान्तर उक्तः' इति शेषः, न तु समयापेक्षया ग्रहणवत्समयापेक्षया तस्य नैरन्तर्येणैव प्रवृत्तेः। कथं पुनर्ग्रहणापेक्षया सान्तरत्वम्? इत्याह— 'निरन्तरमित्यादि' यतो यस्मिन् प्रथमादिसमये यानि भाषाद्रव्याणि गृहीतानि, न तानि तस्मिन्नेव ग्रहणसमये नैरन्तर्येण निसृजति, किन्तु ग्रहणसमयादनन्तर-समये निसृजति, यथा प्रथमसमयगृहीतानां न तस्मिन्नेव समये निसर्जनं निसर्गः किन्तु द्वितीयसमये, एवं द्वितीयसमयगृहीतानां तृतीयसमये, तृतीयसमयगृहीतानां चतुर्थसमये निसर्ग इत्यादि सर्वसमयेष्वपि भावनीयम्। तदेवं ग्रहणापेक्षया निसर्गः सान्तर एव, अगृहीतानां निसर्गायोगात्। समयापेक्षया त्वसौ निरन्तर एव, द्वितीयादिषु सर्वेष्वपि समयेषु निरन्तर तद्भावादिति ॥ आह—यद्येवम्, ग्रहणमपि निसर्गापेक्षया सान्तरमेवाऽस्तु। नैवम्, ग्रहणस्य स्वतन्त्रत्वात्, निसर्गस्य तु ग्रहणपरतन्त्रत्वात्। कुतः? इत्याह—

यह निसर्ग भाषाद्रव्यों के पूर्व-पूर्व में ग्रहण की अपेक्षा से सान्तर कहा गया है, न कि ग्रहण की तरह उसकी (निसर्ग) निरन्तर प्रवृत्ति होती है। ग्रहण की अपेक्षा से सान्तरत्व कैसे होता है? इसके उत्तर में कहा जाता है—जिस प्रकार, जिस प्रथमादि समय में, जिन भाषाद्रव्यों का ग्रहण होता है उनका उसी (ग्रहण के) समय निरन्तर निसर्ग नहीं होता है, किन्तु ग्रहण समय से अनन्तर समय में निसर्ग होता है, यथा प्रथम समय में जिनका ग्रहण होता है उनका उसी समय में निसर्ग कहीं है किन्तु दूसरे समय में होता है, इसी प्रकार द्वितीय समय में गृहीत द्रव्यों का तीसरे समय में तथा तृतीय समय में गृहीत द्रव्यों का चतुर्थ समय में निसर्ग होता है—ऐसा ही सर्वत्र भावना करनी चाहिए। इसी प्रकार ग्रहण की अपेक्षा से निसर्ग को सान्तर कहा गया है, क्योंकि अगृहीत द्रव्यों का निसर्ग संभव नहीं है। समय की अपेक्षा से तो यह निरन्तर ही है जो द्वितीयादि सभी समयों में निरन्तर हो सकता है।

कहा है—यदि ऐसा है तो ग्रहण भी निसर्ग की अपेक्षा से सान्तर ही हो। ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि ग्रहण स्वतन्त्र है और निसर्ग ग्रहण परतन्त्र है। कैसे? इसके उत्तर में कहा गया है—

.०८

निसिरिज्जइ नागहियं गहणंतरियं ति संतरं तेणं ।

न निरंतरंति न समयं न जुगवमिह होति पज्जाया ॥

—विशेषा० गा ३७०

टीका—नागृहीतं कदापि निसृज्यत इति नियम एवाऽयम् । ‘संतरं तेणंति’ तेन कारणेन निसर्जनं प्रज्ञापनायां सान्तरमुक्तम् । कुतः ? इत्याह— ‘गहणंतरियं’ ति ग्रहणान्तरितमिति कृत्वा । ‘नाऽनिसृष्टं गृह्यते’ इत्ययं तु नियमो नास्ति, प्रथमसमये निसर्गमन्तरेणाऽपि ग्रहणसद्भावात् ; अतः स्वतन्त्रं ग्रहणं, परतन्त्रस्तु निसर्गः, इत्ययमेव सान्तर उक्त इति भावः । तदेवं ‘संतरं निसिरइ’ इति प्रज्ञापनायाः सूत्रावयवो विषयविभागे व्यवस्थापितः । अथ ‘नो निरंतरं निसिरइ’ इति तदवयवस्यैव भावार्थमाह—‘न निरंतरं ती’ त्यादि किमुक्तं भवति ?—न निरन्तरं निसृजति, न समकं, न युगपदिति पर्यायाः । ततश्च किमिह तात्पर्यमिति ? उच्यते—न ग्रहण समकालं निसृजति । किं तर्हि ? पूर्व-पूर्वं गृहीतमुत्तरोत्तरसमयेषु निसृजतीति । ननु ‘एगेणं समयेणं गिण्हइ, एगेणं समयेणं निसिरइ’ इत्येतस्य भावार्थो नाद्याप्युक्तः । सत्यम्, किन्तूक्तानुसारेण स्वयमप्यवगन्तव्यः—तत्राद्येनैकेन समयेन गृह्णात्येव, न निसृजति, द्वितीयादिसमयादारभ्यैव निसर्गस्य प्रवृत्तेः, पर्यन्तवर्तिना त्वेकेन समयेन निसृजत्येव, न तु गृह्णाति, एकेनोत्तरोत्तरसमयेन निसृजति, इत्यादि स्वधिया भावनीयम् । तदेवं समस्तमपि सूत्रव्यवस्थापितं विषये ।

‘अगृहीत (वाग्द्रव्य) का कभी निसर्ग नहीं होता है’ यह नियम ही है, इसी कारण से प्रज्ञापना में निसर्ग को सान्तर कहा गया है; क्योंकि ग्रहणान्तरित होकर अर्थात् ग्रहण के पश्चात् निसर्ग होता है । ‘अनिसृष्ट अर्थात् बिना छोड़े हुए (वाग्द्रव्य) का ग्रहण नहीं होता है’ ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि प्रथम समय में निसर्ग के बिना भी ग्रहण होता है । इसलिए ग्रहण स्वतन्त्र है और निसर्ग परतन्त्र है—सान्तर कहने का यही अभिप्राय है । इस प्रकार प्रज्ञापना सूत्र के अंश ‘संतरं निसिरइ’ को व्यवस्थापित किया गया है । अब उसी सूत्र का अंश ‘नो निरंतरं निसिरइ’—निरन्तर निसर्ग नहीं होता है—इसका भावार्थ कहते हैं । न निरन्तर निसर्ग होता है, न एक काल में होता है, न एक साथ होता है—ये सभी एकार्थवाची हैं । तो फिर इसका तात्पर्य क्या है ? कहा जाता है—ग्रहण के समकाल में निसर्ग नहीं होता है । तो क्या होता है ? पूर्व-पूर्व में गृहीत वाग्द्रव्य का उत्तरोत्तर समय में निसर्ग होता है ।

‘एक समय में ग्रहण होता है तथा एक समय में निसर्ग होता है’ इसका भावार्थ तो अभी तक नहीं कहा गया । यह तो ठीक है किन्तु जो कहा गया है उसके अनुसार स्वयं भी

जान लेना चाहिए, यथा-प्रथम एक समय से ग्रहण ही होता है, निसर्ग नहीं होता ; क्योंकि (प्रथम समय से ग्रहण के बाद) द्वितीयादि समय से निसर्ग की प्रवृत्ति होती है तथा अन्तिम एक समय से निसर्ग ही होता है, ग्रहण नहीं होता । ग्रहण के बाद उत्तरोत्तर एक समय से निसर्ग होता है—ऐसा अपनी बुद्धि से विचार कर लेना चाहिए ।

.०९ परिणामालम्बणग्रहणसाहणं तेण लद्धनामतिगं ।

कज्जभासन्नोत्तपवेसविसमीकयपवेसं

॥

—कम्म० क १।गा ४।पृ० १६

टीका—× × × तेन वीर्यविशेषेण योगसंज्ञकेनौदारिकादिशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा औदारिकादिरूपतया परिणमयति । तथा प्राणापानभाषामनोयोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा च प्राणापानादिरूपतया परिणमयति । परिणमय्य च तन्निसर्गहेतु सामर्थ्यविशेष-सिद्धये तानेव पुद्गलानवलम्बते । यथा मन्दशक्तिः कश्चिन्नगरं परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते (मवष्टम्बते) । ततस्तदवष्टम्भतो जात सामर्थ्यविशेषः सज्जतान् प्राणापानादि पुद्गलान् विसृजतीति परिणामालम्बनं ग्रहणसाधनं वीर्यं । तेन च वीर्येण योगसंज्ञकेन मनोवाक्यावष्टम्भतो जायमानेन । 'लद्धनामतिगं' ति लब्धं नामत्रिकं । तद्यथा—मनोयोगो वाग्योगः काययोग इति । तत्र मनसा करणभूतेन योगो मनोयोगः, वाचा योगो वाग्योगः, कायेन योगः काययोगः । स्यादेतत्, सर्वेषु जीवप्रदेशेषु तुल्यक्षायोपशमिक्यादिलब्धिभावेऽपि किमिति क्वचित्प्रभूतं क्वचित् स्तोकं क्वचित्स्तोकतरमित्येवं वैषम्येण वीर्यमुपलभ्यत इत्यत आह—कज्जेत्यादि, यदर्थं 'चेष्टते तत्कार्यं', तस्याभ्याशः, अभ्यशनमभ्याशः, अशूङ् व्याप्तावित्यस्याभिपूर्वस्य छज्जन्तस्य प्रयोगः, कार्याभ्याशः कार्यस्यासन्नता निकटीभवन्नित्यर्थः । तथा जीवप्रदेशानामन्योऽन्यं परस्परं प्रवेशः शृङ्खलावयवानामिव परस्परं सम्बन्धविशेषः । ताभ्यां कृत्वा विषमीकृताः (स्व) प्रभूताल्पाल्पतरसद्भावतो विसंस्थुलीकृताः प्रदेशा जीव-प्रदेशा येन जीववीर्येण तत्कार्याभ्याशान्योऽन्यप्रदेशविषमीकृतप्रदेशं । तथाहि—येषामात्मप्रदेशानां हस्तादिगतानामुत्पाद्यमानघटादिलक्षणकार्यनैकद्वयं, तेषां प्रभूततरा चेष्टा । दूरस्थानांमंसा (शा) दिगतानां स्वरूपा । दूरतरस्थानां तु पादादिगतानां स्वरूपतरा । अनुभवसिद्धं चैतत् । अपि च लोष्टादिनाऽभिघाते सति यद्यपि सर्वप्रदेशेषु युगपद्वेदनोपजायते, तथापि येषामात्मप्रदेशानामभिघातकलोष्टादिद्रव्यनैकद्वयं तेषां तीव्रतरा वेदना, 'शेषाणां तु मन्दा मन्दतरा ।

तथेहापि जीवप्रदेशेषु परिस्पन्दः कार्यमुपजायमानं कार्यद्रव्याभ्याशवशतः केषुचित्प्रभूतमन्येषु मन्दमपरेषु तु मन्दतमं भवति । एतच्चैवं जीवप्रदेशानां परस्परं सम्बन्धविशेषे सति भवति, नान्यथा, यथा शृङ्खलावयवानां । तथाहितेषां शृङ्खलावयवानां परस्परं सम्बन्धविशेषे सति एकस्मिन्नवयवे परिस्पन्दमानेऽपरेऽप्यवयवाः परिस्पन्दन्ते । केवलं केचित् स्तोकमपरे स्तोकतरमिति । सम्बन्धविशेषाभावे त्वेकस्मिन् चलति नापरस्यावश्यंभावि चलनं, यथा गोपुरुषयोः, तस्मात् कार्यद्रव्याभ्याशवशतो जीवप्रदेशानां परस्परं सम्बन्धविशेषतश्चवीर्यं जीवप्रदेशेषु केषुचित्प्रभूतमन्येषु स्तोकमपरेषु स्तोकतरमित्येवं वीर्येणोपजायमानं न विरुध्यत इति ।

इस योग नामक वीर्यविशेष के द्वारा औदारिकादि शरीर के प्रयोजन होने योग्य पुद्गलों को प्रथमतः ग्रहण करता है और उन पुद्गलों को ग्रहण कर औदारिकादि शरीर रूप से परिणमन करता है । फिर, प्राणापान, भाषा और मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर प्राणापानादि रूप से परिणमन करता है, और परिणमन कर उसके निसर्ग हेतु सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए उन्हीं पुद्गलों का अवलम्बन करता है । यथा—कोई मन्दशक्ति मनुष्य नगर में घूमने के लिए डंडे का सहारा लेता है उसी प्रकार उन पुद्गलों के अवलम्बन से सामर्थ्य-विशेष प्राप्त कर उन प्राणापानादि पुद्गलों का विसर्जन करता है—यह परिणमन और आलम्बन के ग्रहण का साधनभूत वीर्य है । यह मन, वचन और काय के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाला योग नाम का वीर्य तीन नाम धारण करता है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग । मन के द्वारा होनेवाला मनोयोग है, वचन के द्वारा होनेवाला वचनयोग है और काय के द्वारा होनेवाला काययोग है । यह तो ठीक है । किन्तु—

सारे जीवप्रदेशों में क्षायोपशमिक लब्धि भाव तो तुल्य रूप से होता है, परन्तु वीर्यलाभ कहीं अधिक, कहीं अल्प तथा कहीं अल्पतर होता है—ऐसा क्यों ? जिसके लिए चेष्टा होती है वह कार्य है उसका अभ्यास अर्थात् योग के द्वारा उसकी निकटता प्राप्त होती है । जीवप्रदेशों की रचना शृङ्खला की तरह एक दूसरे से सम्बद्ध है । जिस प्रकार विषम रूप से अर्थात् अधिक, अल्प और अल्पतर रूप से जिस जीववीर्य के द्वारा जीवप्रदेशों का भार शृङ्खला पर पड़ता है वह उस कार्य की निकटता के द्वारा परस्पर प्रवेश के कारण होता है, उसी प्रकार जिन हस्तादि आत्मप्रदेशों के द्वारा उठाये जाने वाले घटादि रूप कार्य की निकटता रहती है उनमें अधिक चेष्टा रहती है, उससे कुछ दूरस्थ प्रदेश कूल्हे आदि में अल्प चेष्टा होती है तथा दूरतर में स्थित पादादि प्रदेशों में अल्पतर चेष्टा होती है—इस प्रकार यह अनुभवसिद्ध है । और जिस प्रकार ढेले आदि से अभिघात करने पर यद्यपि सब प्रदेशों में एक साथ वेदना उत्पन्न होती है तथापि जिन आत्मप्रदेशों में अभिघातक लोष्टादि द्रव्य की निकटता होती है वहाँ तीव्रतर वेदना होती है, शेष आत्मप्रदेशों में मन्द और मन्दतर वेदना होती है, इसी प्रकार जीवप्रदेशों में परिस्पन्दन रूप उत्पन्न

होनेवाला वीर्य कार्यद्रव्य की निकटता से कुछ प्रदेशों में अधिक, कुछ प्रदेशों में मन्द तथा कुछ प्रदेशों में मन्दतर रूप से आभासित होता है। इस प्रकार का आभास जीवप्रदेशों के परस्पर सम्बन्ध-विशेष रहने पर होता है, जैसे शृंखलागत अवयवों का परस्पर सम्बन्ध रहता है। शृंखला के अवयवों का परस्पर सम्बन्ध बने रहने पर एक अवयव में परिस्पन्दन होने पर दूसरे अवयव भी परिस्पन्दित होने लगते हैं, इतना अवश्य होता है कि कहीं स्पन्दन अधिक होता है और कहीं कम। सम्बन्ध विशेष के अभाव में एक के चलमान होने पर दूसरे का भी चलमान होना आवश्यक नहीं है, यथा—गाय और पुरुष में। इसलिए कार्यद्रव्य की निकटता से तथा जीवप्रदेशों के सम्बन्ध विशेष से वीर्य (योग) कुछ जीव-प्रदेशों में अधिक, कुछ प्रदेशों में अल्प तथा कुछ प्रदेशों में अल्पतर रूप से उत्पन्न होता है—इसमें कोई विरोध नहीं है।

०१० लेश्या और कर्म—

कर्म और योग शाश्वतभाव है। कर्म और योग पहले भी है, पीछे भी है, अनानु-पूर्वी है। इनका कोई क्रम नहीं है। न कर्म पहले है और न योग पीछे; न योग पहले है, न कर्म पीछे। दोनों पहले भी है, पीछे भी है, दोनों शाश्वत भाव है, दोनों अनानुपूर्वी है। दोनों में आगे-पीछे का क्रम नहीं है (देखो .६४)। भावयोग जीवोदय निष्पन्न है (देखो .५२.५) ! द्रव्यलेश्या अजीवोदय निष्पन्न है (देखो .५१.१४)। यह जीवोदय-निष्पन्नता तथा अजीवोदय निष्पन्नता किस-किस कर्म के उदय से है—यह पाठ उपलब्ध नहीं हुआ है। तेरापथ के चतुर्थ आचार्य का कहना है कि अशुभयोग मोह कर्मोदय निष्पन्न है तथा शुभयोग नामकर्मोदय-निष्पन्न है। शुभयोग कर्मों की निर्जरा में सहायक होता है।

यन्यतेन तु योग परिणामो लेश्या तदभिप्रायेण योगत्रयजनक कर्मोदय प्रमवाः, येषां त्वष्टकर्मपरिणामो लेश्या स्तन्मतेन संसारित्वासिद्धत्ववद् अष्ट-प्रकार कर्मोदयजाइति !
—चतुर्थ कर्म० गा ६६/टीका

जिनके मत में लेश्या योग परिणाम रूप है उनके अनुसार जो कर्म तीन योगों के जनक है वह उन कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाली है।

कई आचार्यों का कथन है कि योग कर्म बंधन का कारण भी है, निर्जरा का भी। कौन योग कब बंधन का कारण तथा कब निर्जरा का कारण होता है—यह विवेचनीय प्रश्न है।

०११ सलेशी-सयोगी

जिहाँ सलेशी तिहाँ सयोगी, जोग कही तिहाँ लेस ।

जोग लेश्या में काँई फर्क छै—जाण रह्या जिन रेस ॥

—झीणीचर्चा ढाल ?

.०१२ योग आस्रव और लेश्या

भावलेश्या कृष्णादिक तीनूँ, छद्मस्य मांहि जीव ।

नवतत्त्व मांहि जीव अरु आस्रव, जोग आस्रव कहौष ॥ ४ ॥

—स्त्रीणीचर्चा ढाल १

मिथ्यात अवत प्रमाद कषाय, एच्चिवं लेश्या नांहि ।

जोग आस्रव पिण अशुभ जोगामें, अशुभलेश्या तीनों आय ॥ ५ ॥

.०१३ योग और प्रमाद आस्रव—

छटे गुणठाणे प्रमाद कह्यो छै, ते किणहीक वेल्यां आवतो जाणो ।

विषय कषाय अशुभ जोग आयां, तिण में मूढमती करै उलटटी ताण ॥ ३७ ॥

इहां पिण प्रमाद ते अशुभ जोग आश्री छै,

ते अशुभ जोग किणहीक वेल्वां आवै छै ।

किणहीक वेल्यां शुभयोग आवै छै,

अने प्रमाद आस्रव नीधीत घणी कही छै ॥

—स्त्रीणीचर्चा ढाल २२—आचार्य जय

.०१४ योग और लेश्या

तीनुं जोगां में किसो जोग है, सुणिये तेहनो न्याय ।

मन वचन कायारा जोगत्रिवं सलेशी कया जिणराय ॥ ६ ॥

उत्तराध्ययन अध्ययन चोतीश में, त्रिहूँ जोगां री अगुपत ।

किसन लेश्यानां लक्षण कहियै, श्रीजिन वयण सुसत्य ॥ ७ ॥

जिहां सलेशी तिहां सजोगी, जोग तिहां कहीलेश ।

जोगलेश्या में कांइ फरक छै, जाण रह्या जिरनश ॥ ८ ॥

—स्त्रीणीचर्चा ढाल १

.०१५ जोग और प्रमाद आस्रव निरंतरे, दसर्मा लग निरंतर कषाय ।

निरंतर पाप लागे तेहनें, तीनुं जोगा स्युँ जुदो कहाय ॥ ४५ ॥

—स्त्रीणीचर्चा ढाल २२

.०१६ योग और निर्जरा

भावलेश्या जीव आस्रव निर्जरा, तो किसा आस्रव रै मांही ।

जोग आस्रव में शुभ भावलेश्या छै निर्जरा कर्म कटै इणन्याय ॥ १० ॥

पुन्य बंधै तिनसुं आस्रव, शुभलेश्या कही स्वाम ।

शुभलेश्या सँ कर्म कटै छै, तिण सुं निर्जरा पदार्थ नाम ॥ ११ ॥

— श्रीणीचर्चा ढाल १

.०१७ अयोग संवर और भाव

चवदमां गुणठाणां पारिणामिक छै, अजोग संवरसुं कहियै रे ।

ते अजोग संवर च्यार भाव नहीं छै, तिणसुं पारिणामिक इकलहिये रे ॥ ४१ ॥

— श्रीणीचर्चा ढाल ७

.०१८ योग और आत्मा

धर्म अमोलख तीन आत्मा, जोग भला सुखदाय हो ।

चारित्र सावज जोग त्याग ते, दर्शन सम्यक्त पाय रे ॥ २ ॥

अधर्म भाव दोय उदै पारिणामिक, आत्मां दोय जणाय हो ।

दर्शन आत्मा उंधी सरधा, जोग अशुभ दुःखदाय हो ॥ ३ ॥

— श्रीणीचर्चा ढाल ८

.०१९ योग और धर्म-अधर्म

अशुभ जोगां ने अनुमारग कह्यो छै, ते पेठो अधर्म तो गिणाय हो ।

अशुभ जोगां नो प्रबल पणो तिण, अनुमारग कह्योताहि हो ॥ ५ ॥

शुभ जोगां ने मारग कह्यो छै, ते निर्जरा धर्म रे मांहि हो ।

अशुभ जोगां ने अनुमारग कह्यो छै, ते अधर्म अनुमारग जणाय हो ॥ ६ ॥

धर्म अधर्म दोनो सामान्य वाची, जोग अशुभ अव्रत अधर्म मांहि हो ।

शुभ जोग निर्जरा व्रत संवरण, धर्म में दोनुं गिणाय हो ॥ ७ ॥

धर्म ते व्रत संवर अधर्म अव्रत अशुभ जोग अनुमारण असार हो ।

शुभजोग निर्जरां ने, मारग कहिये, ए विशेष वाची पदच्यार हो ॥ ८ ॥

— श्रीणीचर्चा ढाल ८

.०२० योग आत्मा एक नहीं है—अनेक है ।

किसी आतमां एक कही जै, कुण अनेक दिल देखो जी ।

द्रव्य आतमां एक कहीजै, सात कही अनेको जी ॥ ३ ॥

— श्रीणीचर्चा ढाल ६

.०२१ योग आत्मा और सावय-निर्वय—

सावय निर्वय किसी आत्मां, तिसुणो तेहनो न्यायोजी ।

द्रव्य आतमां नहीं सावय निर्वय, कषाय सावय मांह्योजी ॥ ४ ॥

जोग दर्शण ए सावद्य निर्वद्य, उपयोग ज्ञान अवध्यारो जी ।

चारित्र वीर्य एच्यारुंइ, निर्वद्य कही विचारो जी ॥ ५ ॥

— स्त्रीणीचर्चा ढाल ६

.०२२ योग और भाव-आत्मा

शुभ जोग किसोभाव किसी आत्मा, च्यार भाव चित्त चाहि हो ।

उपशम वरजीनें च्यार भाव छै, आत्मा जोग सुहाय हो ॥ १२ ॥

अशुभ जोग किसोभाष किसी आत्मा, दोयभाव दुःखदाय हो ।

उदैभाव पारिणामिक कहियै, आत्मा जोग कहिवाय हो ॥ १६ ॥

— स्त्रीणीचर्चा ढाल ८

.०२३ योग आत्मा-द्रव्य जीव नहीं है—भावजीव है ।

भावजीव किसो भाव किसी आत्मा, पाँच भाव कहिवाय हो ।

आत्मा द्रव्य विनां सातूई, बुद्धिवंत जाणै न्याय हो ॥ ३१ ॥

— स्त्रीणीचर्चा ढाल ८

.०२४ योग आत्मा और कर्मबंधन का टूटना

कर्म कटै छै किण आत्मा सुं, जोग आत्मा सुं जाणी जी ।

सात आत्मा सुं कर्म कटै नहीं, अधिक न्याय दिज आणीजी ॥

— स्त्रीणीचर्चा ढाल ६

.०२५ योग और करनी

करणी लेखै आज्ञा मांही, किसी आतमां वरणी जी ।

जोग दर्शणनें चारित्र कहियै, अवरन आंणा करणीजी ॥ १ ॥

करणी लेखै निर्वद्य कुण छै, चारित्र एकंत जोयो जी ।

जोग दर्शण सावज निर्वद्य, अवरन कहियै कोयो जी ॥ २ ॥

— स्त्रीणीचर्चा ढाल ६

.०२६ अशुभ योग और मुनि

अशुभ जोग आवै छै साधू तणेजी, उत्कृष्ट छमासी दोष ।

तो पिण अत्यागभाव आध्री नहीं जी, वर्णपालणपरिणाम निरदोष ॥ ४१ ॥

— स्त्रीणीचर्चा

.०२७ योग आत्मा और सर्वउत्तर गुण—

योग आत्मा और देश उत्तर गुण—

सर्व उत्तर गुण जोग आतमां, मुनि करै दश पचखाणोजी ॥ १२ ॥

देश उत्तर गुण जोग आतमां, श्रावक नी सुविसेखोजी ॥ १३ ॥

सर्व उत्तर गुण देश उत्तर गुण, जोग आतमां किण न्यायोजी ।

शुभ जोगां सुं कर्म कटै छै, तिणनें निर्जरा कही जिनरायोजी ॥ १४ ॥

—झीणीचर्चा ढाल ६

.०२८ योग आत्मा और निर्जरा—

तिण निर्जरा रा बारै भेद कहा छै, सूत्र उचाई मांयोजी ।

प्रथम भेद अणसण जिन भाखयो, खउत्थ भक्त तिण मांयोजी ॥ १५ ॥

काल उणोदरी उत्तराध्ययने, अध्ययन तीसमां मांहोजी ।

पुरमट्ठपोरसियादिक तांमें, निपुण विचारै न्यायोजी ॥ १६ ॥

रस परित्याग निर्जरा, मांही, आंविज नबी आयोजी ।

कर्मकाटणरी एसहुकरणी, जोग आतमां सुखदायो जी ॥ १७ ॥

—झीणीचर्चा ढाल ६

.०२९ योग आत्मा और कर्म—

करमांरी करता छै केती, दर्शन जोग कषायोजी ।

यां तीनां सुं कर्म बंधै छै, अवरं सुं नहीं बंधायोजी ॥ १८ ॥

पुण्य री कर्त्ता कवण आत्मा, जोग आत्मा शुभ ताहो जी ।

पाप री करता कवण आत्मा, दर्शन जोग कषायो जी ॥ १९ ॥

—झीणीचर्चा ढाल ६

.०३० योग और प्रमाद आस्रव

मन बचन काया रा व्यापार स्युं जी, तीजो आस्रव जुदो जणाय ।

जोग आस्रव छै पांचमोजी, प्रमाद तीजो ताहि ॥ २९ ॥

असंख्याता जीवरा प्रदेसमें जी, क्षण उछाहपणो अधिकाय ।

तेदीसे तीनूं जोगास्यूं जुदो जी, प्रमाद आस्रव ताय ॥ ३० ॥

ते कर्म उदय होय मिट गया जी, जबर आवै शुभ जोग ।

तिण वेल्हा गुणठाणो सातमों जी, अंतर मुहूरत प्रयोग ॥ ३१ ॥

छठे प्रमाद आस्रव थकांजी लेश्या जोग शुभ आय ।

अधिक शुभ जोग आया थकांजी, अप्रमादी सातमें ताय ॥ ३२ ॥

मद विषय कषाय उदिरनेंजी, भावनिंदनें चिकथा ताहि ।

ए पाँखूं जोग रूप प्रमाद छै जी, तिण स्वूं जोग आस्रव में जणाय ॥ ३३ ॥

अधिक प्रमाद आश्री कह्योजी, आहारीक शरीर निपजाय ।
 भगवती शतक सोलमें जी, पहिला उदेसा माय ॥ ३४ ॥
 ए लबद फोड़े ते अशुभ जोग छै जी, त्यांरो नाम कह्यो प्रमाद ।
 ए पांच जोग आस्रव मझेजी, पिणतीजै आस्रव नहीं लाध ॥ ३५ ॥
 तिम मद विषयादिक जबरनेंजी, कह्या पाँच प्रमाद ।
 ते पिण दीसे आस्रव पंचमेंजी, अशुभ जोग असमाय ॥ ३६ ॥
 —क्रीणीचर्चा ढाल २२

०३१ योग आत्मा और भाव—

जोग आत्मां चिहूँ भावे वरतें, उपशम वरजी नामो जी ॥ २४ ॥
 उदै भाव छै किसी आत्मा, दर्शण जोग कषायोजी ॥ २५ ॥
 —क्रीणीचर्चा ढाल ६

उदयभाव तेतीश बोलां में शुभजोग लेश्या आई रे ।
 तेहिज क्षयोपशमभाव माँहि आवै छै, तिणसुं बिहूँ भेला
 उलखाया तिणवार रे ॥ २६ ॥
 —झीणीचर्चा ढाल ६

०३२ योग आत्मा—(अशुभ योग निन्दनीय भी है ।

निन्दनीक छै किती आतमां, दर्शण जोग कषायो जी ॥ ३६ ॥
 —क्रीणीचर्चा ढाल ६

०३३ योग आत्मा और सप्रदेशी-अप्रदेशी—

सप्रदेशी अप्रदेशी कुण है, आठुई सप्रदेशीजी ।
 जीवतणाप्रदेश सहित छै, तिणनें सप्रदेशी कहबीस जी ॥ ३७ ॥
 —झीणीचर्चा ढाल ६

०३४ योग आत्मा और उपयोग

जोग उपयोग दर्शण बीर्य में, वारै उपयोग पावैजी ॥ ४३ ॥
 —झीणीचर्चा ढाल ६

०३५ योग आतमां और कार्यरूप व्यापार

किसी आत्मा बोलै खालै, जोग आतमां जाणी जी ।
 सात आत्मा नहीं बोलै खालै, पेखयो न्याय पिछाणी जी ॥ ४४ ॥

असणादिक खावै ते कुण है, कुण सिनान चित्त भावैजी ।
 रांमत खेल करै कुण आतमा, जोग आतमां पावैजी ॥ ४५ ॥
 सिणगार करै ते किसी आतमां, कुण खेती करसन करती जी ।
 बिणज करै ते किसी आतमां, जोग तणी प्रवरती जी ॥ ४६ ॥
 हिंसा करै झूठ कुण बोलै, अदक्ष मैथुन सेवैजी ।
 परिग्रही पाप अठारै सेवै, जोग आत्मा सेवैजी ॥ ४७ ॥

—भीणीचर्चा० ढाल ६

.०३६ योग आत्मा और नियमा-भजना

जोग आत्म ज्यां किती आत्मनी, नियमां भजनां धारीजी ।
 कषाय ज्ञान चारित्रनी भजनां, नियमां अपर विचारी जी ॥ ५७ ॥

—भीणीचर्चा ढाल ६

.०३७ योग आत्मा और आहार

गृहस्थ आहार करै ते अशुभ जोग छै, ए मोहउदेयी पाप बंधाय रे ।
 साधु आहार करै ते शुभ जोगे करी रे, ए पुन्य बंध नाम उदय थी
 थाय रे ॥ १० ॥

—भीणीचर्चा ढाल १६

.०३८ योग और स्नातक-निग्रन्थ—

निग्रन्थ इग्यारमें बारमें, स्नातक केवल दोय रे ।
 संजोगीनें अजोगी कहा रे, भाई-२ धूर प्रथम त्रिहूछै जोय ॥ ८ ॥

—भीणीचर्चा ढाल २१

.०३९ योग और गुणस्थान

छठे गुण ठाणे जीन कहा रे, जोग सुचवदे होय रे ॥ १२ ॥

—भीणीचर्चा ढाल २१

.०४० योग और आस्त्रव—

उदेरी क्रोध करै तसुजी, अशुभ जोग कहिवाय ।
 निरंतर बिगड़्या प्रदेसनें जी कहिये आस्त्रव कषाय ॥ १३ ॥
 नचमे अष्टम गुणठाणै छै जी, शुभलेश्या शुभजोग ।
 पिण क्रोधादिक स्यूं बिगड़्या प्रदेसनें जी, कषाय आस्त्रव प्रयोग ॥ १४ ॥

लाल लोह तप्त अगनी थकी जी, काढ्यो संडासा स्यूं बार ।

थोड़ी बेव्या स्यूं लाल पणों मिल्योजी, तपत पणो रह्यो ॥ १५ ॥

तिम लाल पणों अशुभ जोगनों, नहीं सातमा आगे ताहि ।

ते पिण क्रोधादिक ना उदय थकी जी, तपत रूप ज्यूं आस्रव कषाय ॥ १६ ॥

—झीणीचर्चा ढाल २१

.०४१ मिथ्यादृष्टि में कितने योग—

“संपहि मिच्छादृष्टीणं ओधालावे भण्णमाणे अत्थि × × × । आहार—
दुग्गेण विणा तेरह जोग ।

—षट्० खं० १, १/टीका/पृ० २/पृ० ४१५

अर्थात् ओघतः मिथ्यादृष्टि के आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग को बाद देकर तेरह योग होते हैं ।

.०९ योग का नय और निक्षेप की अपेक्षा विवेचन

.०९.१ नय की अपेक्षा योग का विवेचन

(क) नणु मण-वइ-काओगा सुभासुभा वि समयम्मि दीसंति ।

दव्वम्मि मीसभावो भवेज्ज न उ भावकरणम्मि ॥

—विशेभा० गा १६३६

टीका—× × × । अयमभिप्रायः—द्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभा-
शुभरूपोऽपीष्यते, निश्चयनयेन तु सोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति,
यथोक्तचिन्ता-देशनादिप्रवर्तकद्रव्ययोगाणामपि शुभाशुभरूपमिध्राणां तन्मतेना-
भावात् ; मनो-वाक्-कायद्रव्य-योगनिबन्धनाध्यवसायरूपे तु भावकरणे भाव-
योगे शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति, निश्चयनयदर्शनस्यैवागमेऽत्र विवक्षित-
त्वात् । न हि शुभान्यशुभानि वाऽध्यवसायस्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसाय-
स्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिदपीष्यते, येनाध्यवसायरूपे भावयोगे
शुभाशुभत्वं स्यादिति भावः । × × ×

(ख) अत्र तृतीयचतुर्थौ मनोयोगौ वाग्योगौ च परिस्थूरव्यवहारनयमतेन
द्रष्टव्यौ । निश्चयनयमतेन तु मनोज्ञानं वचनं वा सर्वमदुष्टविवक्षापूर्वकं सत्यम्,
अज्ञानादिदूषिताशयपूर्वकं त्वसत्यम्, उभयानुभयरूपं तु नास्त्येव सत्यासत्यरा-
शिद्वयेऽन्तर्भावादिति भावनीयम् ।

—कर्म० भा ४ । गा २४ टीका

(क) व्यवहार नय की अपेक्षा से द्रव्ययोग तो शुभाशुभ—मिश्र रूप भी हो सकता है, निश्चय नय की अपेक्षा से तो वह (द्रव्ययोग) भी केवल शुभ या केवल अशुभ रूप ही है। उनके मत में भी यथोक्त चिन्ता तथा देशनादि के प्रवर्तक द्रव्ययोगों का शुभाशुभ मिश्र रूप नहीं माना गया है। मन, वचन और काय के द्रव्ययोग के साधनभूत अध्यवसाय रूप भावकरण या भावयोग में शुभाशुभ रूप मिश्र भाव नहीं है, क्योंकि वहाँ पर आगम में निश्चय नय से ही विवक्षा की गई है। आगम में कहीं भी शुभ और अशुभ इन दो अध्यवसायों के अतिरिक्त शुभाशुभ रूप तीसरा मिश्र-अध्यवसाय नहीं देखा जाता है जिसके द्वारा अध्यवसाय रूप भावयोग को शुभाशुभ माना जाय।

(ख) मनोयोग और वचनयोग के तृतीय-चतुर्थ भेदों को, अर्थात् सत्यासत्य और असत्यामृषा रूप को स्थूल व्यवहार नय की अपेक्षा से समझना चाहिए, निश्चय नय की अपेक्षा से तो सारे मनोज्ञान और वचन, जिनकी विवक्षा निर्दोषतापूर्वक की जाती है वे सत्य हैं तथा जिनकी विवक्षा अज्ञानादि से दूषित होती है वे असत्य हैं। उभयरूप अर्थात् सत्यासत्य रूप और अनुभय रूप अर्थात् असत्यामृषा रूप तो है ही नहीं, क्योंकि सत्य रूप का सत्य में और मृषा—असत्य रूप का असत्य में अन्तर्भाव हो जाता है।

.०९.१ वचनयोग और मनोयोग पर नय की अपेक्षा विवेचन

अत्र तृतीयचतुर्थो मनोयोगौ चाग्योगौ च परिस्थूरव्यवहारनयमतेन द्रष्टव्यौ। निश्चयनयमतेन तु मनोज्ञानं वचनं वा सर्वमदुष्टविवक्षापूर्वकं सत्यम्, अज्ञानादिदूषिताशयपूर्वकं त्वसत्यम्, उभयानुभयरूपं तु नास्त्येव सत्यासत्यराशिद्वयेऽन्तर्भावादिति भावनीयम्।

—कर्म० भा ४।गा २४।टीका।पृ० १५१

तीसरा और चौथा मनोयोग तथा वचनयोग स्थूल व्यवहार नय की अपेक्षा से जानना चाहिए। निश्चयनय की अपेक्षा से मनोज्ञान या वचन, जिसमें विवक्षा दोषरहित हो तो सब सत्य हैं तथा यदि विवक्षा दोषपूर्वक है तो असत्य है। उभयरूप अर्थात् सत्यासत्य रूप तथा अनुभय रूप अर्थात् असत्यामृषा रूप तो है ही नहीं, क्योंकि सत्य का सत्य में और असत्य का असत्य में अन्तर्भाव हो जाता है।

.०९.२ योग का निक्षेप की अपेक्षा विवेचन

.१ पृथजोगो चउव्विहो—णामजोगो ठवणजोगो दव्वजोगो भावजोगो चेदि। णाम-ठवणजोगा सुगमा त्ति ण तेसिमत्थो वुच्चदे। दव्वजोगो दुविहो आगमदव्वजोगो णोआगमदव्वजोगो चेदि। तत्थ आगमदव्वजोगो णाम जोग-पाहुडजाणओ अणुवजुत्तो। णोआगमदव्वजोगो ति विहो जाणुगसरीर-भविय-तव्वतिरिक्तदव्वजोगो चेदि। जाणुगसरीरभवियदव्वजोगा सुगमा। तव्वदिरिक्त-दव्वजोगो अणोयविहो। तंजहा, सूर-णक्खत्तजोगो चंद-णक्खत्तजोगो गह-

णक्खत्तजोगो कोणंगारजोगो चुण्णजोगो मंतजोगो इच्चेवमादओ । तत्थ भाव-
जोगो दुविहोआगम-भावजोगो णोआगमभावजोगो चेदि । तत्थ आगमभावजोगो
जोगपाहुडजाणओ उवजुत्तो । णोआगमभावजोगो तिविहो गुणजोगो संभवजोगो
जुंजणजोगो चेदि । तत्थ गुणजोगो दुविहो सच्चित्तगुणजोगो अच्चित्तगुणजोगो
चेदि । तत्थ अच्चित्तगुणजोगो जहा रूव-रस-गंध-फासादीहि पोग्गलदव्वजोगो,
आगासादीणमप्पणो गुणेहि सह जोगो वा । तत्थ सच्चित्तगुणजोगो पंचविहो-
ओदइओ ओवसमिओ खाइयो खओवसमिओ परिणामिओ चेदि । तत्थ गदि-
लिंग-कसायादीहि जीवस्स जोगो ओदइयगुणजोगो । ओवसमियसम्मत्त-
संजमेहि जीवस्स जोगो ओवसमियगुणजोगो । केवलणाण-दंसण-जहाक्खाद-
संजमादीहि जीवस्स जोगो खइयगुणजोगो णाम । ओहि-मणपज्जवादिही
जीवस्स जोगो खओवसमियगुणजोगो णाम । जीव भवियत्तादीहि जोगो
परिणामियगुणजोगो णाम । इंदो मेरुं चालइदुं समत्थो त्ति एसो संभवजोगो
णाम । जो सो जुंजणजोगो सो तिविहो—उववादजोगो एगंताणुवडिढजोगो
परिणामजोगो चेदि । एदेसु जोगेसु जुंजणजोगेण अहियारो, सेसजोगेहितो
कम्मपदेसाणमागमणाभावादो ।

—षट्० खं० ४।२, ४।सु १७५।टीकापु १०।पृ० ४३२-३४

योग चार प्रकार का होता है—नामयोग, स्थापनायोग, द्रव्ययोग और भावयोग ।
नामयोग और स्थापनायोग सुगम हैं, अतः इसका अर्थ नहीं किया गया है ।
द्रव्ययोग दो प्रकार का होता है—आगम द्रव्ययोग और नोआगम द्रव्ययोग ।
इनमें योगप्राभृत का ज्ञाता उपयोगरहित जीव आगम द्रव्ययोग कहलाता है ।
नोआगमद्रव्ययोग तीन प्रकार का होता है—ज्ञायकशरीर भावी और तदव्यतिरिक्त ।
ज्ञायकशरीर और भावी नोआगमद्रव्ययोग सुगम हैं ।
तदव्यतिरिक्त नोआगमद्रव्ययोग अनेक प्रकार का होता है, यथा—सूर्य-नक्षत्रयोग,
चन्द्र-नक्षत्रयोग, ग्रह-नक्षत्रयोग, कोण-अंगारयोग, चूर्णयोग, मंत्रयोग आदि ।
भावयोग दो प्रकार का होता है—आगमभावयोग तथा नोआगमभावयोग ।
आगमभावयोग योगप्राभृत के ज्ञाता उपयोगयुक्त जीव को कहा जाता है ।
नोआगमभावयोग तीन प्रकार का होता है—गुणयोग, संभवयोग तथा योजनायोग ।
गुणयोग दो प्रकार का होता है—सच्चित्तगुणयोग तथा अच्चित्तगुणयोग ।
इनमें अच्चित्तगुणयोग—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों से पुद्गल द्रव्य का योग
होना; अथवा आकाशादि द्रव्यों का अपने-अपने गुणों के साथ योग होने को कहते हैं ।
सच्चित्तगुणयोग पाँच प्रकार का होता है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक
क्षायोपशमिक और पारिणामिक ।

उनमें गति, लिंग, कषाय आदि से जो जीव का योग होता है उसको औदायिक सच्चित्तगुणयोग कहते हैं ।

औपशमिक सम्यक्त्व तथा संयम के साथ जीव के योग को औपशमिक सच्चित्तगुणयोग कहा जाता है ।

केवलज्ञान, केवलदर्शन तथा यथाख्यात संयम आदि से होनेवाले जीव के योग को क्षायिक सच्चित्तगुणयोग कहते हैं ।

अवधि, मन्त्रःपर्यय आदिज्ञानों के साथ होनेवाले जीव के योग को क्षायोपशमिक सच्चित्तगुणयोग कहा जाता है ।

जीवत्व, भव्यत्व आदि के साथ जीव का होनेवाला योग पारिणामिक सच्चित्तगुणयोग कहलाता है ।

इन्द्र मेरु पर्वत को चलाने में समर्थ है—इस प्रकार की शक्ति के योग को संभवयोग कहा जाता है ।

योजना (मन, वचन तथा काय का व्यापार) योग तीन प्रकार का है—उपपाद-योग, एकान्तानुवृद्धियोग तथा परिणामयोग ।

इन उपर्युक्त योगों में यहाँ योजनायोग का अधिकार है, क्योंकि शेष योगों के द्वारा कर्मप्रदेशों का आगमन संभव नहीं है ।

.०९.०२ द्रव्ययोग-भावयोग

पत्थजोगो चउव्विहो—णामजोगो ठवणजोगो दव्वजोगो भावजोगो चेदि । णाम-ठवणजोगा सुगमा त्ति ण तेसिमत्थो वुच्चदे । दव्वजोगो दुविहो आगमदव्वजोगो णोआगमदव्वजोगो चेदि । तत्थ आगमदव्वजोगो णाम जोगपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो । णोआगमदव्वजोगो तिचिहो जाणुगसरीर-भविय-तव्वदिरित्तदव्वजोगो चेदि । जाणुगसरीर-भवियदव्वजोगा सुगमा । तव्वदिरित्तदव्वजोगो अणेयविहो । तंजहा—सूर-णक्खत्तजोगो चंद-णक्खत्तजोगो गह-णक्खत्तजोगो कोणंगारजोगो चुण्णजोगो मंतजोगो इच्चेवमादओ ।

तत्थ भावजोगो दुविहो आगमभावजोगो णोआगमभावजोगो चेदि । तत्थ आगमभावजोगो जोगपाहुडजाणओ उधजुत्तो । णोआगम-भावजोगो तिचिहो गुणजोगो संभवजोगो, जुंजणजोगो चेदि । तत्थ गुणजोगो दुविहो सच्चित्तगुणजोगो अच्चित्तगुणजोगो चेदि । तत्थ अच्चित्तगुणजोगो जहा—रूध-रस-गंध-फासादीहि पोग्गलदव्वजोगो, आगासादीणमप्पणो गुणेहि सहजोगो वा । तत्थ सच्चित्तगुणजोगो पंचविहो—ओदइओ ओवसमिओ खइओ खओव-समिओ पारिणामिओ चेदि । तत्थ गदि-लिंग-कसायादीहि जीवरस जोगो ओदइयगुणजोगो । ओवसमियसम्मत्तसंजमेहि जीवरस जोगो ओवसमियगुण-

जोगो । केवलणाण-दंसण-जहावखादसंजमादीहि जीवस्स जोगो खइयगुणजोगो णाम । ओहि मणपज्जावादीहि जीवस्स जोगो खओवसमियगुणजोगो णाम । जीवस्स भवियत्तादीहि जोगो पारिणामिय गुणजोगो णाम । इंदो मेरुं चालइदुं समत्थो त्ति एसो संभवजोगो णाम । जो सो जुंजणजोगो सो तिबिहो उववाद्-जोगो एयंताणुवड्ढिजोगो परिणामजोगो चेदि । एदेसुजोगेसु जुंजणजोगेण अहियारो, सेसजोगेहिंतो कम्मपदेसाणमागमणाभावादो ।

—षट्, खं ४, २, ४ । सू १७५ । टीका । पु १० । पृ० ४३२-३४

योग के चार भेद हैं—नामयोग, स्थापनायोग, द्रव्ययोग और भावयोग । नाम और स्थापना योग सुगम हैं, अतः उनका अर्थ नहीं किया गया है । द्रव्ययोग दो प्रकार का है—आगम द्रव्ययोग और नोआगम द्रव्ययोग । आगम द्रव्ययोग योगप्राप्त के ज्ञाता उपयोग-रहित जीव को कहते हैं । नोआगम द्रव्ययोग तीन प्रकार का होता है—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त । ज्ञायक शरीर और भावी नोआगम द्रव्ययोग सुगम हैं । तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्ययोग अनेक प्रकार का है, यथा—सूर्य-नक्षत्रयोग, चन्द्र-नक्षत्रयोग, ग्रह-नक्षत्रयोग, कोण-अंगारयोग, चूर्णयोग तथा मन्त्रयोग आदि ।

भावयोग के दो भेद हैं—आगम भावयोग और नोआगम भावयोग । आगम भावयोग योगप्राप्त के ज्ञाता उपयोगयुक्त जीव को कहते हैं । नोआगम भावयोग तीन प्रकार का होता है—गुणयोग, संभवयोग और योजनायोग । गुणयोग के दो भेद हैं—सच्चित्त गुणयोग और अच्चित्त गुणयोग । अच्चित्त गुणयोग रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि के साथ पुद्गल द्रव्य के योग को अथवा आकाश आदि द्रव्यों का अपने-अपने गुणों के साथ योग को कहते हैं । सच्चित्त गुणयोग पाँच प्रकार का है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक । गति, लिंग और कषाय आदि के साथ जीव के योग को औदयिक सच्चित्त गुणयोग कहा जाता है । औपशमिक सम्यक्त्व और संयम से जीव के योग को औपशमिक सच्चित्त गुणयोग कहते हैं । केवलज्ञान, केवलदर्शन यथा यथाख्यात संयम आदि के साथ होनेवाले जीव के योग को क्षायिक सच्चित्त गुणयोग कहा जाता है । अवधि तथा मनःपर्यय आदि के साथ होनेवाले जीव के योग को क्षायोपशमिक सच्चित्त गुणयोग कहते हैं । जीवत्व, भव्यत्व आदि के साथ होनेवाले जीव के योग को पारिणामिक सच्चित्त गुणयोग कहा जाता है । इन्द्र मेरु पर्वत को संचालित करने में समर्थ है, इस प्रकार की शक्ति विशेष के साथ योग को संभवयोग कहा जाता है । योजना (मन, वचन और काय का व्यापार) योग तीन प्रकार का होता है—उपपादयोग, एकान्तानुवृद्धियोग और परिणामयोग । इन योगों में से यहाँ योजनायोग का अधिकार है, क्योंकि अन्य योगों के द्वारा कर्मप्रदेशों का ग्रहण नहीं होता है ।

.०९.०३ मनोयोग का मूलकारण

मणवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुण्णदेहउदओ दु ।

मोसुभयाणं मूलणिमित्तं खलु होदि आवरणं ॥

— गोजी० गा २२६

(सत्य) और (अनुभय) मनोयोग का मूलकारण (पर्याप्ति) और शरीर नामकर्म का उदय है । मृषा और उभय मनोयोग का मूलकारण जीव का आवरण कर्म है ।

.०९.४ वचनयोग का मूल कारण

मणवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुण्णदेहउदओ दु ।

मोसुभयाणं मूलणिमित्तं होदि आवरणं ॥

— गोजी० गा २२६

(सत्य) और (अनुभय) वचनयोग का मूलकारण (पर्याप्ति) और शरीर नामकर्म का उदय है । मृषा और उभय वचनयोग का मूल कारण जीव का आवरण कर्म है ।

.०९.५ वैक्रियकाययोग की संभावना

बादरतेऊवाऊपंचिदियपुण्णगा विगुव्वन्ति ।

ओरालियं सरीरं विगुव्वणप्पं हवे जेसि ॥

— गोजी० गा २३२

बादर तेजस्कायिक, वायुकायिक तथा संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय भी विक्रिया करते हैं, इसलिए इनका भी औदारिक शरीर वैक्रिय होता है ।

सयोगिकेवली के मनोयोग की सम्भावना

मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगाम्हि ।

उत्तो मणोवयरेणिदियणाणेण हीणम्हि ॥

अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणिदच्चंदम्हि ।

मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो ॥

— गोजी० गा २२७-२८

मन से युक्त जीवों में वचन प्रयोग मनःपूर्वक ही देखा जाता है, अतः इन्द्रियज्ञान से रहित सयोगिकेवली के भी उपचारवश मन कहा गया है । अंगोपांग नामकर्म के उदय से भगवान् जिनेन्द्र के हृदय स्थान में विकसित अष्टदल (कमल) के आकार का द्रव्यमन होता है । इस द्रव्यमन के कारणभूत मनोवर्गणा के स्कन्धों का सयोगिकेवली में आगमन होता है, अतः उपचार से मनोयोग का अस्तित्व माना गया है ।

.०९.६ योगस्थान

णाम-दृवण-दव्व-भावभेदेण द्वाणं अदुविहं । णाम-दृवणद्वाणाणि सुगमाणि
 त्ति तेसिमत्थो ण वुच्चदे । दव्वद्वाणं दुविहं आगम-णोआगमदव्वद्वाणभेदेण ।
 तत्थ आगमदो दव्वद्वाणं द्वाणपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो । णोआगमदव्वद्वाणं
 तिविहं जाणुगसरीर-भविय-तव्वदिरित्तद्वाणभेएण । तत्थ जाणुगसरीर-भविय-
 द्वाणाणि सुगमाणि । तव्वदिरित्तदव्वद्वाणं तिविहं—सच्चित्त-अच्चित्त-मिस्सणो-
 आगमदव्वद्वाणं चेदि । जं तं सच्चित्तणोआगमदव्वद्वाणं तं दुविहं बाहिरमभंतरं
 चेदि । जं तं बाहिरं तं दुविहं धुवमदधुवं चेदि । जं तं धुवं तं सिद्धाणमोगा-
 हणद्वाणं । कुदो ? तेसिमोगाहणाए वड्ढि-हाणीणमभावेण थिरसरूवेण
 अवद्वाणादो । जं तमदधुवं सच्चित्तद्वाणं तं संसारत्थाण जीवाणमोगाहणा ।
 कुदो ? तत्थ वड्ढि-हाणीणमुवलंभादो । जं तमभंतरं सच्चित्तद्वाणं तं दुविहं
 संकोच्च-विकोच्चणप्पयं तव्विहीणं चेदि । जं तं संकोच्च-विकोच्चणप्पयमभंतर-
 सच्चित्तद्वाणं तं सव्वे सजोगजीवाणं जीवदव्वं । जं तं तव्विहीणमभंतरं
 सच्चित्तद्वाणं तं केवलजाण-दंसणहराणं अमोक्खट्ठिदिवंधपरिण्याणं सिद्धाणं
 अजोगिकेवलीणं वा जीवदव्वं । कथं जीवदव्वस्स जीवदव्वमभिण्णद्वाणं होदि ?
 ण, सदो वदिरित्तदव्वानमण्णदव्वद्वाणहेदुत्ताभावादो सगतिकोडिपरिणामभेदणा-
 भेदणत्तणेण सव्वदव्वानमवद्वाणुवलंभादो । जं तमच्चित्तदव्वद्वाणं तं दुविहं रूवि-
 यच्चित्तदव्वद्वाणमरूवि-यच्चित्तदव्वद्वाणं चेदि । जं तं रूविअच्चित्तदव्वद्वाणं तं
 दुविहं अभंतरं बाहिरं चेदि । जं तमभंतरं [तं] दुविहं जहवुत्ति-अजह-
 बुत्तियं चेदि । जं तं जहवुत्तिअभंतरंद्वाणं तं किण्ह-णील-रुहिर-हालिह-
 सुक्खिल-सुरहि-दुरहिगंध-तित्त कडुय कसायंबिल-महुर-ण्हिद्ध-ल्लुक्ख-
 सीदुसुणादिभेदेण अणेयविहं । जं तम वुत्तिरूविअच्चित्तद्वाणं तं पोग्गलमुत्ति-
 वण्ण-गंध-रस-फास-अणुवजोगत्तादि-भेदेण अणेयविहं । जं तं बाहिररूविअ-
 च्चित्तदव्वद्वाणं तमेगागासपदेसादिभेदेण असंखेज्जवियप्पं ।

जं तमरूवि-यच्चित्तदव्वद्वाणं तं दुविहं अभंतरं बाहिरं चेदि जं तमभं-
 तरमरूवि-अच्चित्तदव्वद्वाणं तं धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-आगासत्थिय कालदव्वान-
 मप्पणो सरूवावद्वाण-हेदुपरिणामा । जं तं बाहिरमरूविअच्चित्त-दव्वद्वाणं तं
 धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-कालदव्वेहि ओट्टद्वागासपदेसा । आगासत्थियस्स णत्थि
 बाहिरद्वाणं, आगासावगाहिणो अण्णस्स दव्वस्स अभावादो । जं तं मिस्सदव्व-
 द्वाणं तं लोगागासो ।

भावट्टाणं दुविहं आगम-णोआगमभावट्टाणभेदेण । तत्थ आगम-भावट्टाणं णाम ट्ठाणपाहुडजाणओ उवजुत्तो । णो आगमभावट्टाणमोदइयादिभेदेण पंच-विहं । एत्थ ओदइयभावट्टाणेण अहियारो, अघादिकम्माणमुदएण तप्पाओग्गेण जोगुप्पत्तीदो । जोगो खओवसमिओ त्ति के वि भणंति । तं कथं घडदे ? वीरियंत राइयक्खओवसमेण कत्थ वि जोगस्स वड्ढिमुवलक्खिय खओवसमियत्तादुप्पा-यणादो घडदे ।

जोगस्स ट्ठाणं जोगट्ठाणं, जोगट्ठाणस्स परूवणदा जोगट्ठाणपरू-वणदा, तीए जोगट्ठाणपरूवणदाए दस अणिओगद्वाराणि णादव्वाणि भवन्ति । किमत्थमेत्थ जोगट्ठाणपरूवणा कीरदे ? पुव्विल्लम्मि अप्पाबहुगमि सव्वजीव-समासाणं जहण्णुक्कस्सजोगट्ठाणाणं थोवबहुत्तं सेव जाणाविदं । केत्तिएहि अविभागपडिच्छेदेहि फहएहि वग्गणाहिवा जहण्णुक्कस्सजोगट्ठाणाणि होति त्ति ण वुत्तं । जोगट्ठाणाणं छव्वेव अंतराणि अप्पाबहुगमि परूविदाणि । तदो तेसिमण्णत्थ णिरंतरं वड्ढी होदि त्ति णव्वदे । साच्च वड्ढी सव्वत्थ किम-वट्ठिदा किमणवट्ठिदा किंवा वड्ढीए पमाणमिदि एदं पि तत्थ ण परूविदं । तदो एदेसि अपरूविदअत्थाणं परूवणट्ठं जोगट्ठाणपरूवणा कीरदे ।

—षट्, ० खं ४, २, ४ । सू १७५ । टीका । १० । पृ० ४३४-३६

योगस्थान नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार का है । इनमें नाम और स्थापना सुगम हैं, अतः इनका अर्थ नहीं कहा गया है । द्रव्यस्थान दो प्रकार का है—आगमद्रव्यस्थान और नोआगम द्रव्यस्थान । स्थानप्राभृत के जानकार उपयोग रहित जीव को आगम द्रव्यस्थान कहते हैं । नोआगम द्रव्यस्थान ज्ञायक शरीर, भावी और तद्रव्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार का है । उनमें ज्ञायकशरीर और भावी स्थान सुगम हैं । तद्रव्यतिरिक्त द्रव्यस्थान तीन प्रकार का है—सच्चित्त, अचित्त और मिश्र नोआगम द्रव्यस्थान । सच्चित्त नोआगम द्रव्यस्थान दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर । बाह्य द्रव्यस्थान दो प्रकार का है—ध्रुव और अध्रुव । ध्रुव बाह्य सच्चित्त नोआगम द्रव्यस्थान सिद्धों के अवगाहना-स्थान को कहते हैं, क्योंकि वृद्धि और हानि का अभाव रहने के कारण उनकी अवगाहना स्थिर रहती है । अध्रुव सच्चित्त स्थान संसारी जीवों की अवगाहना को कहते हैं, क्योंकि उनमें वृद्धि और हानि पाई जाती है । आभ्यन्तर सच्चित्तस्थान दो प्रकार का है—संकोच-विकोचात्मक और तद्विहीन । संकोचविकोचात्मक आभ्यन्तर सच्चित्तस्थान योगयुक्त सभी जीवों के जीवद्रव्य को कहते हैं । तद्विहीन आभ्यन्तर सच्चित्तस्थान केवलज्ञान और केवल-दर्शन के धारक तथा मोक्ष और स्थितिवन्ध से अपरिणत सिद्धों और अयोगिकेत्रलियों के जीवद्रव्य को कहते हैं । यहाँ पर जीवद्रव्य जीवद्रव्य का अभिन्न स्थान होने का कारण यह है कि स्व से भिन्न द्रव्यों के अन्य द्रव्यस्थान का हेतु न होने से अपने त्रिकोटि (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) स्वरूप परिणाम के कथंचित् भेदाभेद रूप से सब द्रव्यों का अवस्थान पाया जाता है ।

अचित्त द्रव्यस्थान दो प्रकार का है—रूपी अचित्तद्रव्यस्थान और अरूपी अचित्त-द्रव्यस्थान । रूपी अचित्तद्रव्यस्थान दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य । आभ्यन्तर रूपी अचित्त द्रव्यस्थान दो प्रकार का है—जहद्वृत्तिक और अजहद्वृत्तिक । जहद्वृत्तिक आभ्यन्तर रूपी अचित्तद्रव्यस्थान कृष्ण, नील, रुधिर, हारिद्र, शुक्ल, सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध, तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल, मधुर, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और ऊष्ण आदि भेद से अनेक प्रकार का है । अजहद्वृत्तिक आभ्यन्तर रूपी अचित्त द्रव्यस्थान पुद्गल के मूर्तत्व, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और उपयोगहीनता आदि भेद से अनेक प्रकार का है । बाह्य रूपी अचित्तद्रव्यस्थान के एक आकाशप्रदेश आदि असंख्यात भेद हैं ।

अरूपी अचित्त द्रव्यस्थान दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य । आभ्यन्तर अरूपी अचित्त द्रव्यस्थान धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा काल द्रव्यों के अपने स्वरूप में अवस्थान के हेतुभूत परिणामस्वरूप है । बाह्य अरूपी अचित्त द्रव्यस्थान धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल द्रव्य से व्याप्त आकाशप्रदेश स्वरूप है । आकाशास्तिकाय का बाह्य स्थान नहीं है, क्योंकि आकाश को स्थान देनेवाले दूसरे द्रव्य का अभाव है । मिश्र द्रव्यस्थान लोकाकाश रूप है ।

भावस्थान आगम और नोआगम भेद से दो प्रकार का है । आगम भावस्थान स्थानप्राभूत के ज्ञाता उपयोग युक्त जीव को कहते हैं । नोआगम भावस्थान औदयिक आदि भेद से चार प्रकार का है । यहाँ पर औदयिक भावस्थान का अधिकार है, क्योंकि योग की उत्पत्ति तत्प्रायोग्य अघाती कर्मों के उदय से होती है । कुछ आचार्य योग को क्षायोपशमिक भी मानते हैं, उसका कारण यह है कि कहीं पर वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से योग की वृद्धि को पाकर उसको क्षायोपशमिक प्रतिपादन किया गया है ।

योग का स्थान—योगस्थान । योगस्थान की प्ररूपणा—योगस्थानप्ररूपणा । योग स्थानप्ररूपणा के दस अनुयोगद्वार हैं । यहाँ योगप्ररूपणा करने का कारण यह है कि पूर्वोक्त अल्पबहुत्व प्रकरण में सब जीव समासों के जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानों का ही अल्प-बहुत्व बतलाया गया है, किन्तु कितने अविभागप्रतिच्छेदों, स्पर्शकों अथवा वर्गणाओं के द्वारा जघन्य और उत्कृष्ट स्थान होते हैं, यह नहीं कहा गया है । योगस्थानों के छः ही अन्तर अल्पबहुत्व में कहे गये हैं, जिससे जाना जाता है कि अन्य स्थानों में उनकी निरन्तर वृद्धि होती है । किन्तु वह वृद्धि सब स्थानों में अवस्थित है या अनवस्थित तथा वृद्धि का प्रमाण नहीं कहा गया है, अतः इन अप्रकाशित अर्थों के प्रकाशनार्थ योगस्थान की प्ररूपणा की जाती है ।

७.९.७ द्रव्ययोग और स्थान

णाम-द्ववण-द्वव-भावभेदेण द्वाणं खउव्विहं । णाम-द्ववणद्वाणाणि सुगमाणि त्ति तेसिमत्थो ण वुच्चदे । द्ववद्वाणं दुविहं आगम-णोआगमभेदेणं । तत्थ आगमदो द्ववद्वाणं द्वाणपाहुडजाणओ अणुबजुत्तो । णोआगमद्ववद्वाणं तिविहं जाणुगसरीर-

भविष्य-तत्त्वदिरिच्छाणभेषण । तत्थ जाणुगसरीर-भविष्य-ट्टाणाणि सुगमाणि । तत्त्वदिरिच्छद्वट्ठाणं तिचिहं-सच्चित्त-अच्चित्त-मिस्सणोआगमद्वट्ठाणं चेदि । जं तं सच्चित्तणोआगमद्वट्ठाणं तं दुविहं बाहिरमब्भंतरं चेदि । जं तं बाहिरं तं दुविहं ध्रुवमद्ध्युवं चेदि । जं तं ध्रुवं तं सिद्धाणमोगाहणट्ठाणं । कुदो ? तेसि-मोगाहणाए वड्ढिह-हाणीणमभावेण थिरसरूवेण अवट्ठाणादो । जं तमद्ध्युवं सच्चित्तट्ठाणं तं संसारत्थाण जीवाणमोगाहणा । कुदो ? तत्थ वड्ढिह-हाणीण-मुवलंभादो । जं तमब्भंतरं सच्चित्तट्ठाणं तं दुविहं संकोच्च-विकोच्चप्पयं तद्विहीणं चेदि । जं तं संकोच्च-विकोच्चप्पयमब्भंतरसच्चित्तट्ठाणं तं सव्वेसि सजोगिजीवाणं जीवद्वं । जं तं तद्विहीणमब्भंतरं सच्चित्तट्ठाणं तं केवलणाण-दंसणहराणं अमोक्खट्ठिदिवंधपरिण्याणं सिद्धाणं अजोगिकेवलीणं वा जीवद्वं । कथं जीवद्वस्स जीवद्वमभिन्नट्ठाणं होदि ? ण, सदो वदिरिच्छद्ववाणमण्णद्व-ट्ठाणहेदुत्ताभावादो सगतिकोडिपरिणामभेदणाभेदणत्तणेण सव्वद्ववाणमवट्ठाणु-वलंभादो । जं तमच्चित्तद्वट्ठाणं तं दुविहं रूवि-यच्चित्तद्वट्ठाणमरूवि-यच्चित्त-द्वट्ठाणं चेदि । जं तं रूविअच्चित्तद्वट्ठाणं तं दुविहं अब्भंतरं बाहिरं चेदि । जं तमब्भंतरं [तं] दुविहं जहवुत्तियं-अजहवुत्तियं चेदि । जं तं जहवुत्तिअ-ब्भंतरट्ठाणं तं किण्ह-णील-रुहिर-हालिह-सुक्किज-सुरहि-दुरहिगंध-तित्त-कडुय-कसायंबिल-महुर-ण्हिद्ध-ल्लुक्ख-सीदुसणादिभेदेण अणेयविहं । जं तमजहवुत्ति-रूवि-अच्चित्तद्वट्ठाणं तं पोगगलमुत्ति-वण्ण-गंध-रस-फास-अणुवजोगत्तादि-भेदेण अणेयविहं । जं तं बाहिररूविअच्चित्तद्वट्ठाणं तमेगागासपदेसादिभेदेण असंखेज्जवियप्पं ।

जं तमरूवि-यच्चित्तद्वट्ठाणं तं दुविहं अब्भंतरं बाहिरं चेदि । जं तमब्भ-तरमरूवि-अच्चित्तद्वट्ठाणं तं धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-आगासत्थिय-कालद्ववा-मप्पणो सरूवावट्ठाणहेदुपरिणामा । जं तं बाहिरमरूवि-अच्चित्तद्वट्ठाणं तं धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-कालद्ववेहि ओट्टद्वागासपदेसा । आगासत्थियस्स णत्थि बाहिरट्ठाणं, आगासावगाहिणो अण्णस्स द्वस्स अभावादो । जं तं मिस्सद्वट्ठाणं तं लोगागासो ।

— षट्ठं खं ४।२, ४।सू १७५।टीका।पु १०।पृ० ४३४-३६

स्थान चार प्रकार का होता है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । इनमें नाम और स्थापना स्थान सुगम है, अतः इनका नहीं कहा जाता है । द्रव्यस्थान दो प्रकार का होता है—आगम द्रव्यस्थान और नोआगम द्रव्यस्थान । इनमें आगम द्रव्यस्थान स्थान-प्राभृत

के ज्ञाता उपयोग रहित जीव को कहा जाता है। नोआगम द्रव्यस्थान तीन प्रकार का होता है—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। इनमें ज्ञायक शरीर और भावी स्थान सुगम हैं।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यस्थान तीन प्रकार का है—सच्चित्त द्रव्यस्थान, अचित्त द्रव्यस्थान तथा मिश्र द्रव्यस्थान।

सच्चित्तनोआगम द्रव्यस्थान दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। इनमें बाह्य दो प्रकार का है—ध्रुव और अध्रुव। ध्रुव सच्चित्तनोआगम द्रव्यस्थान सिद्धों के अवगाहना स्थान को कहा जाता है, क्योंकि वृद्धि और हानि का अभाव होने से उनकी अवगाहना स्थिर रूप से अवस्थित रहती है। अध्रुव सच्चित्त द्रव्यस्थान संसारी जीवों की अवगाहना को कहते हैं, क्योंकि उसमें वृद्धि और हानि पाई जाती है।

आभ्यन्तर, सच्चित्त द्रव्यस्थान दो प्रकार का होता है—संकोच-विकोचात्मक और तद्विहीन। संकोच-विकोचात्मक सच्चित्त द्रव्यस्थान सभी योगयुक्त जीवों के जीव द्रव्य को कहा जाता है। तद्विहीन सच्चित्त द्रव्यस्थान केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक मोक्ष तथा स्थितिवन्ध से अपरिणत सिद्धों और अयोगिकेवलियों के जीवद्रव्य को कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है—जीवद्रव्य का जीवद्रव्य अभिन्न स्थान किस प्रकार होता है? इसके निराकरण में कहा गया है—स्व से भिन्न द्रव्यों में अन्य द्रव्यस्थान के हेतुत्व का अभाव होने से अपनी त्रिकोटि (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) रूप परिणमन से कथंचित् भेदाभेद रूप से सभी द्रव्यों का अवस्थान प्राप्त होता है।

अचित्त द्रव्यस्थान दो प्रकार का होता है—रूपी अचित्त द्रव्यस्थान और अरूपी अचित्त द्रव्यस्थान। इनमें रूपी अचित्त द्रव्यस्थान दो प्रकार का होता है—जहद्वृत्तिक और अजहद्वृत्तिक। जहद्वृत्तिक आभ्यन्तर रूपी अचित्त द्रव्यस्थान कृष्ण, नील, रुधिर, हारिद्र तथा शुक्ल वर्ण; सुरभि और दुरभि गन्ध; तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर रस तथा स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्णादि स्पर्श के भेद से अनेक प्रकार का है। अजहद्वृत्तिक आभ्यन्तर रूपी अचित्त द्रव्यस्थान पुद्गल के मूर्तित्व, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श तथा उपयोगहीनता आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है।

बाह्य रूपी अचित्त द्रव्यस्थान के एक आकाशप्रदेश आदि भेद से असंख्यात भेद होते हैं।

अरूपी अचित्त द्रव्यस्थान दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर अरूपी अचित्त द्रव्यस्थान धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा काल द्रव्यों के अपने स्वरूप में अवस्थान के हेतुभूत परिणामस्वरूप को कहते हैं। बाह्य अरूपी अचित्त द्रव्यस्थान धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा काल द्रव्य से अवष्टब्ध (व्याप्त) अनेक आकाशप्रदेशों को कहा जाता है। आकाशास्तिकाय का स्थान उससे बाह्य नहीं है, क्योंकि आकाश के अवगाहन करने योग्य अन्य द्रव्य का अभाव है।

.०९.८ भावयोग और स्थान

भावट्ठाणं दुविहं आगम-णोआगमभावट्ठाणभेदेण । तत्थ आगमभावट्ठाणं णाम ट्ठाणपाहुडजाणओ उवजुत्तो । णोआगमभावट्ठाण-मोदइयादिभेदेण पंच-विहं । एत्थ ओदइय-भावट्ठाणेण अहियारो अघादिकम्मणमुदएण तप्पाओ-ग्गेण जोगुप्पत्तीदो । जोगो खओवसमिओ त्ति के वि भणंति । तं कथं घडदे ? वीरियंतराइयक्खओवसमेण कत्थ वि जोगस्स वड्ढिमुवज्जिक्खिय खओवसमिय-त्तपदुप्पायणादो घडदे ।

— षट्.० खं ४।२, ४।सू १७५।पु १०।पृ० ४३६

भावस्थान दो प्रकार का होता है—आगम भावस्थान और नोआगम भावस्थान । इनमें आगम भावस्थान स्थानप्राप्त के ज्ञाता उपयोगयुक्त जीव को कहते हैं । नोआगम भावस्थान औदयिक आदि भेद से पाँच प्रकार का होता है । यहाँ पर औदयिक भावस्थान का अधिकार है, क्योंकि योग की उत्पत्ति तत्प्रायोपशम अघाती कर्मों के उदय से होती है ।

कुछ आचार्यों ने योग को क्षायोपशमिक भी स्वीकार किया है, क्योंकि क्वचित् वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से योग की वृद्धि पाकर योग का क्षायोपशमिकत्व प्रतिपादन किया गया है, अतः योग का एक भेद क्षायोपशमिक भी घटित होता है ।

.०९.९ योगस्थान प्ररूपणा के कारण

जोगस्स ट्ठाणं, जोगट्ठाणं, जोगट्ठाणस्स परूवणदा जोगट्ठाणपरू-वणदा, तीए जोगट्ठाणपरूवणदाए दस अणिओगहाराणि णादव्वाणि भवन्ति । किमत्थमेत्थ जोगट्ठाणपरूवणा कीरदे ? पुविज्जमि अप्पाबहुगग्मि सव्वजीव-समासाणं जहण्णुक्कस्सजोगट्ठाणाणं थोवबहुत्तं चेव जानाविदं । केत्तिएहि अविभागपडिच्छेदेहि फट्ठएहि वग्गणाहि वा जहण्णुक्कस्सजोगट्ठाणाणि होंति त्ति ण वुत्तं । जोगट्ठाणाणं छच्चेव अंतराणि अप्पाबहुगग्मि परूविदाणि । तदो तेसिमण्णत्थ णिरंतरं वड्ढी होदि त्ति णव्वदे । साख वड्ढी सव्वत्थ किमवट्ठि किमणवट्ठिदा किंवा वड्ढीए पमाणमिदि एदं पि तत्थ ण परूविदं । तदो एदेसिं अपरूविदअत्थणं परूवणट्ठं जोगट्ठाण परूवणा कीरदे । किं जोगो णाम ? जीवपदेसाणं परिप्फंदो संकोख-विकोखब्भमणसरूवओ । ण जीवगमणं जोगो, अजोगिस्स अघादिकम्मक्खएण वुड्ढं गच्छंतस्स वि सजोगत्तप्प-संगादो । सो ख जोगो मण-वच्चि-कायजोगभेदेण तिविहो । तत्थ बज्जत्थच्चिता-वाषदमणादो समुप्पणजीवपदेसपरिप्फंदो मणजोगो णाम । भासावग्गणक्खंथे भासारूवेण परिणामेंतस्स जीवपदेसाणं परिप्फंदोवदिजोगो णाम । वात-पित्त-

संभादीहि जणिदपरिस्समेण जादजीवपरिप्फंदो कायजोगो णाम । जदि एवं तोतिण्णं पि जोगाणमकमेण वुत्ती पावदि त्ति भणिदे—ण एस दोसो, जदहं जीवपदेसाणं पढमं परिप्फंदो जादो अण्णम्मि जीव-पदेसपरिप्फंद सहकारिकारणे जादेवि तस्सेव पहाणत्तदंसणेण तस्स तव्ववएसबिरोहाभावादो । तम्हा जोग-ट्ठाणपरूवणा संबद्धा खेव, णासंबद्धा त्ति सिद्धं ।

—षट्.० खं ४।२, ४।सू १७६।पु १०।पृ० ४३६-३८

योगस्थान प्ररूपणा में दस अनुयोगद्वारा ज्ञातव्य है । यहाँ पर योगस्थान प्ररूपणा करने का अभिप्राय यह है कि अल्पबहुत्व प्रकरण में सब जीवसमासों के जघन्य तथा उत्कृष्ट योगस्थानों का अल्पबहुत्व ही बतलाया गया है, किन्तु वहाँ पर कितने अविभाग-प्रतिच्छेदों, स्पर्द्धकों अथवा वर्णणाओं से जघन्य तथा उत्कृष्ट योगस्थान होते हैं, यह नहीं कहा गया है । योगस्थानों के छः ही अन्तर अल्पबहुत्व में कहे गये हैं । इससे ज्ञात होता है कि अन्य स्थानों में उनकी निरन्तर वृद्धि होती है । और वह वृद्धि सब स्थानों में अवस्थित होती है या अनवस्थित, तथा वृद्धि का क्या प्रमाण है—यह भी वहाँ नहीं कहा गया है । अतएव इन अपरूपित अर्थों के प्ररूपणार्थ योगस्थान की प्ररूपणा की जाती है ।

योग किसे कहते हैं ? जीवप्रदेशों के संकोच-विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन को योग कहा जाता है । जीव के गमन रूप परिस्पन्दन को योग नहीं माना गया है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर अघाती कर्मों के क्षय से ऊर्ध्वगमन में प्रवृत्त अयोगिकेवली में सयोगत्व उपस्थित हो जायगा ।

यह योग तीन प्रकार का होता है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग । इनमें बाह्य पदार्थों के चिन्तन में प्रवृत्त मन से उत्पन्न जीवप्रदेशों के परिस्पन्द को मनोयोग कहते हैं । भाषावर्णना के स्कन्धों को भाषा रूप से परिणमन कराने वाले जीव के जीवप्रदेशों का परिस्पन्दन होता है, उसको वचनयोग कहते हैं । वात, पित्त तथा कफ आदि के द्वारा उत्पन्न परिश्रम से होनेवाले जीवप्रदेशों के परिस्पन्दन को काययोग कहते हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर तीनों योगों का एक साथ अस्तित्व प्राप्त हो सकता है । इसके समाधान में कहा गया है—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवप्रदेशों के परिस्पन्दन के अन्य सहकारी कारण के रहते हुए भी जिस निमित्त से जीवप्रदेशों का प्रथम परिस्पन्दन होता है उसी की प्रधानता मानी जाती है, अतः उपर्युक्त संज्ञा होने में कोई विरोध नहीं है ।

.०१ द्रव्ययोग (प्रायोगिक)—अजीव है-रूपी है—

.०११ द्रव्ययोग और प्रदेशावगाह-क्षेत्रावगाह

.०१ योग क्षेत्राधिकार-क्षेत्रावगाह

काययोग का सामान्य से (सर्व काययोग द्रव्यों की अपेक्षा) स्वस्थान समुद्घात

तथा उपपाद की अपेक्षा सर्वलोक प्रमाण क्षेत्र अवगाह है तथा वचनयोग तथा मनोयोग का लोक के असंख्यातर्वे भाग क्षेत्र परिमाण अवगाह है ।

.०१२ द्रव्ययोग की स्थिति

मनोयोग तथा वचनयोग की स्थिति जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट अन्तर्मूर्त, तथा काययोग की स्थिति जघन्य अन्तर्मूर्त उत्कृष्ट अनंतकाल की होती है ।

.०१३ द्रव्ययोग और भाव

आगमों में द्रव्ययोग के भाव सम्बन्धी कोई पाठ नहीं है, लेकिन पुद्गल द्रव्य होने के कारण इसका परिणामिक भाव है ।

.०१४ योगस्थान के दस अनुयोगद्वार

अविभागपडिच्छेदप्ररूपणा वगणप्ररूपणा फहयप्ररूपणा अंतरप्ररूपणा ठाण्णप्ररूपणा अणंतरोवणिधा परंपरोवणिधा समयप्ररूपणा वड्ढिप्ररूपणा अप्पा-बहुए त्ति ।

—षट्.० खं० ४।२, ४।सु १७६।पु १०।पृ० ४३८

एत्थि दससु अणिओगद्वारेसु अविभागपडिच्छेदप्ररूपणा चेव किमट्ठं पुव्वं प्ररूविदा ? ण, अणवगएसु अविभागपडिच्छेदेसु उवरिमअधियाराणं प्ररूपणोवायाभावादो । तदणंतरं वगणप्ररूपणा किमट्ठं प्ररूविदा ? ण एस दोसो, अणवगयासु वगणासु फहयप्ररूपणाणुववत्तीदो । फहएसु अणवगएसु अंतरप्ररूपणादीणमुवायाभावादो सेसाणियोगद्वारेसु फहयप्ररूपणा पुव्वं चेव कदा । फहयबहुत्तणिबंधणअंतरे अणवगए बहुफहयाहिट्ठिदट्ठानादीणं प्ररूपणो-वायाभावादो सेसाणिओगद्वारेहितो पुव्वमेव अंतरप्ररूपणा कदा । ठाणेसु अण-वगएसु अणंतरोवणिधादीणमवगमोवायाभावादो पुव्वं ठाणप्ररूपणा कदा । अणंतरोवणिधाए अणवगदाए परंपरोवणिधावगंतुं ण सक्किज्जदि त्ति पुव्वमणं-तरोवणिधा प्ररूविदा । परंपरोवणिधाए अणवगदाए समय-वड्ढि-अप्पाबहु-गाणमवगमोवायाभावादो परंपरोवणिधा प्ररूविदा । समएसु अणवगएसु उव-रिमअधियाराणमुत्थाणाभावादो समयप्ररूपणा पुव्वं प्ररूविदा । वड्ढिप्ररूपणाए अणवगदाए तत्थावट्ठानकालावगमोवायाभावादो अप्पाबहुवादो पुव्वं वड्ढि-प्ररूपणा कदा । एवं प्ररूविदाणं सव्वेसि थोवबहुत्तजाणावणट्ठमप्पाबहुगप्ररूपणा कदा ।

योगस्थान प्ररूपणा के दस अनुयोगद्वार होते हैं, यथा—अविभाग प्रतिच्छेद प्ररूपणा, वर्गणा प्ररूपणा, स्पर्द्धक प्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोप-निधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व ।

उपर्युक्त दस अनुयोगद्वारों में सर्वप्रथम अविभागप्रतिच्छेद प्ररूपणा के निर्देश करने का कारण है कि इसके अज्ञात रहने पर आगे के अधिकारों की प्ररूपणा करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसके बाद वर्गणाप्ररूपणा करने का कारण यह है इसके अज्ञात रहने पर स्पर्द्धकों की प्ररूपणा नहीं की जा सकती है। स्पर्द्धकों के अज्ञात रहने पर अन्तरप्ररूपणा आदि जानने का कोई उपाय नहीं है। स्पर्द्धकबहुत्व के कारणभूत अन्तर के अज्ञात रहने पर बहुत स्पर्द्धकों से अधिष्ठित स्थान आदि अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा करने का कोई उपाय नहीं है। स्थानों के अज्ञात रहने पर अनन्तरोपनिधा आदि अनुयोग द्वारों की प्ररूपणा नहीं की जा सकती है। अनन्तरोपनिधा अवगत न होने से परम्परोपनिधा जानने का कोई उपाय नहीं है। परम्परोपनिधा के अज्ञात रहने पर समय, वृद्धि तथा अल्पबहुत्व जानने का कोई उपाय नहीं है। समयों के अज्ञात रहने पर अग्रिम अधिकारों का उत्थान नहीं हो सकता है। बुद्धि पररूपणा के अज्ञात रहने पर अवस्थान काल जानने का कोई उपाय नहीं है। इस क्रम से प्ररूपित सभी अधिकारों के अल्पबहुत्व को समझाने के लिए अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

.०१५ औघिक सयोगी जीवों में अल्पबहुत्व :—

(क) एएसिणं भंते ! जीवाणं सजोगीणं मणजोगीणं वइजोगीणं काय-जोगीणं अजोगीणय कयरेकयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहियावा, गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणजोगी, वइजोगी असंखेजगुणा, अजोगी अणंतगुणा, काययोगी अणंतगुणा, सजोगी विसेसाहिया ।

— पण्ण० प० ३।पृ० २५५

सबसे कम मनोयोगी वाले जीव होते हैं, उनसे वचनयोगी वाले जीव असंख्यातगुणे होते हैं, उनसे योग रहित (अयोगी) जीव अनंतगुणे हैं, उनसे काययोगी वाले जीव अनंतगुणे हैं तथा उनसे सजोगी जीव विशेषाधिक है।

(ख) सव्वत्कोया अजोगी सजोगी अणंतगुणा ।

—जीवा० प्रति ६।पृ २५१

अयोगी जीव सबसे कम तथा सयोगी जीव उनसे अनंतगुणे हैं ।

.०१६ योग और द्रव्य-परिणाम (एक द्रव्य की अपेक्षा)

.०१ मनोयोगी और वचनयोगी तथा एक द्रव्य परिणाम

(एगे भंते ! दव्वे किं पयोगपरिणए × × ×) जइ पयोगपरिणए कि मणप्पयोगपरिणए वा, वयप्पयोगपरिणए वा, कायप्पओग परिणए × × × वा ।

जइ मणप्पओगपरिणए कि सच्चमणप्पओगपरिणए, मोसमणप्पयोगपरिणए, सच्चामोसमणप्पयोगपरिणए, असच्चामोसमणप्पओगपरिणए ? गोयमा ! सच्च-

मणप्पयोगपरिणए वा, मोसमणप्पयोगपरिणए वा, सञ्चामोसमणप्पओगपरिणए वा, असञ्चामोसमणप्पओगपरिणए वा ।

जइ सञ्चमणप्पओगपरिणए किं आरंभसञ्चमणप्पयोगपरिणए, अणारंभ-सञ्चमणप्पयोगपरिणए, सारंभसञ्चमणप्पओगपरिणए, असारंभसञ्चमणप्पयोग-परिणए, समारंभसञ्चमणप्पओगपरिणए, असमारंभसञ्चमणप्पओगपरिणए ? गोयमा ! आरंभसञ्चमणप्पओगपरिणए वा, जाव असमारंभसञ्चमणप्पओग-परिणए वा ।

जइ मोसमणप्पयोगपरिणए किं आरम्भमोसमणप्पओगपरिणए वा ? एवं जहा सच्चेणं तहा मोसेण वि एवं सञ्चामोसमणप्पयोगेण वि, एवं असञ्चा-मोसमणप्पओगेण वि ।

जइ वइप्पओगपरिणए किं सञ्चवइप्पओगपरिणए, मोसवइप्पओग-परिणए ? एवं जहा मणप्पओगपरिणए तहा वयप्पयोगपरिणए वि, जाव असमारंभवइप्पओगपरिणए वा ।

—भग० श ८।उ १।प्र २८-३३

(१) एक द्रव्य प्रयोग परिणत होता है, अथवा मिश्र-परिणत होता है, अथवा वित्तसा-परिणत होता है ।

(२) यदि एक द्रव्य प्रयोग परिणत होता है तो वह मन प्रयोग-परिणत होता है, अथवा वचनप्रयोग होता है अथवा कायप्रयोग-परिणत होता है ।

(३) यदि एक द्रव्य मनप्रयोग-परिणत होता है तो वह सत्यमनप्रयोग-परिणत होता है, अथवा मृषामनप्रयोग-परिणत होता है अथवा सत्यमृषामनप्रयोग-परिणत होता है, अथवा असत्यामृषामनप्रयोग परिणत होता है ।

(४) यदि एक द्रव्य, सत्यमनप्रयोग-परिणत होता है तो वह आरम्भ सत्यमनप्रयोग-परिणत होता है, अथवा अनारम्भ सत्य मनप्रयोग-परिणत होता है, अथवा सारम्भ सत्यमन-परिणत होता है, असारम्भ सत्यमनप्रयोग-परिणत होता है, समारंभ सत्यमनप्रयोग-परिणत होता है या असमारंभ सत्यमनप्रयोग-परिणत होता है ।

जिस प्रकार सत्यमनप्रयोग-परिणत के विषय में कहा है, उसी प्रकार एक द्रव्य, मृषामनप्रयोग परिणत के विषय में जानना चाहिए ।

इसी प्रकार सत्यमृषामनप्रयोग-परिणत के विषय में एवं असत्यामृषामनप्रयोग-परिणत के विषय में भी जानना चाहिए ।

जिस प्रकार मनप्रयोग-परिणत के विषय में कहा है, उसी प्रकार वचनप्रयोग-परिणत के विषय में भी जानना चाहिए । यावत् वह एक द्रव्य असमारम्भ वचनप्रयोग-परिणत होता है यहाँ तक कहना चाहिए ।

विवेचन—मन, वचन और काय के व्यापार को 'योग' कहते हैं। वीर्यान्तराय के क्षय या क्षयोपशम से मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्मप्रदेशों में होने परिरूपन्द-कम्पन या हलन-चलन को भी 'योग' कहते हैं। इसी योग को 'प्रयोग' भी कहते हैं।

मनोयोग में केवल विचार मात्र का ग्रहण होता है और वचनयोग में वाणी का ग्रहण है, अर्थात् भावों को वचन द्वारा प्रकट करना।

औदारिक आदि काययोग के द्वारा मनोवर्गणा के द्रव्यों से ग्रहण करके उन्हें मनो-योग द्वारा मनपने परिणामाए हुए पुद्गल 'मनःप्रयोग-परिणत' कहलाते हैं। औदारिक आदि काययोग द्वारा भाषा द्रव्य को ग्रहण करके वचनयोग द्वारा भाषा रूप में परिणत करके बाहर निकाले जाने वाले पुद्गल 'वचनप्रयोग परिणत' कहलाते हैं। औदारिक आदि काय योग द्वारा औदारिकादि वर्गणा द्रव्य को औदादिकादि शरीर रूप से परिणत हुए पुद्गल 'काययोग-परिणत' कहलाते हैं।

जीवहिंसा को 'आरम्भ कहते हैं। हिंसामें मनःप्रयोग द्वारा परिणत पुद्गल 'आरम्भ-सत्यमनः प्रयोग परिणत' कहलाते हैं। इसी तरह दूसरों के स्वरूप को भी समझ लेना चाहिए, परन्तु इतनी विशेषता है कि जीव-हिंसा के 'अभाव को अनारम्भ' कहते हैं। किसी जीव को मारने के लिए मानसिक संकल्प करना सारंभ (सरम्भ) कहलाता है। जीवों को परित्याग उपजाना समारम्भ कहलाता है। जीवों को प्राण से रहित कर लेना 'आरम्भ' कहलाता है।

७२ काययोगी और एक द्रव्य-परिणाम

जइ कायप्पयोगपरिणए किं ओराजियसरीरकायप्पयोगपरिणए, ओरा-जियमीसासरीरकायप्पयोगपरिणए, वेडब्बियसरीरकायप्पयोगपरिणए, वेडब्बि-यमीसासरीरकायप्पयोगपरिणए, आहारगसरीरकायप्पयोगपरिणए, आहारग-मीसासरीरकायप्पयोगपरिणए वा, जाव कम्मासरीरकायप्पयोगपरिणए वा।

—भग० श ८७ १५० ३४

यदि एक द्रव्य काययोग-परिणत होता है, तो वह औदारिक शरीर काययोग-परिणत होता है, अथवा औदारिक मिश्रकाययोग-परिणत होता है, अथवा वैक्रिय शरीर काययोग-परिणत होता है, अथवा वैक्रिय मिश्र शरीर कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा आहारक शरीर काय प्रयोग-परिणत होता है, अथवा आहारकमिश्र काय प्रयोग-परिणत होता है, अथवा कर्मण शरीर कायप्रयोग-परिणत होता है।

विवेचन—काय की प्रवृत्ति को काययोग कहते हैं। इसके सात भेद हैं। औदारिक काययोगादि। काय का अर्थ है 'समूह'।

औदारिकशरीर—पुद्गल स्कंधों का समूह है, इसलिए काय है। इससे होने वाले व्यापार से 'औदारिक शरीर काययोग कहते हैं।

०३ औदारिक काययोगी और एक द्रव्य-परिणाम

जइ ओरालियसरीरकायप्पयोगपरिणए किं एगिंदियओरालियसरीर-कायप्पयोगपरिणए, एवं जाव पंचिंदियओरालिय-जाव परिणए ? गोयमा ! एगिंदियओरालियसरीरकायप्पयोगपरिणए वा, बेइंदिय जाव परिणए वा, जाव पंचिंदियओरालियकायप्पयोगपरिणए वा ।

जइ एगिंदियओरालियशरीरकायप्पयोगपरिणए किं पुढविकाइयएगिंदिय जाव परिणए वा, जाव वणस्सइकाइयएगिंदियओरालियकायप्पयोगपरिणए वा ? गोयमा ! पुढविकाइयएगिंदिय जाव परिणए वा, जाव वणस्सइकाइय-एगिंदिय जाव परिणए वा ।

जइ पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीर जाव परिणए, किं सुहुमपुढ-विकाइय जाव परिणए, बायरपुढविकाइय जाव परिणए ? गोयमा ! सुहुमपुढ-विकाइयएगिंदिय जाव परिणए वा, बायरपुढविकाइय जाव परिणए वा ।

जइ सुहुमपुढविकाइय जाव परिणए किं पज्जत्तसुहुमपुढविकाइय जाव परिणए, अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइय जाव परिणए ? गोयमा ! पज्जत्तसुहुमपुढ-विकाइय जाव परिणए वा, अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइय जाव परिणए वा ; एवं बायरा बि एवं जाववणस्सइ काइयाणं, खउक्कओ भेओ, वेइंदिय-तेइंदिय-खउरि-दियाणं दुयओ भेओ—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य ।

जइ पंचिंदियओरालियसरीरकायप्पयोगपरिणए किं तिरिक्खजोणियपंचि-दियओरालियसरीरकायप्पयोगपरिणए, मणुस्सपंचिंदिय जाव परिणए ? गोयमा ! तिरिक्खजोणिय जाव परिणए वा, मणुस्सपंचिंदिय जाव परिणए वा ।

जइ तिरिक्खजोणिय जाव परिणए किं जलयरतिरिक्खजोणिय जाव परिणए वा, थलयर-खहयर जाव परिणए वा ? एवं खउक्कओ भेओ, जाव खहयराणं ।

जइ मणुस्सपंचिंदिय जाव परिणए किं संमुच्छिममणुस्सपंचिंदिय जाव परिणए, गभभवक्कंतियमणुस्स जाव परिणए ? गोयमा ! दोसु बि ।

जइ गभभवक्कंतियमणुस्स जाव परिणए किं पज्जत्तगभभवक्कंतिय जाव परिणए, अपज्जत्तगभभवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियओरालियसरीरकायप्पयोगपरि-णए ? गोयमा ! पज्जत्तगभभवक्कंतिय जाव परिणए वा, अपज्जत्तगभभवक्कंतिय जाव परिणए वा ।

—मग० श ८ । उ १ । प्र ३४.४२

यदि एक द्रव्य औदारिक शरीर काय प्रयोग परिणत होता है तो वह एक द्रव्य एकेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है अथवा द्वीन्द्रिय औदारिक शरीरकाय-प्रयोग परिणत होता है यावत् पंचेन्द्रिय औदारिक-शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।

जो एक द्रव्य एकेन्द्रिय औदारिक शरीर कायप्रयोग परिणत होता है वह पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय औदारिक शरीर कायप्रयोग परिणत होता है अथवा यावत् वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।

जो एक द्रव्य पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है तो वह सूक्ष्म पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय औदारिक-शरीर प्रयोग परिणत होता है । अथवा बादर पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।

जो एक द्रव्य सूक्ष्म पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है तो वह पर्याप्त पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है, अथवा अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।

इसी प्रकार बादर पृथ्वीकायिक के विषय में भी जानना चाहिए ।

इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक तक सभी के चार-चार भेद (सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त व अपर्याप्त) के विषय में जानना चाहिए ।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के दो-दो भेद (पर्याप्त-अपर्याप्त) के विषय में कहना चाहिए ।

यदि एक द्रव्य पंचेन्द्रिय शरीरकाय प्रयोग परिणत होता है तो वह तिर्यच्योनिक पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है अथवा मनुष्य पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।

यदि एक द्रव्य तिर्यच्योनिक पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है तो वह जलचर तिर्यच्योनिक पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है, अथवा स्थलचर तिर्यच्योनिक पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है अथवा खेचर तिर्यच्योनिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।

इसी प्रकार यावत् खेचरों तक चार-चार भेदों सम्मुच्छिन्न, गर्भज, पर्याप्त-अपर्याप्त के विषय में पहले कहे अनुसार जानना चाहिए ।

यदि एक द्रव्य मनुष्य पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है तो वह सम्मुच्छिन्न अथवा गर्भज मनुष्य पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।

यदि एक द्रव्य गर्भज मनुष्य पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है

तो वह पर्याप्त गर्भज मनुष्य पंचेन्द्रिय औदारिक कायप्रयोग परिणत होता है, अथवा अपर्याप्त गर्भज मनुष्य पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।

०४ औदारिकमिश्र काययोगी और एक द्रव्य-परिणाम

जइ ओरालियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए किं एगिंदिय-ओरालिय-मीसासरीरकायप्पओगपरिणए, वेइंदिय जाव परिणए, जाव पंचिंदियओरालिय जाव परिणए ? गोयमा ! एगिंदियओरालिय एवं जहा ओरालियसरीरकायप्प-योगपरिणएणं आलावगो भणिओ तहा ओरालिय-मीसासरीरकायप्पओगपरिणएण धि आलावगो भाणियव्वो, णवरं बायर-वाउकाइय-गढभवक्कंतिय-पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिय-गढभवक्कंतिय-मणुस्साणं एएसिणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं, सेसाणं अपज्जत्तगाणं ।

—भग० श ८ । उ १ । प्र ४३

यदि एक द्रव्य औदारिक-मिश्रशरीर कायप्रयोग परिणत होता है तो यह एकेन्द्रिय औदारिक-मिश्रशरीर कायप्रयोग परिणत होता है अथवा द्वीन्द्रिय औदारिक मिश्रशरीर कायप्रयोग परिणत होता है अथवा यावत् पंचेन्द्रिय औदारिक मिश्रशरीर कायप्रयोग परिणत होता है ।

जिस प्रकार औदारिक शरीरकायप्रयोग परिणत के आलापक कहे हैं उसी प्रकार औदारिक-मिश्रशरीर कायप्रयोग परिणत के भी आलापक कहना चाहिए । किन्तु इतनी विशेषता है कि औदारिक मिश्रशरीर कायप्रयोग परिणत का आलापक बादरवायुकायिक, गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच और गर्भज मनुष्य के पर्याप्त और अपर्याप्त के विषय में कहना चाहिए और इसके सिवाय शेष सभी जीवों के अपर्याप्त के विषय में करना चाहिए ।

विवेचन—औदारिक-मिश्रकाययोग—औदारिक के साथ कर्मण, वैक्रिय या आहारक की सहायता से होने वाले वीर्यशक्ति के व्यापारको औदारिक मिश्रकाययोग कहते हैं । यह योग उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर जब तक शरीर पर्याप्त पूर्ण न हो, तब तक सभी औदारिक शरीरधारी के होता है । वैक्रियलब्धिधारी मनुष्य और तिर्यंच जब वैक्रियशरीर का त्याग करते हैं तब भी औदारिक मिश्रकाययोग होता है । आहारक शरीर से निवृत्त होते समय अर्थात् वापस स्व-शरीर में प्रवेश करते समय “औदारिक मिश्रकाययोग होता है । केवली समुद्घात के आठ समयों में से २, ६, ७वें समय ये औदारिक मिश्रकाययोग का प्रयोग होता है ।”

०५ वैक्रिय काययोगी और एक द्रव्य-परिणाम

जइ वेउव्वियसरीरकायप्पयोगपरिणए किं एगिंदियवेउव्वियसरीरकायप्प-योगपरिणए, जाव पंचिंदियवेउव्वियसरीर जाव परिणए ? गोयमा ! एगिंदिय जाव परिणए वा, पंचिंदिय जाव परिणए वा ।

जइ एगिदिय जाव परिणए, किं वाउक्काइयएगिदिय जाव परिणए, अवा-
उक्काइयएगिदिय जाव परिणए ? गोयमा ! वाउक्काइयएगिदिय जाव परिणए,
णो अवाउक्काइय जाव परिणए ; एवं एएणं अभिलावेणं जहा 'ओगाहणसंठाणे'
वेउव्वियसरीरं भणिय तथा इहवि भाणियव्वं, जाव पज्जत्तसव्वट्टसिद्धअणुत्तरो-
ववाइयवेमाणियदेवपंचिदियवेउव्विय-सरीरकायप्पओगपरिणए वा, अपज्जत्तसव्व-
ट्टसिद्ध अणुत्तरोववाइय जाव परिणए वा । — भग० श ८ । उ १ । प्र ४४-४५

यदि एक द्रव्य वैक्रियशरीरकायप्रयोग परिणत होता है तो वह एकेन्द्रिय वैक्रिय-
शरीरकायप्रयोग परिणत होता है, अथवा पंचेन्द्रिय वैक्रिय शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।

यदि एक द्रव्य वायुकायिक एकेन्द्रिय वैक्रिय शरीरकायप्रयोग परिणत होता है ।
परन्तु अवायुकायिक एकेन्द्रिय वैक्रिय शरीरकायप्रयोग परिणत नहीं होता है ।

इसी प्रकार इस अभिलाप द्वारा प्रज्ञापना सूत्र के इक्कीसवें 'अवगाहना-संस्थान'
पद में वैक्रिय शरीर के सम्बन्ध में कथित वर्णन के अनुसार यहाँ भी जानना चाहिए ।
यावत् पर्याप्त सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरोपातिक कल्पातीत वैमानिकदेव पंचेन्द्रिय वैक्रिय शरीर
कायप्रयोग परिणत होता है, या अपर्याप्त सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरोपातिक कल्पातीत वैमानिकदेव
पंचेन्द्रिय वैक्रिय शरीरकाय प्रयोग परिणत होता है ।

विवेचन—वैक्रियकाययोग, वैक्रिय शरीर के द्वारा होने वाले वीर्यशक्ति के व्यापार
को 'वैक्रिय काययोग, कहते हैं । यह मनुष्यों के और तिर्यंचों के वैक्रियलब्धि के बल से
वैक्रिय शरीर धारण कर लेने पर होता है । देव और नैररिक जीवों के वैक्रिय काययोग
'भव प्रत्यय' होता है ।

•०६ वैक्रियमिश्र काययोगी और एक द्रव्य-परिणाम

जइ वेउव्वियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए किं एगिदियमीसासरीर-
कायप्पयोगपरिण जाव पंचिदियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए ? एवं जहा
वेउव्वियं तथा वेउव्वियमीसगं वि, णवरं देव-णेरइयाणं अपज्जगाणं सेसाणं
पज्जत्तगाणं तहेव, जाव णो पज्जत्तसव्वट्टसिद्धअणुत्तरोववाइय जाव परिणए,
अपज्जत्तसव्वट्टसिद्धअणुत्तरोववाइयदेवपंचिदियवेउव्वियमीसासरीरकायप्पयोग-
परिणए । — भग० श ८ । उ १ । प्र ४६

जिस प्रकार वैक्रिय शरीर कायप्रयोग परिणत के विषय में कहा है, उसी प्रकार
वैक्रिय मिश्र शरीर काय प्रयोग परिणत के विषय में भी जानना चाहिए । परन्तु विशेषता
यह है कि वैक्रिय मिश्र शरीर काय प्रयोग देव और नैरयिक के अपर्याप्त के विषय में और

शेष सभी जीवों के पर्याप्त के विषय में कहना चाहिए, यावत् पर्याप्त सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरो-यातिक कल्पातीत वैयानिक देव पंचेन्द्रिय वैक्रिय मिश्र कायप्रयोग परिणत नहीं होता, किन्तु अपर्याप्त सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरोपातिक कल्पातीत वैमानिक देव पंचेन्द्रिय वैक्रिय मिश्र कायप्रयोग परिणत होता है ।

विवेचन—वैक्रिय मिश्र काययोग—वैक्रिय और कर्मण द्वारा अथवा वैक्रिय और औदारिक इन दो शरीरों के द्वारा होनेवाले वीर्य शक्ति के व्यापार को 'वैक्रिय मिश्रकाययोग कहते हैं । वैक्रिय और कर्मण सम्बन्धी वैक्रिय मिश्र काययोग देवों और नारकों में उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर जब तक शरीर पर्याप्त पूर्ण न हो तब तक रहता है । वैक्रिय और औदारिक, इन दो शरीरों सम्बन्धी वैक्रिय मिश्र काययोग, मनुष्य और तिर्य'चों में तभी पाया जाता है जबकि वे लब्धि के बल से वैक्रिय शरीर का आरंभ करते हैं । वैक्रिय शरीर का त्याग करने में वैक्रिय मिश्र नहीं होता, किन्तु औदारिक मिश्र होता है ।

•०७ आहारक काययोगी और एक द्रव्य-परिणाम

जइ आहारणशरीरकायप्पयोगपरिणए किं मणुस्साहारगसरीरकायप्प-योगपरिणए, अमणुस्साहारण जाव परिणए ? एवं जहा “ओगाहणसंठाणे” जाव इड्ढिपत्तपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव परिणए ।

—भग० श ८ । उ १ । प्र ४७

यदि एक द्रव्य आहारक शरीर कायप्रयोग परिणत होता है तो वह मनुष्य आहारक शरीर कायप्रयोग परिणत होता है परन्तु अमनुष्याहारक शरीर कायप्रयोग परिणत नहीं होता है ।

यावत् ऋद्धि प्राप्त प्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्येय-वर्षायुष्क मनुष्याहारक शरीरकाय प्रयोग परिणत होता है, परन्तु अर्द्धि प्राप्त प्रमत्त संयत सम्यग् दृष्टि पर्याप्त संख्येय वर्षायुष्क मनुष्याहारक शरीर कायप्रयोग परिणत नहीं होता है ।

विवेचन—आहारक काययोग—केवल आहारक शरीर की सहायता से होनेवाला वीर्यशक्ति का व्यापार आहारक काययोग होता है ।

•०८ आहारक मिश्र काययोगी और एक द्रव्य-परिणाम

जइ आहारगमीसासरीरकायप्पयोगपरिणए किं मणुस्साहारगमीसासरीर-कायप्पयोगपरिणए, अमणुस्साहारग जाव परिणए ? एवं अहा आहारगं तहेव मीसगं पि णिरवसेसं भाणियव्वं ।

—भग० श ८ । उ १ । प्र ४८

यदि एक द्रव्य आहारक मिश्र शरीर कायप्रयोग परिणत होता है तो वह मनुष्याहारक मिश्र शरीर कायप्रयोग परिणत होता है, परन्तु अमनुष्याहारक मिश्र शरीरकाय प्रयोग परिणत नहीं होता है ।

और विवेचन—जिस प्रकार आहारक शरीर काययोग परिणत के विषय में कहा है, उसी प्रकार आहारक मिश्र शरीर कायप्रयोग परिणत के विषय में जानना चाहिए।

विवेचन—आहारक मिश्र काययोग-आहारक और औदारिक इन दोनों शरीरों के द्वारा होनेवाले वीर्यशक्ति के व्यापार को आहार मिश्र काययोग कहते हैं। आहारक शरीर के धारण करने के समय अर्थात् प्रारम्भ करने के समय तो आहारक मिश्र काययोग होता है और उसके त्याग के समय औदारिक मिश्र काययोग होता है।

०९. कर्मण काययोगी और एक द्रव्य-परिणाम

जइ कम्मासरीरकायप्पयोगपरिणए किं एगिंदियकम्मासरीरकायप्पयोग-परिणए, जाव पंचिंदियकम्मासरीर जाव परिणए ? गोयमा ! एगिंदियकम्मा-सरीरकायप्पयोगपरिणए, एवं अहां 'ओगाहणसंठाणे' कम्मगस्स भेओ तहेव इहावि, जाव पज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय जाव देवपंचिंदियकम्मासरीर-कायप्पयोगपरिणए, अपज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय जाव परिणए वा।

—भग० श ८। उ १। प्र ४६

यदि एक द्रव्य कर्मण शरीर कायप्रयोग परिणत होता है तो वह एकेन्द्रिय कर्मण शरीर कायप्रयोग परिणत होता है अथवा यावत् पंचेन्द्रिय कर्मण शरीर काय प्रयोग परिणत होता है।

विस्तार से इस विषय में जिस प्रकार प्रज्ञापना सूत्र के इक्कीसवें, अवगाहना-संस्थान। पद में कर्मण के भेद कहे गये हैं उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए। यावत् पर्याप्त सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरौपातिक कल्पातीत वैमानिक देव पंचेन्द्रिय कर्मण शरीरकाय प्रयोग परिणत होता है अथवा अपर्याप्त सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरौपातिक कल्पातीत वैमानिक देव पंचेन्द्रिय कर्मण शरीर कायप्रयोग परिणत होता है।

विवेचन—कर्मण काययोग—केवल कर्मण शरीर की सहायता से वीर्यशक्ति की जो प्रवृत्ति होती है उसे कर्मण काययोग करते हैं। यह योग विग्रह गति में तथा उत्पत्ति के समय में अनाहारक अवस्था में सभी जीवों के होता है। केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में केवली भगवान के होता है।

प्रश्न हो सकता है कि कर्मण काययोग के समान तैजस काययोग क्यों नहीं होता है ?

चूँकि कर्मण काययोग के समान तैजस काययोग इसलिए अलग नहीं माना कि तैजस और कर्मण का सदा साहचर्य रहता है अर्थात् औदारिक आदि अन्य शरीर, कभी-कभी कर्मण शरीर को छोड़ भी देते हैं किन्तु तैजस शरीर उसे कभी नहीं छोड़ता। इसलिए वीर्यशक्ति का जो व्यापार कर्मण शरीर होता है। वह निश्चय से (नियमा)

तैजस शरीर द्वारा भी होता रहता है। अतः कर्मण काययोग में ही तैजस काययोग का समावेश हो जाता है, इसलिये उसको पृथक् नहीं गिना गया है।

•०१० मनोयोगी और वचनयोगी तथा द्रव्य-परिणाम (दो)

दो भंते ! द्वा किं पओगपरिणया, $\times \times \times$ । जइ पओगपरिणया किं मणप्पयोगपरिणया, वइप्पयोगपरिणया, कायप्पयोगपरिणया ? गोयमा ! मणप्पयोगपरिणया, वइप्पयोगपरिणया, कायप्पओगपरिणया वा; अहवा एगे मणप्पयोगपरिणए एगेवयप्पयोगपरिणए; अहवा एगे मणप्पयोगपरिणए एगे कायप्पयोगपरिणए, अहवा एगे वयप्पयोगपरिणए एगे कायप्पयोगपरिणए।

जइ मणप्पओगपरिणया किं सच्चमणप्पयोगपरिणया, असच्चा मणप्पयोग-परिणया, सच्चा मोसमणप्पयोगपरिणया, असच्चा मोसमण-प्पओगपरि-णया ? गोयमा ! सच्चमणप्पओगपरिणया वा, जाव असच्चा मोसमणप्प-ओगपरिणया; अहवा एगे सच्चमणप्पओगपरिणए एगे मोसमणप्पयोपपरिणए, अहवा एगे सच्चमणप्पओगपरिणए एगे सच्चा मोसमणप्पओगपरिणए अहवा एगे सच्चमणप्पओगपरिणए एगे असच्चा मोसमणप्पओगपरिणए; अहवा एगे मोसमण-प्पओगपरिणए एगे सच्चा मोसमणप्पओगपरिणए अहवा एगे मोसमणप्पओग-परिणए एगे असच्चा मोसमणप्पओगपरिणए, अहवा एगे सच्चा मोसमणप्पओग-परिणए एगे असच्चा मोसमणप्पओगपरिणए।

जइ सच्चमणप्पओगपरिणया किं आरंभसच्चमणप्पओगपरिणया, जाव असमारंभसच्चमणप्पओगपरिणया ? गोयमा ! आरंभसच्चमणप्पओगपरिणया वा, जाव असमारंभसच्चमणप्पओगपरिणया वा; अहवा एगे आरंभसच्चमणप्पओग-परिणए एगे अणारंभसच्चमणप्पओगपरिणए। एवं एएणं गमेणं दुयासंजोगेणं णेयव्वं, सव्वे संजोगा जत्थ जत्तिया उट्ठेति ते भाणियव्वा, जाव सव्वट्ठसिद्धगइ।

—भग० श। ८। उ १। प्र ५८-६१

यदि दो द्रव्य प्रयोग परिणत होते हैं तो (१) वे दो द्रव्य मनः प्रयोग परिणत होते हैं (२) या वचन प्रयोग परिणत होते हैं, (३) या कायप्रयोग परिणत होते हैं या उनमें से एक एक द्रव्य (४) मनःप्रयोग परिणत होता है और दूसरा वचन प्रयोग परिणत होता है। अथवा (५) एक द्रव्य मनःप्रयोग परिणत होता है और दूसरा कायप्रयोग परिणत होता है अथवा (६) एक द्रव्य वचन प्रयोग परिणत होता है और दूसरा कायप्रयोग परिणत होता है।

यदि दो द्रव्य मनःप्रयोग परिणत होते हैं तो (१-४) वे सत्य मनःप्रयोग होते हैं, अथवा यावत् असत्यामृषा मनःप्रयोग परिणत होते हैं। अथवा (५) उनमें से एक द्रव्य सत्य मनःप्रयोग परिणत होता है और दूसरा मृषा मनःप्रयोग परिणत होता है। अथवा (६) एक द्रव्य सत्य मनःप्रयोग परिणत होता है और दूसरा सत्य मृषा मनःप्रयोग परिणत होता है अथवा (७) एक द्रव्य सत्य मनःप्रयोग परिणत होता है और दूसरा असत्यामृषा मनःप्रयोग परिणत होता है अथवा (८) एक द्रव्य मृषा मनःप्रयोग परिणत होता है। और दूसरा सत्य मृषामनःप्रयोग परिणत होता है अथवा (९) एक द्रव्य मृषामनःप्रयोग परिणत होता है और दूसरा असत्यामृषामनःप्रयोग परिणत होता है अथवा (१०) एक द्रव्य सत्यमृषामनः प्रयोग परिणत होता है और दूसरा असत्यामृषामनः प्रयोग परिणत होता है।

यदि दो द्रव्य सत्य मनः प्रयोग परिणत होते हैं तो (१-६) वे दो द्रव्य आरम्भ सत्यमनःप्रयोग परिणत होते हैं, अथवा यावत् असमारम्भ सत्यमनःप्रयोग परिणत होते हैं अथवा एक द्रव्य आरम्भ सत्यमनःप्रयोग परिणत होता है और दूसरा अनारम्भ सत्यमनः प्रयोग परिणत होता है।

इस प्रकार द्विक संयोगी भांगे जानने चाहिए। जहाँ जितने द्विक संयोगी भांगे होते हैं, वहाँ उतने सभी कहना चाहिए। यावत् सर्वार्थसिद्ध वैमानिक देव पर्थ'त कहना चाहिए।

विवेचन—दो द्रव्यों के विषय में प्रयोग परिणत असंयोगी तीन भंग होते हैं और द्विक संयोगी भी तीन भंग होते हैं। इस प्रकार छः भंग होते हैं। सत्यमनःप्रयोग परिणत, मृषामनःप्रयोगपरिणत, सत्यमृषामनाप्रयोगपरिणत और असत्यामृषामनःप्रयोग परिणत—इन चार पदों के असंयोगी चार भंग होते हैं और द्विकसंयोगी छह भंग होते हैं। इस प्रकार इनके कुल दस भंग होते हैं।

०११ सयोगी जीव और तीन द्रव्य-परिणाम (तीन)

तिन्नि भंते ! द्वा किं पओगपरिणया × × × । जइ पओगपरिणया किं मणप्पओगपरिणया, वयप्पओगपरिणया कायप्पओगपरिणया ? गोयमा ! मणप्पओगपरिणया वा, एवं एकगसंजोगो, दुयासंजोगो तियासंजोगो भाणियव्वो । जइ मणप्पओगपरिणया किं सच्चमणप्पओगपरिणया, असच्च मणप्पओगपरिणया सच्चामोसमणप्पओगपरिणया असच्चा-मोसमणप्पओग-परिणया ? गोयमा ! सच्चमणप्पओगपरिणया वा, असच्चामोसमणप्पओग-परिणया वा ; अहवा एगे सच्चमणप्पओगपरिणए दो मोसमणप्पओगपरिणया वा । एवं दुयासंजोगो, तिया संजोगो भाणियव्वो एत्थच्चि तहेव × × × ।

यदि तीन द्रव्य प्रयोग परिणत होते हैं तो वे मनःप्रयोग परिणत होते हैं, या वचन प्रयोग परिणत होते हैं, या कायप्रयोग परिणत होते हैं ।

इस प्रकार एक संयोगी, द्विकसंयोगी और त्रिकसंयोगी भंग कहना चाहिए ।

यदि तीन द्रव्य मनःप्रयोग परिणत होते हैं तो वे तीनों द्रव्य सत्य मनःप्रयोग परिणत होते हैं । अथवा यावत् असत्या मृषा मनःप्रयोग परिणत होते हैं । अथवा उनमें से एक द्रव्य सत्य मनःप्रयोग परिणत होता है और दो द्रव्य मृषा मनःप्रयोग परिणत होते हैं ।

इसी प्रकार यहाँ भी द्विकसंयोगी और त्रिकसंयोगी भंग कहना चाहिए ।

विवेचन—सत्य मनःप्रयोग परिणत आदि चार पद है, इनके असंयोगी (एक-एक) चार भंग होते हैं हैं । द्विकसंयोगी बारह भंग होते हैं । और त्रिक संयोगी चार भंग होते हैं । ये सभी बीस भंग होते हैं । इसी प्रकार मृषा मनः प्रयोग परिणत के भी कहना चाहिए । इसी प्रकार वचन प्रयोग परिणत व कायप्रयोग परिणत के भी कहना चाहिए ।

०१२ संयोगी जीव और द्रव्य-परिणाम (चार)

चत्तारि भंते ! द्वा किं पओगपरिणया × × × । जइ पओगपरिणया किं मणप्पओगपरिणया, वयप्पओगपरिणया, कायप्पओग परिणया ? एवं एएणं कमेणं पंच छ सत्त जाव दस संखेज्जा असंखेज्जा य द्वा भाणियद्वा दुयासंजो-एणं, तियासंजोएणं, जाव दस संजोएणं, बारससंजोएणं उवजुंजिऊणं जत्थ-जत्तिया संजोगा-उट्ठेति ते सव्वे भाणियद्वा । —भग० श ८ । उ १ । प्र ६७-२८

यदि चार द्रव्य प्रयोग परिणत होते हैं तो वे सब मनःप्रयोग परिणत होते हैं, या वचन प्रयोग परिणत होते हैं या कायप्रयोग परिणत होते हैं ।

ये सब पहले की तरह कहना चाहिए । इसी क्रम द्वारा पांच, छह, सात, आठ, नव, दस, संख्यात, असंख्यात, अनंत द्रव्यों के द्विक संयोगी, त्रिक संयोगी यावत् दस संयोगी, बारह संयोगी आदि सभी भंग उपयोगपूर्वक कहना चाहिए । जहाँ जितने संयोग होते हैं वहाँ उतने सभी संयोग कहना चाहिए ।

नोट—चार द्रव्यों के प्रयोग परिणत आदि तीन के असंयोगी तीन भंग होते हैं । और द्विक संयोगी नौ भंग होते हैं । त्रिक संयोगी तीन भंग होते हैं । इसी तरह ये सभी पन्द्रह भंग होते हैं ।

०१३ द्रव्य योग को जीव ग्रहण करता है ।

जीवद्व्वाणं भंते ! अजीवद्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, अजीव-द्वाजीवद्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ।

गोयमा ! जीवद्व्वाणं अजीवद्व्वा परिभोगत्ताए हव्वभागच्छंति, णो अजीवद्व्वाणं जीवद्व्वा परिभोगत्ताए हव्वभागच्छंति ।

सेकेणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ-जावहव्वमागच्छंति ।

गोयमा ! जीवद्व्वा णं अजीवद्व्वे परियाइयति अजीवद्व्वे परियाइइत्ता
 × × × मणजोगं वइजोग कायजोगं × × × च णिव्वत्तयंति, से तेणट्टेणं
 जाव हव्वमागच्छंति । — भग श २५। उ २। सू ४

अजीव द्रव्य, जीव द्रव्यों के भोग में आते हैं परन्तु जीव द्रव्य, अजीव द्रव्यों के परिभोग में नहीं आते । जीव द्रव्य, अजीव द्रव्यों को ग्रहण करते हैं । ग्रहण करके × × × मनोयोग, वचनयोग, काय योग × × × में परिणमते हैं ।

विवेचन—जीव द्रव्य सचेतन है और अजीव द्रव्य अचेतन है अतः जीव द्रव्य, अजीव द्रव्यों को ग्रहण करके उनको अपने मनोयोग वचनयोग काययोग रूप में परिणत करते हैं । यह उनका परिभोग है । जीव द्रव्य परिभोक्ता है ।

.०१४ सयोगी और द्रव्य-ग्रहण

जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं सोइं दियत्ताए गेण्हइ ताइं किं ठियाइं गेण्हइ, अठियाइं गेण्हइ ? × × × मणजोगत्ताए जहा कम्मगसरीरं । (कर्मण-पाठ—जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं तेयगसरीरत्ताए गिण्हइपुच्छा । गोयमा ! ठियाइं गेण्हइ, णो अठियाइं गेण्हइ, सेसंजहा ओरालियसरीरस्स । कम्मग-सरीरे एवं चेव । —प्र १२) णवरं णियमं छद्दिस्सि, एवं वइजोगत्ताए वि, काय-जोगत्ताए विजहा ओरालियसरीरस्स । (औदारिक पाठ—जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गेण्हइ ताइं किं ठियाइं गेण्हइ, अठियाइं गेण्हइ ? गोयमा ! ठियाइं पि गेण्हइ, अठियाइं पि गेण्हइ । ताइं भंते ! किं दव्वओ गेण्हइ, खेत्तओ गेण्हइ, कालओ गेण्हइ, भावओ गेण्हइ ? गोयमा ! दव्वओ वि गेण्हइ, खेत्तओ वि गेण्हइ, कालओ वि गेण्हइ, भावओ वि गेण्हइ । ताइं दव्वओ अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खेत्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं—एवं जहा पणवणाए पढमे आहारुहेसए, जाव णिव्वाघाएणं छद्दिस्सि, वाघायं पडुक्ख सिय तिदिस्सि, सिय चउदिस्सि, सिय पंखदिस्सि । प्र २-१०) —भग० श २५। उ २। प्र १५

जीव (कर्मण शरीर की तरह) जिन पुद्गल द्रव्यों को मनोयोग रूप में ग्रहण करता है वह स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है, अस्थित द्रव्यों को नहीं ।

वह उन द्रव्यों को द्रव्य से भी, क्षेत्र, काल और भाव से भी ग्रहण करता है । वह

द्रव्य से अनन्त प्रदेक्षी पुद्गलों को ग्रहण करता है। क्षेत्र से असंख्य प्रदेशावगाह द्रव्यों को ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रज्ञापणा सूत्र के अठाइसवें पद के प्रथम आहारीदेशक के अनुसार, यावत् निर्व्याघात से छुओं दिशाओं से और व्याघात हो तो कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच दिशाओं से आये हुए पुद्गलों से ग्रहण करता है।

इसी प्रकार वचन योग के द्रव्य भी।

काययोग के द्रव्य औदारिक शरीर के समान है।

विवेचन—जितने आकाश क्षेत्र में जीव रहा हुआ है, उस क्षेत्र में अन्दर रहे हुए जो पुद्गल द्रव्य है वे स्थित द्रव्य कहलाते हैं और उससे बाहर के क्षेत्र में रहे हुए पुद्गल द्रव्य 'अस्थित द्रव्य' कहलाते हैं। वहाँ से खींच कर जीव उनको ग्रहण करता है। इस विषय में किन्हीं आचार्यों का ऐसा कहना है कि जो गतिरहित द्रव्य है—वे स्थित द्रव्य कहलाते हैं और जो गति सहित द्रव्य है वे 'अस्थित द्रव्य' कहलाते हैं। मनोयोगी, वचन योगी अवगाह क्षेत्र के भीतर रहे हुए द्रव्यों को ग्रहण करता है उससे बाहर रहे हुए द्रव्यों को नहीं करता। क्योंकि उन्हें खींचने का स्वभाव उसमें नहीं है। अथवा वह स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है, अस्थित द्रव्यों को नहीं। क्योंकि उनका इस प्रकार स्वभाव होता है।

काययोगी स्थित द्रव्यों के भी ग्रहण करता है और अस्थित द्रव्यों को भी। निर्व्याघात से छुओं दिशाओं से और व्याघात हो तो कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच दिशाओं से आये हुए पुद्गलों के ग्रहण करता है।

०१५ योगवर्गणा और लेश्या

योगवर्गणान्तर्गतद्रव्यसाधिव्यादात्मपरिणामो लेश्या

—जैनसिद्धि० प्र ८ सू १७

योगवर्गणा के अन्तर्गत पुद्गलों की सहायता से होनेवाले आत्मपरिणाम को लेश्या कहते हैं।

०२ भावयोग (प्रायोगिक)—अरूपी है-जीव है

०२१ भावयोग-जीव परिणाम है।

०२२ भावयोग की स्थिति

मनोयोगी व वचन योगी की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होती है। काययोग की स्थित जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनन्त काल की होती है।

०२३ भावयोग और भाव

संकिंतं जीवोदयनिष्कने, अजेगधिहे पन्नत्ते, तंजहा—नेरइए × × ×
सजोगी × × × ।

—अण्णो० सू १२६

पंचश्वेभाग १। पृ० ११०

सयोगी—जीवोदय निष्पन्न भाव है ।

नोट—योगी में भाव पांच होते हैं :—

- (१) औदयिक भाव
 - (२) क्षायिक भाव
 - (३) क्षायोपशमिक भाव
 - (४) औपशमिक भाव
 - (५) पारिणामिक भाव
- छद्वा सन्निपातिक भाव भी होता है ।

.०२४ भावयोग और उपयोग

तस जोय वेय सुक्काहार नर पणिदि सन्नि भवि सव्वे ।

नयणेयर पण जेसा, कसाइ दस केवलदुगुणा ॥

—कर्म० भा ४ । गा ३१ । पृ० १६५

टीका— $\times \times \times$ 'योगेषु' मनोवाक्कायरूपेषु $\times \times \times$ सर्वे द्वादशाप्युप-
योगाः सम्भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरत्यादीनां
सम्भवात् ।

मन, वचन काय रूप योग है । बारह ही प्रकार के उपयोग में योग होता है ।
सम्यक्त्वी, देश विरति और सर्व विरति आदि में योग और उपयोग दोनों होते हैं ।

.०२५ भावयोग की चंचलता—अस्थिर योग

केवली णं भंते ! अस्सि समयंसि जेसु आगासपपसेसु हत्थंवा पायंवा
बाहंवा ऊरुंवा ओगाहिता णं चिट्ठंति, पभू णं केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव
आगासपपसेसु हत्थंवा जावओगाहिता णं चिट्ठित्तणं ?

गोयमा ! णो इण्ठे सम्ठे ।

से केण्ठे णं भंते ! जाव—ओगाहिता णं चिट्ठित्तणं ?

गोयमा ! केवलस्स णं एवीरिय-सजोग-सहव्वयाए चलाइ उबकरणाइं
भवन्ति, चलोवकरणट्टयाए य णं केवली अस्सि समयंसि जेसु आगासपपसेसु
हत्थं वा, जाव—चिट्ठइ ; णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव जाव—
चिट्ठित्तणं, से तेण्ठे णं जाव—बुच्चइकेवली णं अस्सि समयंसि जेसु आगासप-
पसेसु जाव—चिट्ठइणो णं पभूकेवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपपसेसु
हत्थं वा जाव—चिट्ठित्तणं ।

—भग० श ५ । उ ४ । प्र ३६-३७ । पृ० ८२८

केवली भी एक समय में जिन आकाश-प्रदेशों में अपने हाथ, पैर, बाहु और ऊरु (जंघा) आदि को अवगाहित करके रहते हैं, उनको भविष्यत्काल में उन्हीं आकाश-प्रदेशों में अवगाहित नहीं कर सकते ।

इसका कारण यह है कि केवली के भी वीर्यप्रधान योग युक्त जीव द्रव्य होने से उनके हाथ, पैर आदि अंग चलायमान होते हैं । हाथ, पैर आदि अंगों के चलायमान—अस्थिर होते रहने के कारण वर्तमान समय में उनसे जो आकाश-प्रदेश अवगाहित हुए हैं उन्हीं आकाश-प्रदेशों में भविष्यत्काल में हाथ, पैर आदि को अवगाहित नहीं कर सकते ।

०२६ भाव योग और वर्गणा

सेढिअसंखिज्जंसे जोगट्ठाणाणि पयडिडिभेया ।

डिइवंधज्जवसायाणुभागट्ठाणा असंखगुणा ॥

—कर्म० भा ५ । गा ६५ । पृ० ११७

टीका—योगः—वीर्यं तस्य स्थानानि—वीर्याविभागांशसंख्यातरूपाणि । कियन्ति पुनस्तानि भवन्ति ? इत्याह—“सेढिअसंखिज्जंसे” त्ति श्रेणेः असंख्येयांशः श्रेण्यसंख्येयांशः । एतदुक्तं भवति—श्रेणेर्वक्ष्यमाणरूपाया असंख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति तावन्ति योगस्थानानि, एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति शेषः । तत्र यथैतानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते—इह-किञ्च सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तस्य प्रदेशाः केचिदल्पवीर्य-युक्ताः, केचित्तु बहु-बहुतर-बहुतमवीर्योपेताः । तत्र सर्वजघन्यवीर्ययुक्तस्यापि प्रदेशस्य सम्बन्धि वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदेन च्छिद्यमानमसंख्येयलोकाकाश प्रदेश-प्रमाणान् भागान् प्रयच्छति, तस्यैवोत्कृष्टवीर्ययुक्ते प्रदेशे यद् वीर्यं तदेतेभ्योऽसंख्येयगुणान् भागान् प्रयच्छति । उक्तं च—

पन्नाए छिज्जंता, असंखलोगाण जत्तिय पपसा ।

तत्तिय वीरियभागा, जीवपएसम्मि एक्केक्के ॥

सव्वजहन्नगविरिए, जीवपएसम्मि एत्तिया संखा ।

तत्तो असंखगुणिया, बहुविरिए जियपएसम्मि ॥

—(शत० वृ० भा० गा० ६६८-६६)

भागा अविभागपलिच्छेदा इति नानर्थान्तरम् । ततः सर्वस्तोकाविभाग-पलिच्छेदकलितानां लोकासंख्येयभागवत्यसंख्येयप्रतरप्रदेशराशिसंख्यानं जीव-

प्रदेशानां समानवीर्यपरिच्छेदतया जघन्यैका वर्गणा, तत एकेन योगपरिच्छेदे नाधिकानां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीयवर्गणा, एवमेकैकयोगपरिच्छेद-वृद्ध्या वर्धमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा घनीकृतलोकाकाशश्रेणेर-संख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्याः । एताश्चैतावत्योऽप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते । ते च जीवप्रदेशा एकैकस्यां वर्गणायामसंख्येयप्रतरप्रदेशमाना अप्यसत्कल्पनया त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते । एताश्चैतावत्यः समुदिता एकं वीर्य-स्पृहं कमित्युच्यते ।

योग—वीर्य अर्थात् जीव का पराक्रम, उसके स्थान जो योग के अविभान्य अंश संख्यात रूप हैं । इन योगस्थानों की संख्या श्रेणी के असंख्यात अंश रूप कही गई है । अभिप्राय यह है कि श्रेणी के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश-प्रदेश होते हैं उतने योगस्थान होते हैं । यह संख्या उत्तर पद की अपेक्षा से सब से कम है । ये योगस्थान जिस प्रकार होते हैं वह कहा जाता है—सबसे जघन्य वीर्यलब्धि से युक्त जो सूक्ष्मनिगोद जीव है उसके जो प्रदेश हैं उनमें से कुछ तो अल्प वीर्य से युक्त होते हैं, कुछ बहुत, कुछ बहुततर तथा कुछ बहुतम वीर्य से युक्त होते हैं । इनमें सबसे जघन्य वीर्य से युक्त प्रदेश सम्बन्धी जो वीर्य होता है वह भी केवली प्रज्ञाच्छेद से छिन्न होता हुआ असंख्यात लोकाकाश प्रदेश रूप भागों को आवृत करता है ; उसी के उत्कृष्ट वीर्य युक्त प्रदेश में जो वीर्य होता है वह पूर्वोक्त भागों से असंख्यातगुने भागों को आवृत करता है । कहा गया है—

प्रज्ञा के द्वारा छिन्न होते हुए असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश होते हैं एक-एक जीवप्रदेश में उतने वीर्य अर्थात् योग के भाग होते हैं । सर्वतः जघन्य वीर्यवाले जीवप्रदेश में योगभाग की जितनी संख्या होसी है उससे असंख्यात गुनी अधिक बहुवीर्य वाले जीव-प्रदेश में योगभाग की संख्या होती है ।

भाग और अविभागपरिच्छेद समान अर्थ के द्योतक है । सबसे छोटे अविभाग-परिच्छेदों से बने हुए लोक के असंख्येय भागवर्ती असंख्यात प्रतर प्रदेश राशि रूप जीवों की समान वीर्य के परिच्छेदक होने के कारण जघन्य पहली वर्गणा होती है । इससे एक योग परिच्छेद अधिक उतने ही जीवप्रदेशों की दूसरी वर्गणा होती है । इस प्रकार एक-एक योगपरिच्छेद की वृद्धि से समानजातीय जीवप्रदेशों की घनीकृत लोकाकाशश्रेणी के असंख्यात भाग प्रदेशराशि रूप वर्गणा होती है । ये वर्गणाएं इतनी होने पर भी असत् कल्पना के आधार पर छः भागों में स्थापित की जाती है । जघन्य वर्गणा में जीवप्रदेश असंख्यात वीर्य भागों से युक्त रहते हुए भी दस भाग किये जाते हैं । वे जीवप्रदेश एक-एक वर्गणा में असंख्यात प्रतर-प्रदेश रूप होते हुए भी तीन-तीन भागों में स्थापित किये जाते हैं । इन सबों को मिलाकर एक वीर्यस्पृहक कहा जाता है ।

०२७ जोग और भाषा

दसविहे सच्चे पणत्ते, तंजहा—संगहणी-गाहा

जणवय सम्मय ठवणा, णामे रूवे पडुच्चसच्चे य ।
चवहार भाव जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य ॥

—टाण० स्था० १० । सू ८६

दस प्रकार के सत्य में एक योग सत्य भी है ।

०२८ योग और परम पुण्य का उपार्जन

कषायेन्द्रिययोगानां निग्रहैर्नियमादिभिः ।
सद्धानपूजनैश्चार्हद्गुरु भक्त्यादिसेवनैः ॥ २५ ॥
शुभभावनया ध्यानाध्ययनादिसुकर्मभिः ।
धर्मोपदेशनैः पुण्यं लभ्यते परमं बुधैः ॥ २६ ॥

—वीरवर्धच० अधि १७

कषाय, इन्द्रिय और मनोयोगादि के निग्रह से, नियमादि के धारण करने से, उत्तम दान देने से, पूजन करने से अर्हद्भक्ति, गुरुभक्ति आदि करने से × × × पंडितजन परम पुण्य को प्राप्त करते हैं ।

०२९ प्रदेशबंध और योगस्थान—

× × × पदेसबंधादो जोगठाणाणि सेडिए असंखेज्जदिभागमेत्ताणि जहणणट्ठाणादो अवट्ठिदपक्खेवेण सेडीए असंखेज्जदिभाग पडिभागिण विसेसा-
हियाणि जा (व) उक्कसजोगट्ठाणेत्ति दुगुण दुगुणहाणिअद्धानेहि सहियाणि सिद्धाणि हवन्ति । कुदो ? जोगेणविणा पदेसबंधाणुववत्तीदो ।

अथवा अणुभागबंधादो पदेसबंधो तक्कारणजोग ट्ठाणाणि च सिद्धाणि हवन्ति । कुदो ? पदेसेहि विणाअणुभागाणुववत्तीदो × × × ।

—षट्० खं १ । ६ । ७ । सू ४३ । टीका । पु ६ । पृ २०१

प्रदेश बंध से योगस्थान सिद्ध होते हैं । वे योगस्थान जगश्रेणी के असंख्यातवे भागमात्र हैं, और जघन्य योगस्थान से लेकर जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग—प्रतिभाग रूप अवस्थित प्रक्षेप के द्वारा विशेष अधिक होते हुए उत्कृष्ट योगस्थान तक दुगुने-दुगुने गुणहानि आभास से सहित सिद्ध होते हैं, क्योंकि योग के बिना प्रदेश बंध नहीं हो सकता है ।

अथवा अनुभागबंध से प्रदेशबंध और कारणभूत योगस्थान सिद्ध होते हैं, क्योंकि प्रदेशों के बिना अनुभागबंध नहीं हो सकता है ।

.०३० प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव और योग—

सो (पढमसम्मत्तं जभदिजीवो) पुण पंचिदिओ सन्नी मिच्छाइही पज्जत्तओ सम्बविसुद्धो ॥ ४ ॥

टीका—×××मणयोगी वच्चियोगी काययोगी वा। ×××।

—षट्० खं १। ६। ८। सू ४। पु ६। पृ० २०६-७

प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाला जीव पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्त और सर्वविशुद्ध होता है। ऐसा जीव तीनों योगों में से किसी एक योग में वर्तमान हो सकता है।

.०३१ भाव योग—प्रकृति और प्रदेश बन्ध का हेतु

तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया।

जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाओ ॥

—कर्म० भा० ५। गा ६६। पृ० १२०

टीका—×××“जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाउ” त्ति योगो वीर्यं शक्तिरुत्साह ; पराक्रम इति पर्यायाः ; तस्मात् योगात् प्रकरणं प्रकृतिः—कर्मणां ज्ञानावरणादिस्वभावः, प्रकृष्टाः पुद्गलास्तिकायदेशाः प्रदेशाः—कर्मवर्गणान्तः पातितः कर्मस्कन्धाः, प्रकृतयश्च प्रदेशाश्च प्रकृतिप्रदेशम् समाहारो द्वन्द्वः, तद् जीवः करोतीति शेषः, प्रकृति-प्रदेशबन्धयोर्योगो हेतु-रित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—यद्यपि षडशीतिकशास्त्रे मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषाय-योगाः सामान्येन कर्मणो बन्धहेतव उक्तास्तथाप्याद्यकारणत्रयाभावे-ऽप्युपशान्तमोहादि-गुणस्थानकेषु केवलयोगसद्भावे वेदनीयलक्षणा प्रकृतिस्तत्प्रदेशाश्च बध्यन्ते, अयोग्यवस्थायां तु योगाभावे न बध्यन्ते इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते प्रकृति-प्रदेशबन्धयोर्योग एव प्रधानं कारणम्। ×××।

योग, वीर्य, शक्ति, उत्साह और पराक्रम—ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। इस योग के द्वारा प्रकृति अर्थात् कर्मों के ज्ञानावरणादि स्वभाव और प्रकृष्ट पुद्गलास्तिकाय के देश रूप प्रदेश अर्थात् कर्मवर्गण के अन्तःपाती कर्मस्कन्ध इन दोनों का जीव जो बन्ध करता है उसका हेतु योग है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि षडशीतिक शास्त्र में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को सामान्य रूप से कर्म-बन्ध का हेतु कहा गया है तथापि उपरान्त मोह आदि गुणस्थानों में प्रथम तीन कारण अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति और कषाय के अभाव में भी केवल योग के सद्भाव में वेदनीय रूप प्रकृति और उसके प्रदेशों का बन्ध होता है तथा अयोगी अवस्था में योगाभाव रहने के कारण बन्ध नहीं होता है—इस प्रकार

अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जाना जाता है कि प्रकृति और प्रदेश के बन्ध का प्रधान कारण योग है।

०३२ भाव योग और आस्रव

(क) मिथ्यात्वमविरतिः प्रमादः कषायो योगश्च—जैनसिद्धि० प्र ४। सू १८
आस्रव के पाँच भेद हैं, उसका पाँचवाँ आस्रव योग आस्रव है—

१—मिथ्यात्व आस्रव

२—अविरति आस्रव

३—प्रमाद आस्रव

४—कषाय आस्रव

५—योग आस्रव

(ख) शुभयोग एव शुभकर्मास्रवः —जैनसिद्धि० प्र ४। सू २८

शुभयोग ही शुभकर्मा का आस्रव है। और योग आस्रव का एक भेद शुभ व एक भेद अशुभ योग आस्रव है।

०३३ भाव योग और निर्जरा

यत्र शुभयोगस्तत्र नियमेन निर्जरा —जैनसिद्धि० प्र ४। सू २९

जहाँ शुभ योग होता है ; वहाँ निर्जरा अवश्य होती है।

०३३ भाव योग की परिभाषा

कायवाङ्मनोव्यापारो योगः —जैनसिद्धि० प्र ४। सू २६

शरीर, वचन एवं मन के व्यापार को योग कहते हैं।

०३४ भाव योग के भेद

(योगः) शुभोऽशुभश्च —जैनसिद्धि० प्र ४। सू २७

योग दो प्रकार का होता है—शुभ व अशुभ।

०३५. योग और संवर—

पञ्च संवरद्वारा पणत्ता, तंजहा—सम्मत्त, विरई, अप्पमाया, अकसाया, अजोगा।

—सम० सम ५। सू ५

—ठाण० स्था ५। उ २। सू ११०

पाँच संवर में एक अयोग संवर है जो संपूर्ण योग के निरोध होने पर—चौदहवें गुणस्थान में होता है। संवर पाँच हैं—यथा—सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोगसंवर।

.०३६ भाव योग परिणाम के भेद

.०३६.१ योग परिणाम के भेद

योग परिणामे णं भंते । कतिविहे पणत्ते, गोयमा, तिबिहे पणत्ते, तंजहा—मन-जोग-परिणामे १, बइजोगपरिणामे २, कायजोग परिणामे ३ ।

—पण० प १३ । सू ६३१ । पृ० २२६

योग परिणाम के तीन भेद हैं—मनोयोग परिणाम, वचनयोग परिणाम और काययोग परिणाम ।

.०३७ विभिन्न जीवों में योग-परिणाम

.०१ नारकियों में

णेइया × × × जोगपरिणामेणं मणजोगी वि बइजोगी वि कायजोगी वि × × × ।

—पण० प १३ । सू ६३८ । पृ० २३०

नारकी जीव योग परिणाम की अपेक्षा मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी होते हैं ।

.०३७.०२ भवनपति देव में

(क) असुरकुमार, (ख) नागकुमार, (ग) सुपर्णकुमार (घ) विद्युत्कुमार, (ङ) अग्निकुमार, (च) द्वीपकुमार, (छ) उदधिकुमार, (ज) दिशाकुमार, (झ) वायुकुमार, (ञ) स्तनितकुमार ।

असुरकुमारा वि एवं चेव (जहा णेरइया) । × × × । एवं जाव थणियकुमारा ।

—पण० प १३ । सू ६३६ । पृ० २३१

भवनपति देवों में असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार योगपरिणाम की अपेक्षा नारकी की तरह मनोयोगी वचनयोगी और काययोगी होते हैं ।

३७.०३ वाणव्यन्तर देव में

३७.०४ ज्योतिषी देव में

वाणमंतरा × × × जहा असुरकुमारा ।

—पण० प १३ । सू ६४४ । पृ० २३२

एवं जोतिसिया वि । × × × । —पण० प १३ । सू ६४५ । पृ० २३२

वाणव्यन्तर देव असुरकुमार की तरह मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी होते हैं ।

ज्योतिषी देव असुरकुमार की तरह मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी होते हैं ।

.३७.०५ वैमानिक देव में

वेमाणिया वि एवं चेव (जहा जोतिसिया) ।

—पण्ण० प १३ । सू ६४६ । पृ० २३२

वैमानिक देव भी योगपरिणाम की अपेक्षा से मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी होते हैं ।

.३७.०६ तिर्यञ्च में

.०१ पृथ्वीकाय में

पुढविकाइया × × × जोगपरिणामेणं कायजोगी × × × ।

—पण्ण० प १३ । सू ६४० (१) । पृ० २३१

पृथ्वीकायिक जीव योगपरिणाम की अपेक्षा काययोगी होते हैं ।

.०२ अप्काय में

.०३ तेउकाय में

.०४ वायुकाय में

.३७.०५ वनस्पतिकाय में

एवं आउ-वणप्फइकाइया वि (जहा पुढविकाइया) ।

—पण्ण० प १३ । सू ६४० (३) । पृ० २३१

तेऊ बाऊ एवं चेव ।

—पण्ण० प १३ । सू ६४० (३) । पृ० २३१

इसी प्रकार अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव योगपरिणाम की अपेक्षा से काययोगी होते हैं ।

.३७.०६ द्वीन्द्रिय में

बेइंदिया × × × जोगपरिणामेणं वइजोगी वि कायजोगी वि × × × ।

—पण्ण० प १३ । सू ६४१ (१) । पृ० २३१

द्वीन्द्रिय जीव योगपरिणाम की अपेक्षा से वचनयोगी और काययोगी होते हैं ।

.३७.०७ त्रीन्द्रिय में

.३७.०८ चतुरिन्द्रिय में

एवं जाव सउरिंदिया ।

—पण्ण० प १३ । सू ६४१ (२) । २३१

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव योगपरिणाम की अपेक्षा से वचनयोगी और काययोगी होते हैं ।

३७.०९ तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया × × × जहा णेरइयाणं × × × ।

—पण्ण० प १३ । सू ६४२ । पृ० २३१

पंचेन्द्रिय तिर्य'चयोनिज जीव योगपरिणाम की अपेक्षा से नारकियों की तरह मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी होते हैं ।

३७.०१० मनुष्य में

मणुस्सा × × × जोगपरिणामेणं मणजोगी चि जाव अजोगी चि × × × ।

—पण्ण० प १३ । सू ६४३ । पृ० २३२

मनुष्य योगपरिणाम की अपेक्षा से मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी होते हैं तथा अयोगी भी होते हैं ।

५ योग और जीव

०१ योग की अपेक्षा जीव के भेद

५१-१ जीवों के भेद

(क) अहवा दुविहा सव्वजीवा पन्नत्ता; तंजहा—सकाइया खेव अकाइया खेव, एवं खेव ।

एवं सजोगी खेव अजोगी खेव तहेव ।

—जीवा० प्रति ६ । सर्व जीव । पृ० २५१

सर्व जीव के दो भेद होते हैं—सलेशी जीव, अलेशी जीव ।

(क) दुविहा सव्वजीवा पन्नत्ता, तंजहा × × × एवं एसा गाहा फासे-यववा जाव ससरीरी खेव असरीरी खेव ।

सिद्धसइंदिक्काए, जोगे वेए कसाय लेसाय ।

णाणुवओगाहारे, भासग चरिमेय ससरीरी ॥

—ठाण० स्था २ । उ ४ । सू १०१

सर्व जीवों के दो भेद—सयोगी जीव और अजोगी जीव ।

(ख) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा—× × × सजोगी खेव अजोगी खेव । × × × ।

—ठाण० स्था २ । उ ४ । सू ४१०

टीका—× × × सयोगाः—संसारिणः अयोगा—अयोगिनः सिद्धाश्च × × × ।

सव्वजीवों के दो विभाग किये जाते हैं—

यथा १ सयोगी—संसारी जीव

तथा २ अयोगी—अयोगी जीव तथा सिद्ध जीव ।

‘५१-२ जीवों के तीन भेद

संसारिय जीव × × ×।

तिबिह तिबिह—जोए वेएणवि ।

—वीरजि० सन्धि १२ । कड ४

योग की अपेक्षा जीव तीन प्रकार के हैं—काययोगी, वचनयोगी और मनयोगी ।

‘५१-३ जीव के चार भेद

(क) तत्थणं जे ते एवमाहंसु—चउव्विहा सव्वजीवा णणत्ता; ते एवमाहंसु; तंजहा—मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी, अजोगी ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २५७ सर्व जीव

(ख) चउव्विहा सव्वजीवा पणत्ता, तंजहा—मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी, अजोगी ।

—ठाण० स्था २ । उ ४ । सू ६०६

सर्व जीवों के चार भेद होते हैं—मनयोगी, वचनयोगी, काययोगी तथा अयोगी ।

‘५२ योग की अपेक्षा जीव की वर्णना

मनयोग जीवों की एक वर्णना है, इसी प्रकार वचनयोग, काययोगी जीवों की वर्णनाएं हैं ।

मनयोगी नारकियों की एक वर्णना होती है, इसी प्रकार दंडक में जिसके जितने योग होते हैं उतनी वर्णना कहनी चाहिए ।

‘५३ विभिन्न जीवों में योग**‘०१ औघिक जीव में**

(क) तत्थ ओघेण अत्थि × × × पण्णरह जोगा, अजोगो वि × × ×। संपहि मिच्छाइट्ठीणं ओघालावे भण्णमाणे अत्थि × × × आहार-दुगेण बिणा तेरह जोग × × ×। सासणसम्माइट्ठीणमोघे भण्णमाणे अत्थि × × × तेरह जोग × × × सम्मामिच्छाइट्ठीणमोघालावे भण्णमाणे अत्थि × × × दस जोग × × × असंजद-सम्माइट्ठीणमोघ—परूवणे भण्णमाणे अत्थि xxx तेरह जोग × × × संजदा-संजदानमोघालावे भण्णमाणे अत्थि × × × णव जोग × × × पमत्तसंजदानमोघालावे भण्णमाणे अत्थि xxx एकारह जोग xxx । अप्पमत्तसंजदानमोघालावे भण्णमाणे अत्थि × × × णव जोग × × × । अपुव्वकरणाणमोघालावे भण्णमाणे अत्थि × × × णव जोग, उल्लाणीणमपुव्वकरणाणं भवदु णाम वच्चिबलस्स अत्थित्तं भासापज्जत्ति-सण्णिदपोगलखंध-जणिद-सत्ति-सग्गभावादो । ण पुण वच्चिजोगो

कायजोगो वा इदि ? न, अन्तर्जल्पप्रयत्नस्य कायगत सूक्ष्मप्रयत्नस्य च तत्र सत्त्वात् । x x x । पढम-अणियट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x । विदिय-ट्ठाणट्ठिद-अणियट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x । तदिय-ट्ठाण-ट्ठिद-अणियट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x । चउ-ट्ठाण-ट्ठिद-अणियट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x । पंचम-ट्ठाण-ट्ठिद-अणिय-ट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x । सुहुमसांपराइयाणमोघालावे भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x । उवसंतकसायाणमोघालावे भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x । खीणकसायाणं भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x । सजोगिकेवलीणं भण्णमाणे अत्थि x x x सत्त जोग, सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सच्चवच्चिजोगो असच्चमोसवच्चिजोगो ओरालियकायजोगो कवाडगदस्स ओरालियमिस्सकायजोगो पदर-लोगपूरणेसु कम्मइयकायजोगो, एवं सजोगिकेवलिस्स सत्त जोगा भवन्ति । x x x । अजोगिकेवलीणं भण्णमाणे अत्थि x x x अजोगो x x x । —षट्० खं १, । टीका पु २ । पृ० ४१५-४७

औधिक जीव में पन्द्रह योग होते हैं तथा अयोगावस्था भी होती है । विभिन्न गुणस्थानवर्ती औधिक जीव में योग का सद्भाव इस प्रकार होता है । औधिक मिथ्यादृष्टि जीव में आहारक और आहारक मिश्र के व्यतिरिक्त तेरह योग होते हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि जीव में तेरह योग । सम्यग्-मिथ्यादृष्टि जीव में दस योग । असंयत सम्यग्दृष्टि जीव में तेरह योग । संयतासंयत जीव में नौ योग । प्रमत्तसंयत जीव में ग्यारह योग । अप्रमत्त संयत जीव में नौ योग होते हैं ।

अपूर्वकरण जीव में नौ योग होते हैं । ध्यानस्थ अपूर्वकरण जीव में वचनबल का अस्तित्व तो रहता ही है, क्योंकि भाषाययीप्ति संज्ञक पुद्गलस्कन्धों से उत्पन्न शक्ति का सद्भाव रहता है ; अतएव वचनयोग और काययोग का भी सद्भाव मानना चाहिए, क्योंकि अन्तर्जल्प के लिए प्रयत्न तथा कायगत सूक्ष्म प्रयत्न का भी उस अवस्था में सद्भाव रहता है ।

अनिवृत्तबादर (करण) जीव के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम स्थान में नौ योग/सूक्ष्मसंपराय जीव में नौ योग/उपशान्तकषाय जीव में नौ योग/क्षीणकषाय जीव में नौ योग होते हैं । सयोगिकेवली जीव में सत्यमनोयोग, असत्यामृषा मनोयोग, सत्यवचन योग, असत्यामृषा वचनयोग, औदारिक काययोग, कषाट समुद्घातकोप्राप्त सयोगिकेवली में औदारिकमिश्र काययोग, लोकपूरण समुद्घात में कर्मण काययोग—इस प्रकार सात योग होते हैं । अयोगिकेवली जीव में योग का सद्भाव नहीं रहता है ।

०१ औधिक जीवों में

(ख) तिविहे जोगे पणत्ते, तं जहा—मणजोगे, वइजोगे, कायजोगे । एवं-
णेइयाणं विगल्लिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं ।

—ठाणा० स्था ३ । उ १ । सू १३ । पृ० ५४१

टीका—सामान्येन योगं प्ररूप्य विशेषतो नारकादिषु चतुर्विंशतौ पदेषु
तमतिदिशन्नाह—‘एव’ मिथ्यादि, कष्ट्यं नवरमतिप्रसंगपरिहारायेदमुक्तं—
“विगल्लिंदियवज्जाणं” ति तत्र विकलेन्द्रियाः—अपच्चेन्द्रियाः, तेषां ह्येकेन्द्रियाणां
काययोग एव, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तु काययोग-वाग्योगाविति ।

(ग) चउव्विहा सव्वजीवा पणत्ता ते एवमाहंसु तं जहा—मणजोगी
वइजोगी कायजोगी अजोगी ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २५७ । पृ ४४६

(घ) जीवाणं भंते ! कतिविधे पओगे पणत्ते ? गोथमा ! पण्णरसविधे
पणत्ते, सच्चमणप्पओगे असच्चमणप्पओगे २ सच्चामोसमणप्पओगे ३ असच्चामो-
समणप्पओगे ४ सच्चवइप्पओगे ५ असच्चवइप्पओगे ६ सच्चामोसवइप्पओगे ७
असच्चामोसवइप्पओगे ८ ओरालियसरीर कायप्पओगे ९ ओरालियमीस सरीर-
कायप्पओगे १० वेउव्वियसरीरकायप्पओगे ११ वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगे
१२ आहारकसरीरकायप्पओगे १३ आहारकमीससरीरकायप्पओगे १४ (जाव)
कम्मासरीरकायप्पओगे १५ ।

—पण्ण० प १६ । सू १०६६ । पृ० २६२

समास में योग तीन होते हैं जो विकलेन्द्रिय अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय
और चतुरिन्द्रिय को छोड़कर अवशेष सभी जीवों में होते हैं, क्योंकि एकेन्द्रियों में केवल
काययोग होता है तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में काययोग और वचनयोग
होते हैं ।

योग की अपेक्षा सब जीव चार प्रकार के होते हैं, यथा—मनयोगी, वचनयोगी,
काययोगी तथा अयोगी ।

औधिक जीवों में पन्द्रह प्रयोग अर्थात् प्रकर्षता से युज्यमान योग होते हैं, यथा—
सत्यमनोप्रयोग यावत् कामर्ष शरीर काय प्रयोग ।

०१.०१ औधिक अपर्याप्त जीवों में

संपहि अपज्जति-पज्जाय-विसिद्धे ओघे भण्णमाणे अत्थि मिच्छाइट्ठी
सासणसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी पमत्तसंजदा सजोगिकेवलि त्ति पंच गुणट्ठा-
णाणि × × × ओरालियमिस्स-वेउव्वियमिस्स-आहारमिस्स-कम्मइयकाय-
जोगेत्ति चत्तारि जोगा × × × ।

तेसिं (मिच्छाइट्ठीणं ओघालावे) चेव अपज्जत्तोघे भण्णमाणे अत्थि
 $\times \times \times$ तिण्णि जोग $\times \times \times$ । तेसिं (सासणसम्माइट्ठीणं) चेव अपज्जत्ताणं
 भण्णमाणे अत्थि $\times \times \times$ तिण्णि जोग $\times \times \times$ । तेसिं (असंजदसम्माइट्ठीणं)
 चेव अपज्जत्ताणमोघपरूवणे भण्णमाणे अत्थि $\times \times \times$ तिण्णि जोग $\times \times \times$ ।

षट्.० खं १, १ । टीका पु २ । पृ० ४२१-३०

अपर्याप्त पर्याप्त से युक्त औधिक अपर्याप्त जीवों में मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, प्रमत्तसंयत और सयोगिकेवली ये पाँच गुणस्थान होते हैं । अतः इनमें औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र और कर्मणकाय—ये चार योग होते हैं ।

औधिक मिथ्यादृष्टि अपर्याप्त, सासादन सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त तथा असंयत सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त जीवों में तीन योग होते हैं ।

सामान्य अपर्याप्त जीवोंमें तीन ही गुणस्थान होते हैं और इन गुणस्थानवर्ती अपर्याप्त जीवों में तीन ही योग पाये जाते हैं । प्रमत्तसंयत में विशेष अपेक्षा से अपर्याप्त अवस्था मानी गयी है और उस अवस्था में उनमें चार योग होते हैं । सयोगी केवली में समुद्रघात की विशेष अवस्था में अपर्याप्तता मानी जाती है और उनमें दो योग होते हैं ।

.०१.०२ औधिक पर्याप्त जीवों में

पज्जत-विसिद्धे ओघे भण्णमाणे अत्थि चोदस गुणट्ठाणाणि, अदीदगुण-
 ट्ठाणं णत्थि; पज्जत्तेसु तस्स संभवाभावादो । $\times \times \times$ ओरालिय-वेउव्विय-आहार-
 मिरस्स-कम्मइयकायजोगेहि बिणा एकारह जोग, अजोगो बि अत्थि $\times \times \times$ ।
 तेसिं चेव मिच्छाइट्ठीणं पज्जत्तोघे भण्णमाणे अत्थि $\times \times \times$ दसजोग $\times \times \times$ ।
 तेसिं चेव सासणसम्माइट्ठीणं पज्जत्ताणमोघालावे भण्णमाणे अत्थि $\times \times \times$ दस-
 जोग $\times \times \times$ । असंजदसम्माइट्ठीणं पज्जत्ताणमोघालावे भण्णमाणे अत्थि $\times \times \times$
 दसजोग $\times \times \times$ ।

पमत्तसंजदाणमोघालावे भण्णमाणे अत्थि $\times \times \times$ एकारह जोग $\times \times \times$ ।
 (अन्य गुण स्थानों के आलापक ओघ के समान ही होते हैं)

—षट्.० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ४२०-४३२

पर्याप्त-पर्याप्त विशिष्ट औधिक पर्याप्त जीवों में चौदह गुणस्थान होते हैं, किन्तु अतीत गुणस्थान नहीं होता है, क्योंकि पर्याप्त जीवों में अतीत गुणस्थान की संभावना नहीं है । औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र और कर्मणकाय योग के बिना ग्यारह योग होते हैं तथा अयोगावस्था भी होती है । गुणस्थान की अपेक्षा से औधिक पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीवों में दस योग होते हैं । इनके सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों में दस योग । इनके असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों में दस योग । प्रमत्तसंयत जीवों में ग्यारह योग होते हैं ।

०२ औधिक नारकी में

(क) आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइयाणं भण्णमाणे अत्थि
 × × × एगारह जोग × × × । संपहि णेरइय-मिच्छाइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि
 × × × एगारह जोग × × × । सासणसम्माइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि × × ×
 णव जोग × × × । सम्मामिच्छाइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि × × × णव जोग
 × × × । असंजद-सम्माइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि × × × एगारह जोग × × × ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पृ २ पृ० ४४८-४४

(ख) से किं तं नेरइया ? २ सत्तबिहा पणत्ता, तंजहा—रयणप्पभापुढ-
 विनेरइया जाव अहेसत्तमपुढविनेरइया, ते समासओ दुविहा पणत्ता, तंजहा—
 पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । तेसि णं भंते ! जीवाणं × × × तिविधे जोगे × × × ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३२ । पृ० ३३

(ग) तिविहे जोगे पणत्ते, तं जहा—मणजोगे, चइजोगे, काययोगे । एवं
 णेरइयाणं × × × ।

—ठाणा स्था ३ । उ १ । सू १३ । पृ० ५४१

(घ) णेरइयाणं भंते ! कतिविहे पओगे पणत्ते ? गोयमा ! एक्कारसविहे
 पओगे पणत्ते । तं जहा—सच्चमणप्पओगे १ जाव असच्चामोसवइप्पओगे ८
 वेडव्वियसरीरकायप्पओगे ९ वेडव्वियमीससरीरकायप्पओगे १० कम्मासरीर-
 कायप्पओगे ११ ।

—पण्ण० प १६ । सू १०७० । पृ० २६१

औधिक नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कर्मण
 काययोग—ये ग्यारह योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि औधिक नारकियों
 में ग्यारह योग । सासादनसम्यग्दृष्टि औधिक नारकियों में वैक्रियमिश्र और कर्मणकाय के
 बिना नौ योग । सम्यग्मिथ्यादृष्टि औधिक नारकियों में नौ योग । असंयतसम्यग्दृष्टि औधिक
 नारकियों में ग्यारह योग होते हैं ।

नारकी सात प्रकार के होते हैं—रत्नप्रभा (प्रथम पृथ्वी, द्वितीय पृथ्वी, तृतीय
 पृथ्वी, चतुर्थ पृथ्वी, पंचम पृथ्वी, षष्ठम पृथ्वी) यावत् अधः, सप्तम पृथ्वी । वे समासतः दो
 प्रकार के होते हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । इन नारकी जीवों में तीन योग होते हैं, यथा—
 मनोयोग, वचनयोग और काययोग ।

नारकियों में ग्यारह प्रयोग अर्थात् प्रकर्ष रूप से युज्यमान योग होते हैं । यथा—चार
 मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कर्मण शरीर काय प्रयोग ।

(च) इसीसे णं भंते ! रयणप्पमाए जाव नेरइया किं मणजोगी ?
 चइयोगी ? कायजोगी

तिणिण चि । × × × ।

एवं वइजोए ।

एवं कायजोए ।

— भग श १ । उ ५ । सू २३७, २३६, २४०

रत्नप्रभा यावत् तमतमा प्रभा नारकी मनोयोगी, वचनयोगी व काययोगी होते हैं ।

‘०२’०१ औघिक नारकी अपर्याप्त जीवों में

(क) तेसिं (गेरइयाणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × × दो जोग × × × । तेसिं (गेरइय-मिच्छाइट्ठीणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × × वे जोग × × × । तेसिं (गेरइय-असंजदसम्माइट्ठीणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × × वे जोग × × × ।

— षट् ० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ४५०-४५५

औघिक अपर्याप्त नारकी जीवों में वैक्रियमिश्र और कार्मणकाय ये दो योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि औघिक अपर्याप्त नारकी जीवों में दो योग । असंयत सम्यग्दृष्टि औघिक अपर्याप्त नारकियों में दो योग होते हैं ।

सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि—ये दो गुणस्थान अपर्याप्त नारकी के नहीं होते हैं ।

‘०२’०२ औघिक नारकी पर्याप्त जीवों में

तेसिं (गेरइयाणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × × णव जोग, × × × । तेसिं (गेरइय-मिच्छाइट्ठीणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × × णव जोग × × × । तेसिं (गेरइय-असंजदसम्माइट्ठीणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × × णव जोग × × × ।

— षट् ० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ४४६-४५५

औघिक पर्याप्त नारकियों के चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—ये नौ योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से औघिक पर्याप्त नारकियों में नौ योग । असंयत सम्यग्दृष्टि औघिक पर्याप्त नारकियों में नौ योग होते हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान पर्याप्त नारकियों के ही होते हैं, अतः इन दोनों गुणस्थानों के औघिक नारकियों (पाठ ‘०२’) में नौ योग होते हैं ।

‘०३’ प्रथम पृथ्वी के नारकियों में

(क) पढमाण पुढवीए गेरइयाणं भण्णमाणे अत्थि × × × एगारह जोग × × × । संपहि पढम-पुढवि-मिच्छाइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि × × × एगारह

जोग $\times \times \times$ । सासणसम्माइट्टीणं (णेरइयाणं भणणमाणे अत्थि $\times \times \times$ णव
जोग $\times \times \times$ । सम्मामिच्छाइट्टीणं (णेरइयाणं) भणणमाणे अत्थि $\times \times \times$ णव
जोग $\times \times \times$ । असंजदसम्माइट्टीणं भणणमाणे अत्थि $\times \times \times$ एगारह जोग
 $\times \times \times$ ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ४५६-६२

(ख) देखो पाठ '०२

—ठाणा० स्था ३ उ १ । सू १३ । पृ० ५४९

(ग) इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए किं मणजोगी वइजोगी कायजोगी ?
तिण्णिवि $\times \times \times$ ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू ८८ । पृ० ११५

प्रथम पृथ्वी के औघिक नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रिय-
मिश्र, और कर्मणकाय—ये ग्यारह योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि प्रथम
पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त ग्यारह योग । सासादन सम्यग्दृष्टि प्रथम पृथ्वी के नारकियों
में चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग । सम्यग्मिथ्यादृष्टि प्रथम पृथ्वी
के नारकियों में चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग । असंयत सम्यग्दृष्टि
प्रथम पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और
कर्मणकाय—ग्यारह योग होते हैं ।

रत्नप्रभा—प्रथम पृथ्वी के नारकियों में मन, वचन और काय—तीन योग
होते हैं ।

‘०३’०१ प्रथम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में

तेसिं (पढमाए पुढवीए णेरइयाणं) चेव अपज्जत्ताणं भणणमाणे अत्थि
 $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । तेसिं (पढम-पुढवि-मिच्छाइट्टीणं) चेव अपज्जत्ताणं
भणणमाणे अत्थि $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । तेसिं (पढम-पुढवि-असंजदसम्माइट्टीणं)
चेव अपज्जत्ताणं भणणमाणे अत्थि $\times \times \times$ वे जोग $\times \times \times$ ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ पृ० ४५६-६३

प्रथम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में वैक्रियमिश्र और कर्मणकाय दो योग होते हैं ।
गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि प्रथम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त दो योग ।
असंयत सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त प्रथम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त दो योग होते हैं । सासादन
सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अपर्याप्त अवस्था नहीं होती है ।

‘०३’०२ प्रथम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में

तेसिं (पढमाए पुढवीए णेरइयाणं) चेव पज्जत्ताणं भणणमाणे अत्थि $\times \times \times$
णव जोग $\times \times \times$ । तेसिं (पढम-पुढवि-मिच्छाइट्टीणं) चेव पज्जत्ताणं भणणमाणे
अत्थि $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । तेसिं (पढम-पुढवि-असंजदसम्माइट्टीणं) चेव
पज्जत्ताणं भणणमाणे अत्थि $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ४५७-७३

प्रथम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग होते हैं। गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि पर्याप्त प्रथम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग। असंयतसम्यग्दृष्टि पर्याप्त प्रथम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग होते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान पर्याप्त नारकियों के ही होते हैं और उनमें उपर्युक्त नौ योग होते हैं।

०४ द्वितीय पृथ्वी के नारकियों में

(क) विद्याए पुढवीए णेरइयाणं भणमाणे अत्थि $x \times x \times$ एगारह जोग $x \times x \times$ । (विद्याए पुढवीए) मिच्छाइट्ठीणं भणमाणे अत्थि $x \times x \times$ एगारह जोग $x \times x \times$ । सासणसम्माइट्ठीणं भणमाणे अत्थि $x \times x \times$ णव जोग $x \times x \times$ । सम्मामिच्छाइट्ठीणं भणमाणे अत्थि $x \times x \times$ णव जोग $x \times x \times$ । असंजदसम्माइट्ठीणं भणमाणे अत्थि $x \times x \times$ णव जोग $x \times x \times$ ।

—षट्० खं १, १। टीका। पु २। पृ० ४६४-६६

(ख) देखो पाठ ०२।

—ठाठा० स्था ३। उ १। सू १३। पृ० ५४१

(ग) इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए किं मणजोगी वइजोगी कायजोगी ? तिण्णिवि, एवं जाव अहेसत्तमाए। —जीवा० प्रति ३। उ २। सू ८८। पृ० ११५

(घ) नेरइयाणं भंते ! कतिविधे पओगे पणत्ते ? गोयमा ! एकारसविधे पओगे पणत्ते, तं जहा—सच्चमणप्पओगे जाव असञ्चामोसवयप्पओगे वेउव्विय सरीरकायप्पओगे वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगे (तेया) कम्मसरीरकायप्पओगे $x \times x \times$ ।

—पण० प १६। सू १०७०। पृ० २७१

द्वितीय पृथ्वी के औघिक नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रिय-मिश्र और कर्मणकाय—ग्यारह योग होते हैं। गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि द्वितीय पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त ग्यारह योग होते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि द्वितीय पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग। सम्यग्मिथ्यादृष्टि द्वितीय पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग/असंयत सम्यग्दृष्टि द्वितीय पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग होते हैं।

द्वितीय पृथ्वी के नारकियों में मन, वचन और काय—तीन योग होते हैं।

द्वितीय पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रियशरीर, वैक्रियमिश्र शरीर और कर्मणशरीर काय—ग्यारह प्रकृष्ट योग या प्रयोग होते हैं।

०४.०१ द्वितीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में

तेसि (विद्याए पुढवीए णेरइयाणं) चेव अपजत्ताणं भणमाणे अत्थि

एयं गुणद्व्याणं x x x वे जोग x x x । तेसिं (विदियाए पुढवीए णेरइय-मिच्छा-इद्वीणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि x x x वे जोग x x x ।

— षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ४६५-६७

द्वितीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है तथा वक्रियमिश्र और कार्मणकाय—दो योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि द्वितीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त दो योग होते हैं ।

.०४.०२ द्वितीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में

तेसिं (विदियाए पुढवीए णेरइयाणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि चत्तारि गुणद्व्याणाणि x x x णव जोग x x x । तेसिं (विदियाए पुढवीए णेरइय-मिच्छाइद्वीणं भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x ।

— षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ४६५-६७

द्वितीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में चार गुणस्थान होते हैं तथा चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि पर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त नौ योग होते हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि द्वितीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकी ही होते हैं और इनमें उपर्युक्त नौ योग होते हैं ।

.०५ तृतीय पृथ्वी के औघिक नारकियों में

(क) एवं (जहा विदियाए पुढवीए णेरइयाणं) तदिय-पुढवि-आदि जाव सत्तम-पुढवि त्ति चदुण्हं गुणद्व्याणाणमाजावो वत्तवो ।

— षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ४७०

(ख) देखो पाठ .०२ ।

— ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १३ । पृ० ५४१

(ग) देखो पाठ .०२.०४ ।

— जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू ८८ । पृ० ११५

(घ) देखो पाठ .०२.०४ ।

— पण्ण० प १६ । सू १०७० । पृ० २६१

तृतीय पृथ्वी के औघिक नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रिय-मिश्र और कार्मणकाय—ग्यारह योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि तृतीय पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त ग्यारह योग होते हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि तृतीय पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के, और वैक्रियकाय—नौ योग । सम्यग्मिथ्यादृष्टि तृतीय पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग । असंयतसम्यग्दृष्टि तृतीय पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग ।

तृतीय पृथ्वी के नारकियों में मन, वचन और काय—तीन योग होते हैं ।

तृतीय पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रियशरीर, वैक्रियमिश्र-शरीर और कार्मणशरीरकाय—ग्यारह प्रकृष्ट योग या प्रयोग होते हैं ।

.०५.०१ तृतीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में**देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकी .०४.०१ ।**

— षट्० खं० १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ४६५-६७

तृतीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है तथा वैक्रियमिश्र और कार्मणकाय—दो योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि तृतीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त दो योग होते हैं ।

.०५.०२ तृतीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में**देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकी .०४.०२ ।**

— षट्० खं० १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ४६५-६७

तृतीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में आदि के चार गुणस्थान होते हैं तथा चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि तृतीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त नौ योग । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि तृतीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकी ही होते हैं और इनमें—उपर्युक्त नौ योग होते हैं ।

.०६ चतुर्थ पृथ्वी के औघिक नारकियों में**देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के नारकी .०४ ।**

चतुर्थ पृथ्वी के औघिक नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रिय-मिश्र और कार्मणकाय—ग्यारह योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि चतुर्थ पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त ग्यारह योग होते हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि चतुर्थ पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग । सम्यग्मिथ्यादृष्टि चतुर्थ पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग । असंयत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग होते हैं ।

चतुर्थ पृथ्वी के नारकियों में मन, वचन, और काय—तीन योग होते हैं ।

चतुर्थ पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रियशरीर, वैक्रियमिश्र-शरीर और कार्मणशरीरकाय—ग्यारह प्रकृष्ट योग या प्रयोग होते हैं ।

.०६.०१ चतुर्थ पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में**देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकी .०४.०१ ।**

चतुर्थ पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है तथा वैक्रियमिश्र और कार्मणकाय—दो योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि चतुर्थ पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त दो योग होते हैं ।

•०६.०२ चतुर्थ पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में**देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकी •०४.०२ ।**

चतुर्थ पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में आदि के चार गुणस्थान होते हैं तथा चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि चतुर्थ पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त नौ योग । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ पृथ्वी के पर्याप्त नारकी ही होते हैं और इनमें—उपर्युक्त नौ योग होते हैं ।

•०७ पंचम पृथ्वी के औघिक नारकियों में**देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के नारकी •०४ ।**

पंचम पृथ्वी के औघिक नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कर्मणकाय—ग्यारह योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि पंचम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त ग्यारह योग होते हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि पंचम पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग । सम्यग्मिथ्यादृष्टि पंचम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग । असंयत सम्यग्दृष्टि पंचम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग होते हैं ।

पंचम पृथ्वी के नारकियों में मन, वचन और काय—तीन योग होते हैं ।

पंचम पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रियशरीर, वैक्रियमिश्र शरीर और कर्मणशरीर काय—ग्यारह प्रकृष्ट योग या प्रयोग होते हैं ।

•०७.०१ पंचम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में**देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकी •०४.०१ ।**

पंचम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है तथा वैक्रियमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि पंचम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त दो योग होते हैं ।

•०७.०२ पंचमी पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में**देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकी •०४.०२ ।**

पंचम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में आदि के चार गुणस्थान होते हैं तथा चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि पंचम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त नौ योग । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि पंचम पृथ्वी के पर्याप्त नारकी ही होते हैं और इनमें—उपर्युक्त नौ योग होते हैं ।

•०८ षष्ठम पृथ्वी के औघिक नारकियों में**देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के औघिक नारकी •०४ ।**

षष्ठम पृथ्वी के औघिक नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रिय-

मिथ्र और कार्मणकाय—ग्यारह योग होते हैं। गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि षष्ठम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त ग्यारह योग होते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि षष्ठम पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग। सम्यग्मिथ्यादृष्टि षष्ठम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग। असंयत सम्यग्दृष्टि षष्ठम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग होते हैं।

षष्ठम पृथ्वी के नारकियों में मन, वचन और काय—तीन योग होते हैं।

षष्ठम पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के वैक्रियशरीर, वैक्रियमिथ्र-शरीर और कार्मणशरीर काय—ग्यारह प्रकृष्ट योग या प्रयोग होते हैं।

‘०८’०१ षष्ठम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में

देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकी ‘०४’०१।

षष्ठम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है तथा वैक्रियमिथ्र और कार्मणकाय—दो योग होते हैं। गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि षष्ठम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त दो योग होते हैं।

‘०८’०२ षष्ठम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में

देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकी ‘०४’०२।

षष्ठम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में आदि के चार गुणस्थान होते हैं तथा चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय - नौ योग होते हैं। गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि षष्ठम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त नौ योग। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि षष्ठम पृथ्वी के पर्याप्त नारकी ही होते हैं और इनमें उपर्युक्त नौ योग होते हैं।

‘०९’ सप्तम पृथ्वी के औघिक नारकियों में

देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के औघिक नारकी ‘०४’।

सप्तम पृथ्वी के औघिक नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रिय-मिथ्र और कार्मणकाय—ग्यारह योग होते हैं। गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि सप्तम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त ग्यारह योग होते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि सप्तम पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग। सम्यग्मिथ्यादृष्टि सप्तम पृथ्वी के नारकियों में उपर्युक्त नौ योग। असंयत सम्यग्दृष्टि सप्तम पृथ्वी की नारकियों में उपर्युक्त नौ योग होते हैं।

सप्तम पृथ्वी के नारकियों में मन, वचन और काय—तीन योग होते हैं।

सप्तम पृथ्वी के नारकियों में चार मन के, चार वचन के, वैक्रियशरीर, वैक्रियमिथ्र-शरीर और कार्मणशरीर काय—ग्यारह प्रकृष्ट योग या प्रयोग होते हैं।

०९.०१ सप्तम के अपर्याप्त नारकियों में

देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के अपर्याप्त नारकी ०४.०१ ।

सप्तम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है तथा वैक्रियमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि सप्तम पृथ्वी के अपर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त दो योग होते हैं ।

०९.०२ सप्तम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में

देखो पाठ द्वितीय पृथ्वी के पर्याप्त नारकी ०४.०२ ।

सप्तम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में आदि के चार गुणस्थान होते हैं तथा चार मन के, चार वचन के और वैक्रियकाय—नौ योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि सप्तम पृथ्वी के पर्याप्त नारकियों में उपर्युक्त नौ योग । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्या-दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि सप्तम पृथ्वी के पर्याप्त नारकी ही होते हैं और इनमें उपर्युक्त नौ योग होते हैं ।

०१० औधिक तिर्य'चों में

(क) तिरिक्खगईण तिरिक्खाणं भण्णमाणे x x x अत्थि पंच गुणद्वाणाणि x x x एगारह जोग x x x । संपहि तिरिक्ख-मिच्छाइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि x x x एगारह जोग x x x । तिरिक्ख-सासणसम्माइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि x x x एगारह जोग x x x । तिरिक्ख-सम्मामिच्छाइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x । तिरिक्ख-असंजदसम्माइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि x x x एगारह जोग x x x । तिरिक्ख-संजदासंजदाणं भण्णमाणे अत्थि x x x णव जोग x x x ।
—षट्.० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ४७१-८१

(ख) ते णं भंते ! (तिरिक्खजोणिया) जीवा किं मणजोगी वइजोगी कायजोगी ? गोयमा ! तिविधावि । —जीवा० प्रति ३ । उ १ । सू ६७ । पृ० १३३

(ग) तिविहे जोगे पन्नत्ते, तंजहा—मणजोगे वतिजोगे कायजोगे, एवं णेरतित्ताणं विगल्लिदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १३ । पृ० ५४१

औधिक तिर्य'चों के पाँच गुणस्थान होते हैं और इनमें चार मन के, चार वचन के, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग और कर्मणकाय—ग्यारह योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि तिर्य'चों में उपर्युक्त ग्यारह योग । सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्य'चों में उपर्युक्त ग्यारह योग । सम्यग्मिथ्यादृष्टि तिर्य'चों में चार मन के, चार वचन के, और औदारिककाय—नौ योग/असंयत-सम्यग्दृष्टि तिर्य'चों में चार मन के, चार वचन के,

औदारिक, औदारिकमिम और कर्मणकाय—ग्यारह योग । संयतासंयत तिर्यंचों में चार मन के, चार वचन के और औदारिक काय—नौ योग होते हैं ।

औधिक तिर्यंचों में मन, वचन और काय—तीनों ही योग होते हैं ।

.०१०.१ अपर्याप्त तिर्यंचों में

तेसि (तिरिक्खाणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ वे जोग $x \times x$ । तेसि (तिरिक्ख-मिच्छाइट्ठीणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ वे जोग $x \times x$ । तेसि (तिरिक्ख-सासणसम्माइट्ठीणं) चेव भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ वे जोग $x \times x$ । तेसि (तिरिक्ख-असंजदसम्माइट्ठीणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ वे जोग $x \times x$ ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ४७३-८०

अपर्याप्त तिर्यंचों में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि अपर्याप्त तिर्यंचों में उपर्युक्त दो योग । सासादन सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त तिर्यंचों में उपर्युक्त दो योग । सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान अपर्याप्त जीव में नहीं होता है । असंयत सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त तिर्यंचों में उपर्युक्त दो योग ।

.१०.०२ पर्याप्त तिर्यंचों में

तेसि (तिरिक्खाणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । तेसि (तिरिक्ख-मिच्छाइट्ठीणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । तेसि (तिरिक्ख-सासणसम्माइट्ठीणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । तेसि (तिरिक्ख-असंजदसम्माइट्ठीणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ णव जोग $x \times x$ ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ४७२-८०

पर्याप्त औधिक तिर्यंचों में चार मन के, चार वचन के, और औदारिककाय—नौ योग होते हैं । गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि पर्याप्त तिर्यंचों में उपर्युक्त नौ योग । सासादन सम्यग्दृष्टि पर्याप्त तिर्यंचों में उपर्युक्त नौ योग । असंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त तिर्यंचों में उपर्युक्त नौ योग होते हैं । इनसे आगे के सभी गुणस्थान पर्याप्त में ही होते हैं, अतः सम्यग् मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत गुणस्थान में उपर्युक्त नौ योग होते हैं ।

.०११ औधिक एकेन्द्रियों में

(क) सामण्णेइंदियाणं भण्णमाणे अत्थि एयं गुणट्ठाणं $x \times x$ तिण्णि जोग $x \times x$ ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ५६६

(ख) तिचिहे जोगे पन्नत्ते, तंजहा—मणजोगे वतिजोगे कायजोगे, एवं णेरतित्ताणं विगज्जिदियवज्जाणं $x \times x$ । —ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १३ । पृ० ५४१

टीका—“विगर्लदियवज्जाणं” ति तत्र चिकलेन्द्रियाः—अपञ्चेन्द्रियाः, तेषां ह्येकेन्द्रियाणां काययोग एव, $x \times x$ ।

औधिक एकेन्द्रियों में औदारिक, औदारिक मिश्र और कर्मणकाय—तीन योग होते हैं ।

.०११.०१ अपर्याप्त एकेन्द्रियों में

तेसिं (सामण्णेइ'दियाणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ दो जोग $x \times x$ ।
—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ५७०

अपर्याप्त औधिक एकेन्द्रियों में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

.०११.०२ पर्याप्त एकेन्द्रियों में

तेसिं (सामण्णेइ'दियाणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ ओरा-
लियकायजोगो $x \times x$ ।
—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ५७०

पर्याप्त औधिक एकेन्द्रियों में औदारिककाय—एक योग होता है ।

.०११.०३ सूक्ष्म एकेन्द्रियों में

सुहुमेइ'दियाणं भण्णमाणे अत्थि एवं गुणट्ठाणं $x \times x$ तिणिण जोग $x \times x$ ।
—षट्० खं० १, १ । टीका । पु० । पृ० ५७३

.०११.०३.०१ अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में

तेसिं (सुहुमेइ'दियाणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ दो जोग $x \times x$ ।
—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ५७४

.११.०३.०२ पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में

तेसिं (सुहुमेइ'दियाणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि $x \times x$ ओर-
लियकायजोगो $x \times x$ ।
—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ५७४

.११.०३.०३ लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में

सुहुमेइ'दियलब्धिअपज्जत्ताणं पि अपज्जत्तणामकम्मोदयसहियाणं एओ
अपज्जत्तालावो ।
—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ५७५

अपर्याप्त नाम कर्म से युक्त लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों के एक अपर्याप्त आलापक होता है औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

.११.०३.०४ निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में

एवं पज्जत्त-णामकम्मोदय-सहियाणं सुहुमेइ'दियणिव्वत्तिपज्जत्ताणं तिणिण
आलावा वत्तव्वा ।
—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ५७५

जिस प्रकार औघिक सूक्ष्म एकेन्द्रियों के तीन आलापक कहे गये हैं उसी प्रकार पर्याप्त नाम कर्म के उदय से युक्त निवृत्ति-पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों के भी तीन आलापक कहना चाहिये । यथा—

औघिक निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मण-काय—तीन योग होते हैं ।

अपर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

पर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियों में एक औदारिक काययोग होता है ।

‘११’०४ बादर एकेन्द्रियों में

बादरेइंदियाणं भणमाणे अत्थि एयं गुणट्ठाणं × × × तिण्णि जोग
× × × । —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ५७१

‘११’०४.०१ अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में

तेसिं (बादरेइंदियाणं) चेव अपज्जत्ताणं भणमाणे अत्थि × × × दो जोग
× × × । —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ५७२

अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

‘११’०४.०२ पर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में

तेसिं (बादरेइंदियाणं) चेव पज्जत्ताणं भणमाणे अत्थि × × × ओरा-
ल्लियकाययोगो × × × । —षट्० खं १, १ । टीका पु २ । पृ० ५७२

पर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में एक औदारिक काययोग होते हैं ।

‘११’०४.०३ लब्धि-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में

अपज्जत्ताणामकम्मोदयाणं बादरेइंदियलद्धिअपज्जत्ताणं भणमाणे बादरे-
इंदियअपज्जत्तालाव-भंगो । —षट्० खं १, १ । टीका । पु० २ पृ० ५७३

अपर्याप्त नामकर्मोदय से युक्त बादर एकेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्त जीवों का आलापक अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों के समान जानना चाहिए । इसके अनुसार औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

‘११’०४.०४ निवृत्तिपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में

एवं (जहा बादरेइंदियाणं) बादरेइंदियापज्जत्ताणं पज्जत्ताणामकम्मोदयाणं
तिण्णि आलावा वत्तव्वा —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ५७३

पर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त निवृत्तिपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों के बादर एकेन्द्रियों के समान तीन आलापक होते हैं । यथा—

औघिक निवृत्तिपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मण-काय—तीन योग होते हैं ।

अपर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

पर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त बादर एकेन्द्रियों में एक औदारिक काययोग होता है ।

१२ पृथ्वीकाय में

पुढविकाइयाणं भण्णमाणे अत्थि × × × तिण्णि जोग × × × ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०४

पृथ्वीकाय के जीवों में तीन योग होते हैं । यथा—(१) औदारिककाययोग, (२) औदारिकमिश्र काययोग और (३) कर्मणकाययोग

०१२०१ अपर्याप्त पृथ्वीकाय में

तेसि (पुढविकाइयाणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × × दो जोग × × × ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०६

अपर्याप्त पृथ्वीकाय के जीवों में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

०१२०२ पर्याप्त पृथ्वीकाय में

तेसि (पुढविकाइयाणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे × × × ओराज्जिय-काययोगो × × × ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०५

पर्याप्त पृथ्वीकाय के जीवों में एक औदारिक काययोग होता है ।

०१२०३ सूक्ष्म पृथ्वीकाय में

सुहुमपुढवीण सुहुमेइंदिय—भंगो

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०६

सूक्ष्म पृथ्वीकाय में औदारिक औदारिकमिश्र और कर्मणकाय तीन योग होते हैं । (देखो पाठ ०११०३) ।

०१२०३०१ अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में

देखो पाठ ०११०३०१ ।

अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

०१२०३०३ जल्वि-अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में

सुहुमपुढवीण सुहुमेइंदिय—भंगो ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०६

लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय— दो योग होते हैं । (देखो पाठ '११'०३'०३)

'१२'०३'०४ निर्वृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में
सुहृमपुढवीण सुहृमेइंदिय-भंगो ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ पृ० ६०६

निर्वृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

'१२'०३'०२ पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में
देखो पाठ '११'०३'०२ ।

पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

'१२'०४ बादर पृथ्वीकाय में

बादरपुढविकाइयाणं भण्णमाणे अत्थि × × × तिण्णि जोग × × × ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०७

'१२'०४'०१ अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में

तेसिं (बादरपुढविकाइयाणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × ×

दो जोग × × × ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०८

अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय— दो योग होते हैं ।

'१२'०४'०२ पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में

तेसिं (बादरपुढविकाइयाणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × ×

ओराजियकायजोगो × × × ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०८

पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

'१२'०४'०३ लब्धि-अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में

बादरपुढविलद्धिअपज्जत्तस्स बादरेइंदिय-अपज्जत्त-भंगो ।

—षट्० खण्ड १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०९

लब्धि-अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त के समान एक भंग होता है । तदनुसार औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

'१२'०४'०४ निर्वृत्तिपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में

एवं (जहाबादरपुढविकाइयाणं) बादरपुढविणिब्बत्तिपज्जत्तस्स तिण्णि

आलावा वत्तम्भा ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०९

निवृत्तिपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में बादर पृथ्वीकाय की तरह औधिक, अपर्याप्त और पर्याप्त—तीन आलापक होते हैं। यथा—

औधिक निवृत्ति बादर पृथ्वीकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मण-काय—तीन योग होते हैं।

अपर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं।

पर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में एक औदारिक काययोग होता है।

.०१३ अप्काय में

आउकाइयाणं पुढवि-भंगो । —षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०६

अप्काय के जीवों में पृथ्वीकायिक जीवों की तरह तीन योग होते हैं—यथा—

(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिकमिश्र काययोग और (३) कर्मण काययोग

.०१३.०१ अपर्याप्त अप्काय में

आउकाइयाणं पुढवि-भंगो । —षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६०६

अपर्याप्त अप्काय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं।

.०१३.०२ पर्याप्त अप्काय में

आउकाइयाणं पुढवि-भंगो । —षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ पृ० ६०६

पर्याप्त अप्काय में एक औदारिक काययोग होता है।

.०३.०३ सूक्ष्म अप्काय में

सुहुमआउकाइयाणं सुहुमपुढविकाइय-भंगो ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ पृ० ६१०

सूक्ष्म अप्काय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—तीन योग होते हैं।
(देखे पाठ .१२.०३)

.०१३.०३.०१ अपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय में

सुहुम आउकाइयाणं सुहुमपुढविकाइय-भंगो । (देखो पाठ .०१२.०३.०१)

—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

अपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं।

.०१३.०३.०२ पर्याप्त सूक्ष्म अप्काय में

सुहुमआउकाइयाणं सुहुमपुढवि-भंगो । (देखो पाठ .०१२.०३.०२)

—षट् खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

पर्याप्त सूक्ष्म अप्काय में एक औदारिक काययोग होता है ।

.०१३.०३.०३ लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय में

सुहुमआउकाइयलब्धिअपञ्चत्ताणं च सुहुमपुढवि x x x अपज्जत्तभंगो ।

—षट् खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय दो योग होते हैं ।

.०१३.०३.०४ निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय में

सुहुमआउकाइयणिव्वत्तिपज्जत्तापज्जत्ताणं x x x सुहुमपुढविपज्जत्ताप-
ज्जत्त-भंगो ।

—षट् खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय के औधिक, अपर्याप्त और पर्याप्त—तीन आलापक होते हैं । यथा—

औधिक निवृत्ति वादर अप्काय में औदारिक, औदारिकमिश्र तथा कर्मण तीन योग होते हैं ।

निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय में औदारिक काययोग होता है ।

इनके अपर्याप्त काल में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय दो योग होते हैं ।

.०१३.०४ बादर अप्काय में

एवं खेव बादरआउकायस्स वि तिण्णि आलावा वत्तव्वा ।

—षट् खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

वादर अप्काय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—तीन योग होते हैं ।

.०१३.०४.०१ अपर्याप्त बादर अप्काय में

एवं खेव यादरआउकायस्स वि तिण्णि आलावा वत्तव्वा ।

—षट् खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

अपर्याप्त बादर अप्काय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

.०१३.०४.०२ पर्याप्त बादर अप्काय में

एवं खेव बादरआउकायस्स वि तिण्णि आलावा वत्तव्वा ।

—षट् खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

पर्याप्त बादर अप्काय में एक औदारिक काययोग होता है ।

**.०१३.०४.०३ लब्धि-अपर्याप्त बादर अप्काय में
बादरआउलब्धिअपज्जत्ताणं बादरआउणिव्वत्ति-अपज्जत्त-भंगो ।**

—षट्.० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

लब्धि-अपर्याप्त बादर अप्काय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं । (देखो पाठ .०१३.०४.०४)

**.०१३.०४.०४ निवृत्ति-पर्याप्त बादर अप्काय में
बादरआउकाइयणिव्वत्तिपज्जत्ताणं पि तिण्णि आलावा एवं खेव वत्तव्वा ।**

—षट्.० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

निवृत्तिपर्याप्त बादर अप्काय के औघिक जीवों में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—तीन योग होते हैं ।

इनके अपर्याप्त काल में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

इनके पर्याप्तकाल में एक औदारिक काययोग होता है ।

.०१४ तेउकाय में

**तेउकाइयाणं तेसिं खेव पज्जत्तापज्जत्ताणं x x x आउकाइयाणं तेसिं खेव
पज्जत्तापज्जत्ताणं x x x भंगो ।**

—षट्.० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

अग्निकाय काय के जीवों में तीन योग होते हैं—यथा—(१) औदारिक काययोग (२) औदारिकमिश्र काययोग और (३) कर्मणकाययोग ।

.०१४.०१ अपर्याप्त तेउकाय में

**तेउकाइयाणं तेसिं खेव पज्जत्तापज्जत्ताणं x x x आउकाइयाणं तेसिं खेव
पज्जत्तापज्जत्ताणं x x x भंगो ।**

—षट्.० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

अपर्याप्त तेउकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं । (देखो पाठ .०१३.०१)

.०१४.०२ पर्याप्त तेउकाय में

**तेउकाइयाणं तेसिं खेव पज्जत्तापज्जत्ताणं x x x आउकाइयाणं तेसिं खेव
पज्जत्तापज्जत्ताणं x x x भंगो ।**

—षट्.० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

पर्याप्त अप्काय में एक औदारिक काययोग होता है । (देखो पाठ .०१३.०२)

.०१४.०३ सूक्ष्म तेउकाय में

सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुम-भंगो ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

औधिक सूक्ष्म अपकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—तीन योग होते हैं ।

.०१४.०३.०१ अपर्याप्त सूक्ष्म तेउकाय में

सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुम-भंगो ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

अपर्याप्त सूक्ष्म अपकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

.०१४.०३.०२ पर्याप्त सूक्ष्म तेउकाय में

सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुम-भंगो ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

पर्याप्त सूक्ष्म तेउकाय में एक औदारिक काययोग होता है । (देखो पाठ

.०१३.०३.०२)

.०१४.०३.०३ लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म तेउकाय में

सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुम-भंगो ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ पृ० ६११

लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म तेउकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

.०१४.०३.०४ निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म तेउकाय में

सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुम-भंगो ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

निवृत्तिपर्याप्त औधिक तेउकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—तीन योग होते हैं ।

इनके अपर्याप्त काल में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

इनके पर्याप्त काल में एक औदारिक काययोग होता है । (देखो पाठ .१३.०३.०४) ।

.०१४.०४ बादर तेउकाय में

× × × बादर तेउकाइयाणं तेसिं चेव पज्जत्तापज्जत्ताणं च × × × बादर-
आउकाइयाणं तेसिं चेव पज्जत्तापज्जत्ताणं × × × भंगो ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१०

बादर तेउकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कामर्णकाय—तीन योग होते हैं । (देखो पाठ .१३.०४)

१४०४०१ अपर्याप्त बादर तेउकाय में

× × × बादरतेउकाइयाणं तेसिं खेव पज्जत्तापज्जत्ताणं च × × × बादर-
आउकाइयाणं तेसिं खेव पज्जत्तापज्जत्ताणं × × × भंगो ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ६११

अपर्याप्त बादर तेउकाय में औदारिकमिश्र और कामर्णकाय—दो योग होते हैं ।
(देखो पाठ .१३.०४.०१)

१४०४०२ पर्याप्त बादर तेउकाय में

× × × बादरतेउकाइयाणं तेसिं खेव पज्जत्तापज्जत्ताणं च × × ×
बादरआउकाइयाणं तेसिं खेव पज्जत्तापज्जत्ताणं × × × भंगो ।

—षट्० खण्ड १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ६१०

पर्याप्त बादर तेउकाय में एक औदारिक काययोग होता है । (देखो पाठ
.१३.०४.०२)

१४०४०३ लब्धि-अपर्याप्त बादर तेउकाय में

× × × बादरतेउलद्धिअपज्जत्ताणं × × × बादरआउकाइयलद्धिअपज्ज-
त्ताणं × × × भंगो ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ६१०

लब्धि अपर्याप्त बादर तेउकाय में औदारिकमिश्र और कामर्णकाय—दो योग होते हैं । (देखो पाठ .१३.०४.०३)

१४०४०४ निवृत्तिपर्याप्त बादर तेउकाय में

× × × पज्जत्त-णामकम्मोदयतेउकाइयाणं तेसिं खेव पज्जत्तापज्जत्ताणं
× × × पज्जत्तणामकम्मोदयआउकाइयाणं तेसिं खेव पज्जत्तापज्जत्ताणं × × ×
भंगो ।

—षट्० खं १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ६१०

औघिक निवृत्तिपर्याप्त बादर तेउकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कामर्ण-
काय—तीन योग होते हैं ।

इनके अपर्याप्त काल में औदारिकमिश्र और कामर्णकाय—दो योग होते हैं ।

इनके पर्याप्त काल में एक औदारिक काययोग होता है । (देखो पाठ .१३.०४.०४)

.१५ वायुकाय में**बाउकाइयाणं तेउ-भंगो । × × ×**

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

वायुकाय के जीवों में तीन योग होते हैं ।

(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिकमिश्र काययोग और (३) कर्मण काययोग ।

नोट—आगम साहित्य में पाँच योग का उल्लेख मिलता है । ३ + २ (वैक्रिय काययोग, वैक्रिय मिश्रकाययोग) = ५

‘१५’०१ अपर्याप्त वायुकाय में**बाउकाइयाणं तेउ-भंगो ।**

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

अपर्याप्त वायुकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

‘१५’०२ पर्याप्त वायुकाय में**बाउकाइयाणं तेउ-भंगो ।**

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

पर्याप्त वायुकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

‘१५’०३ सूक्ष्म वायुकाय में**सुहुमवाऊणं सुहुमतेउ-भंगो ।**

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१२

सूक्ष्म वायुकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—तीन योग होते हैं ।

(देखो पाठ .१४.०३)

‘१५’०३.०१ अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में**सुहुमवाऊणं सुहुमतेउ-भंगो ।**

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१२

अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

‘१५’०३.०२ पर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में**सुहुमवाऊणं सुहुमतेउ-भंगो ।**

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१२

पर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

‘१५’०३.०३ लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में**सुहुमवाऊणं सुहुमतेउ-भंगो ।**

—षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१२

लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

१५०३०४ निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में

सुह्रुमवाऊणं सुह्रुमतेउ-भंगो । —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१२

औघिक निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मण-काय—तीन योग होते हैं ।

अपर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

पर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

१५०४ बादर वायुकाय में

वाउकाइयाणं तेउ-भंगो । —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

बादर वायुकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—तीन योग होते हैं ।

१५०४०१ अपर्याप्त बादर वायुकाय में

वाउकाइयाणं तेउ-भंगो । —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

अपर्याप्त बादर वायुकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

१५०४०२ पर्याप्त बादर वायुकाय में

वाउकाइयाणं तेउ-भंगो । —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

पर्याप्त बादर वायुकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

१५०४०३ लब्धि-अपर्याप्त बादर वायुकाय में

वाउकाइयाणं तेउ-भंगो । —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

लब्धि-अपर्याप्त बादर वायुकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

१५०४०४ निवृत्तिपर्याप्त बादर वायुकाय में

वाउकाइयाणं तेउ-भंगो । —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६११

औघिक निवृत्तिपर्याप्त बादर वायुकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मण-काय—तीन योग होते हैं ।

अपर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त बादर वायुकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

पर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त बादर वायुकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

.१६ वनस्पतिकाय में

वणप्फइकाइयाणं भण्णमाणे अत्थि एयं गुणट्ठाणं x x x तिण्णि जोग
x x x । —षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१२

वनस्पतिकाय के जीवों का प्रथम गुणस्थान है । उनमें तीन योग होते हैं । यथा—

(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिक मिश्रकाययोग और (३) कर्मणकाययोग ।

.१६'०१ अपर्याप्त वनस्पतिकाय में

तेसिं (वणप्फइकाइयाणं) खेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि x x x दो
जोग x x x । —षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१३

अपर्याप्त वनस्पतिकाय में औदारिकमिश्र और कर्मकाय— दो योग होते हैं ।

.१६'०२ पर्याप्त वनस्पतिकाय में

तेसिं (वणप्फइकाइयाणं) खेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि x x x ओरा-
लियकायजोग x x x । —षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१३

पर्याप्त वनस्पतिकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

.१६'०३ प्रत्येक शरीर वनस्पतिकाय में

पत्तेयसरीरवणप्फइणं भण्णमाणे अत्थि x x x तिण्णि जोग x x x ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पु० २ । पृ० ६१४

प्रत्येक शरीरी वनस्पतिकाय के जीवों में तीन योग होते हैं । यथा—(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिकमिश्र काययोग तथा (३) कर्मण काययोग ।

.१६'०३.०१ अपर्याप्त प्रत्येक शरीर वनस्पतिकाय में

तेसिं (पत्तेयसरीरवणप्फइणं) खेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि x x x
दो जोग x x x । —षट्० खं० १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१५

अपर्याप्त प्रत्येक शरीर वनस्पतिकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय— दो योग होते हैं ।

.१६'०३.०२ पर्याप्त प्रत्येकशरीर वनस्पतिकाय में

तेसिं (पत्तेयवणप्फइणं) खेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि x x x ओरा-
लियकायजोगो x x x । —षट्० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१५

पर्याप्त प्रत्येक शरीर वनस्पतिकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

.१६.०३.०३ लब्धि-अपर्याप्त प्रत्येकशरीर वनस्पतिकाय में

लब्धिअपज्जत्ताणं (पत्तेयसरीरवणप्फाईणं) पि एगो आलावो पत्तेयवण-
प्फइ-अपज्जत्ताणं जहा तहा वत्तव्वो । — षट्.० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१६

लब्धि-अपर्याप्त प्रत्येक शरीर वनस्पतिकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग होते हैं ।

.१६.०३.०४ निवृत्तिपर्याप्त प्रत्येक शरीर वनस्पतिकाय में

एवं णिव्वत्तिपज्जत्तस्स वि तिण्णि आलावा वत्तव्वो ।

— षट्.० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१६

औधिक निवृत्तिपर्याप्त प्रत्येकशरीर वनस्पतिकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—तीन योग होते हैं ।

अपर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त प्रत्येकशरीर वनस्पतिकाय में औदारिकमिश्र और कर्मण-
काय दो योग होते हैं ।

पर्याप्त निवृत्तिपर्याप्त प्रत्येकशरीर वनस्पतिकाय में एक औदारिक काययोग
होता है ।

.१६.०४ साधारण वनस्पतिकाय में

साधारणवणप्फइकाइयाणं भण्णमाणे अत्थि x x x तिण्णि जोग x x x ।

— षट्.० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१६

साधारण वनस्पति काय में तीन योग होते हैं ।

.१६.०४.०१ अपर्याप्त साधारण वनस्पतिकाय में

तेसिं (साधारणवणप्फइकाइयाणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि x x x
वे जोग x x x । — षट्.० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१८

अपर्याप्त साधारण वनस्पतिकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—दो योग
होते हैं ।

.१६.०४.०२ पर्याप्त साधारण वनस्पतिकाय में

तेसिं (साधारणवणप्फइकाइयाणं) चेव पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि x x x
ओरात्थियकायजोगो x x x । — षट्.० खं १, १ । टीका । पु २ । पृ० ६१७

पर्याप्त साधारण वनस्पतिकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।

.१६.०४.०३ सूक्ष्म साधारणशरीर वनस्पतिकाय में

सव्व साधारणसरीरसुहुमाणं सुहुमपुढवि-भंगो ।

— षट्.० खं १, १ । टीका । पु० । पृ० ६२०

सूक्ष्म साधारणशरीर वनस्पतिकाय में औदारिक, औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—
तीन योग होते हैं । (देखो पाठ .१२.०३)

.१६.०४.०३.०१ अपर्याप्त सूक्ष्म साधारणशरीर वनस्पतिकाय में

सर्वसाधारणशरीरसुहुमाणं सुहुमपुढवि-भंगो ।

—षट्० खं० १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ६२०

अपर्याप्त सूक्ष्म साधारणशरीर वनस्पतिकाय में औदारिकमिश्र और कर्मणकाय—
योग होते हैं । (देखो पाठ .१२.०३.०१)

.१६.०४.०३.०२ पर्याप्त सूक्ष्म साधारणशरीर वनस्पतिकाय में

सर्वसाधारणशरीरसुहुमाणं सुहुमपुढवि-भंगो ।

षट्० खं० १, १ । टीका । पृ २ । पृ० ६२०

पर्याप्त सूक्ष्म साधारणशरीर वनस्पतिकाय में एक औदारिक काययोग होता है ।
(देखो पाठ .१३.०३.०२)

.१६ उत्पल आदि दस प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय में

(क) (उप्पले णं भंते ! एगपत्तए) तेणं भंते । जीवा किं मणजोगी ?
वइजोगी ? काययोगी ? गोयमा ! नो मणजोगी, नो वइयोगी, कायजोगी वा,
कायजोगिणो वा ।

—भग० श ११ । उ १ । सू १५

एक पत्री उत्पन्न वनस्पतिकाय के जीव मनोयोगी नहीं होते हैं, वचनयोगी नहीं
होते हैं तथा काययोगी होते हैं ।

(ख) (सालुए एगपत्तए) एवं उप्पलुद्देसगवत्तव्वया ? अपरिसेसा
भाणियव्वा जाव अणंत खुत्तो ।

—भग० श ११ । उ २ । सू ४२

एक पत्री उत्पल की तरह एक पत्री शालुक को जानना ।

(ग) (पलासे एगपत्तए) एवं उप्पलुद्देसगवत्तव्वया अपरिसेसा
भाणियव्वा ।

—भग० श० ११ । उ ३ । सू ४४

एक पत्री उत्पल की तरह एक पत्री पलास को जानना ।

(घ) (कुंभिण एगपत्तए) एवं जहा पलासुद्देसए तहा भाणियव्वे ।

—भग० श ११ । उ ४ । सू ४६

एक पत्री उत्पल की तरह एक पत्री कुंभिक वनस्पतिकाय के जीव मनोयोगी नहीं
होते हैं, वचनयोगी नहीं होते हैं तथा काययोगी होते हैं ।

(ङ) (नालिए एगपत्तए) एवं कुंभिउद्देसग वत्तव्वया निरवसेसं भाणियव्वा ।
— भग० श ११ । उ ५ । सू ४६

पत्र पत्री नालिक वनस्पति में एक कुंभिक की तरह मनोयोगी तथा वचनयोगी नहीं होते हैं, काययोगी होते हैं ।

(च) (पउमे एगपत्तए) एवं उप्पलुद्देसग वत्तव्वया निरवसेसा भाणियव्वा ।
— भग० श ११ । उ ६ । सू ५१

एक पत्री पद्म वनस्पतिकाय में उत्पल की तरह मनोयोगी व वचनयोगी नहीं होते हैं, काययोगी होते हैं ।

(छ) (कणिए एगसत्तए) एवं चेव निरवसेसं भाणियव्वं ।

— भग० श ११ । उ ७ । सू ५३

एक पत्री कर्णिका वनस्पतिकाय में उत्पल की तरह मनोयोगी तथा वचनयोगी नहीं होते हैं, काययोगी होते हैं ।

(ज) (नलिणे एगपत्तए) एवं चेव निरवसेसं जाव अणंतखुत्तो ।

— भग० श ११ । उ ८ । सू ५५

एक पत्री नलिन वनस्पतिकाय में उत्पल की तरह मनोयोगी व वचनयोगी नहीं होते हैं, काययोगी होते हैं ।

शालि, व्रीहि आदि वनस्पतिकाय में

(क) इनके मूल में

साली-व्रीहि-गोधूम-जाव जवजवाणं x x x जीवा मूलत्ताए—तेणं भंते ! जीवार्कि मणजोगी ? वइजोगी ? कायजोगी ? गोयसा । नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी वा, कायजोगिणो वा । — भग० श २१ । व १ उ १ । सू ५

शाली, व्रीहि, गोधूम यावत् जवजव आदि के मूल के जीव मनोयोगी व वचनयोगी नहीं होते हैं, काययोगी होते हैं ।

(ख) इनके कंद में

साली-व्रीहि-गोधूम-जाव जवजवाणं x x x जीवा कंदत्ताए । x x x मूलुद्देसो अपरिसेसो भाणियव्वो । — भग० श २१ । व १ उ २ । सू १०

काययोगी होते हैं ।

(ग) इनके स्कंध में

एवं खंधे वि उद्देसओ नेयव्वो । — भग० श० २१ । व १ उ ३ । सू १२

काययोगी होते हैं ।

(घ) इनकी त्वचा में

एवं तथाए वि उद्देसो भाणियब्बो । —भग० २१ । व १ उ ४ । सू १२
काययोगी होते हैं ।

(ङ) इनकी शाखा में

(च) इनकी प्रवाल में

(छ) इनके पत्र में

सालेवि उद्देसो भाणियब्बो ।

पावलेवि उद्देसो भाणियब्बो ।

पत्ते वि उद्देसो भाणियब्बो । —भग० श २१ । व १ उ ५, ६, ७ । सू १२

इनकी शाखा के, इनके प्रवाल के, इनके पत्र के जीव काययोगी होते हैं ।

(ज) इनके पुष्प में

एवं पुप्फेवि उद्देसओ, नवरंदेवा उववज्जंति जहा उप्पलुद्देसे सत्तारि
लेस्साओ, असीइभंगा । —भग० श २१ । व १ उ ८ । सू १२

काययोगी होते हैं ।

(झ) इनके फल में—

(ञ) इनके बीज में—

जहा पुप्फे एवं फले वि उद्देसओ अपरिसेसो भाणियब्बो ।

एवं वीएवि उद्देसओ । —भग० श २१ । व १ उ ९, १० । सू १४

फल में तथा बीज में फूल की तरह काययोगी होते हैं ।

.१७—द्वीन्द्रिय

.१८—त्रीन्द्रिय

.१९—चतुरिन्द्रिय

.२०—असंखी तिर्य'च पंचेन्द्रिय

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंखी तिर्य'च पंचेन्द्रिय—काययोगी व वचनयोगी होते हैं ।

इनके अपर्याप्त में एक काययोग होता है तथा पर्याप्त में दो योग—काययोग, वचनयोग होते हैं ।

.२१ तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

पंचिदिय-तिरिक्खाणं भण्णमाणे $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $x \times x$ वे जोग $x \times x$ । पंचिदियतिरिक्ख-मिच्छाइट्ठीणं $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $x \times x$ वे जोग $x \times x$ । पंचिदिय-तिरिक्ख-सासणसम्माइट्ठीणं $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $x \times x$ दो जोग $x \times x$ । पंचिदिय-तिरिक्ख-सम्मामिच्छाइट्ठीणं $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । पंचिदियतिरिक्ख-असं-जदसम्माइट्ठीणं $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $x \times x$ दो जोग $x \times x$ । पंचिदियतिरिक्ख-संजदासंजदाणं $x \times x$ णव जोग $x \times x$ ।

— षट्० खं० १, १। पु २। पृ० ४८२-६१

पंचेन्द्रिय तिर्य'च में ग्यारह योग होते हैं (४ मन के, ४ वचन के, औदारिक, औदारिकमिश्र व कर्मण) ।

इसके अपर्याप्त में दो योग होते हैं—औदारिक मिश्र व कर्मण । पर्याप्त में नव योग होते हैं ।

पंचेन्द्रिय तिर्य'च मिथ्या दृष्टि में ग्यारह योग होते हैं । अपर्याप्त में दो योग, पर्याप्त में नव योग होते हैं ।

सास्वादान सम्यग्दृष्टि तिर्य'च पंचेन्द्रिय में ग्यारह योग होते हैं । अपर्याप्त में दो योग, पर्याप्त में नव योग होते हैं । तिर्य'च पंचेन्द्रिय सम्मामिथ्यादृष्टि में नव योग होते हैं । पंचेन्द्रिय तिर्य'च असंयत सम्यग्दृष्टि में ग्यारह योग होते हैं । पर्याप्त में नव, अपर्याप्त में दो योग होते हैं । संयतासंयत पंचेन्द्रिय तिर्य'च में नव योग होते हैं ।

.२२.१ तिर्य'च पंचेन्द्रिय-स्त्री जीव में

पंचिदियतिरिक्खजोणिणीणं भण्णमाणे $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ । तासिं चेव पज्जत्तजोणिणीणं $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । पंचिदियतिरिक्खअपज्जत्त-जोणिणीणं $x \times x$ दो जोग $x \times x$ । पंचिदियतिरिक्खजोणिणी-मिच्छाइट्ठीणं $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ । पज्जत्तपंचिदियतिरिक्खजोणिणी-मिच्छाइट्ठीणं $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । तासिमपज्जत्तीणं $x \times x$ वे जोग $x \times x$ । पंचिदिय-तिरिक्खजोणिणी-सासणसम्माइट्ठीणं $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ । तासिं चेव पज्जत्तीणं $x \times x$ णव जोग $x \times x$ । तासिमपज्जत्तीणं $x \times x$ दो जोग $x \times x$ ।

पंचिदितिरिक्खजोणिणी-सम्मामिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । पंचि-
दितिरिक्खजोणिणी- असंजदसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग । पंचिदिति-
रिक्खजोणिणी-संजदासंजदाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ४६२-५००

तिर्यंच पंचेन्द्रिय-स्त्री जीव जो गर्भज हैं, उनके औघिक, मिथ्यादृष्टि व सास्वादान
सम्यग्दृष्टि में ग्यारह योग होते हैं—४ मन के, ४ वचन के, औदारिक काययोग,
औदारिकमिश्र काययोग व कर्मण काययोग होते हैं । इनके अपर्याप्त में दो योग—
औदारिकमिश्र काययोग, कर्मण काययोग होते हैं । इनके पर्याप्त अवस्था में नव योग
होते हैं ।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि तथा संयतासंयत पंचेन्द्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रिय में नव योग होते
हैं—४ मन के, ४ वचन के, १ औदारिक काययोग ।

२३ मनुष्य में पन्द्रह प्रकार का प्रयोग

मणूसाणं पण्णरसविहे पओगे पणत्ते, तंजहा—सच्चमणपओगे मोसमण-
पओगे सच्चामोसवइपओगे असच्चामोसमणपओगे सच्चवइपओगे मोसवइपओगे
सच्चामोसमणपओगे असच्चामोसवइपओगे ओरालियसरीरकायपओगे ओरालिय-
मिसकायपओगे वेउव्वियसरीरकायपओगे वेउव्वियमिसकायपओगे आहारयसरीर-
कायपओगे आहारयमिससरीरकायपओगे कम्मयसरीरकायपओगे ।

—सम० सम १५ । सू ७

मनुष्यों में पन्द्रह प्रकार के प्रयोग होते हैं । यथा—

(१) सत्य मनोप्रयोग, (२) असत्य मनोप्रयोग, (३) सत्यासत्य मनोप्रयोग,
(४) असत्यामृषा मनोप्रयोग (व्यवहार मनोप्रयोग), (५) सत्य वचन प्रयोग, (६) असत्य
वचन प्रयोग, (७) सत्यासत्य वचन प्रयोग, (८) असत्यामृषा वचन प्रयोग तथा सात काय-
प्रयोग होते हैं ।

२३ मनुष्य में

मणुस्साणं भण्णमाणे $\times \times \times$ तेरह जोग अजोगो वि अत्थि $\times \times \times$ ।
तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ तेरह जोग ओरालिय-आहार-मिस्स-कम्मएहि
विणा दस वा अजोगो वि अत्थि $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$
आहार-मिस्सेण सह तिण्णि जोग $\times \times \times$ । मणुस-मिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$
एगारह जोग । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव
अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । मणूस्स-सासणसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$

एगारह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चोव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । तेसिं चोव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । मणुस्स-सम्मामिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुस्स-असंजदसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ एगारह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चोव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । तेसिं चोव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । मणुस्स-संजदासंजदाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । संपहि पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ताव मूलो-घालावो आणूणो अणश्चिओ वत्तव्वो । —षट्ठं खं १ । १ । पु २ । पृ० ५०१-१२

.२३.१ मनुष्यणी में

मणुसिणीणं भण्णमाणे अत्थि $\times \times \times$ एगारह जोग अजोगो वि अत्थि, एत्थि आहार-आहारमिस्स-कायजोग णत्थि । किं कारणं ? जेसिं भावो इत्थि वेदो दब्बं पुण पुरिसवेदो, ते वि जीवा संजमं पडिवज्जंति । दब्बत्थि वेदा संजमं ण पडिवज्जंति, संचेजत्तादो । भावत्थि वेदाणं दब्बेण पुंवेदाणं पि संजदाणं णाहाररिद्धि समुपज्जदि दब्बभावेहि पुरिसवेदाणमेव समुपज्जदि तेणित्थिवेदे पि णिरूद्धे आहारदुगं णत्थि, तेण एगारह जोगा भणिया । $\times \times \times$ । तासि पज्जत्ताणं $\times \times \times$ एगारह जोग णव वा अजोगो वि अत्थि, $\times \times \times$ । तासि चोव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी-मिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ एगारह जोग $\times \times \times$ । मिच्छादिट्ठि-पज्जत्त-मणुसिणीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मिच्छादिट्ठि-अपज्जत्त-मणुसिणीणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । मणुसिणीसासण सम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ एगारह जोग $\times \times \times$ । पज्जत्त-मणुसिणी-सासणसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । अपज्जत्त मणुसिणीसासणसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी-सम्मामिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी असंजद सम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी-संजदासंजदाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी-पमत्तसंजदाणं $\times \times \times$ णव जोग इत्थिवेद-णपुं-सयवेदाणमुदए आहारदुगं मणपज्जवणाणं परिहारसुद्धिसंजमो च णत्थि $\times \times \times$ । मणुसिणी-अपमत्त संजदाणं $\times \times \times$ णव जोग, $\times \times \times$ । मणुसिणी-अपुव्वकरणाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी पढम अणियट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी विदिय अणियट्ठीणं $\times \times \times$ णवजोग $\times \times \times$ । मणुसिणी तदिय अणिय-ट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी चउत्थ अणियट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी पंचम अणियट्ठीणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुसिणी सुहुम-सांपराइयाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । मणुसिणीसु उवसंतकसायणं $\times \times \times$

xxx णव जोग xxx । मणुसिणीसु खीणकसायाणं xxx णव जोग xxx ।
 मणुसिणी सजोगिजिणाणं xxx सत्त जोग xxx । मणुसिणी अजोगिजिणाणं
 xxx अजोगो xxx । —षट्० खण्ड १ । सू २ । पु० २ । पृ० ५१३-३२

.२३.२ लब्धि-अपर्याप्त मनुष्य में

लब्धि-अपज्ज-मणुस्साणं भण्णमाणे अत्थि एयं गुणट्ठाणं xxx वे जोग
 xxx । —षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५३०

लब्धि अपर्याप्त मनुष्य में दो योग होते हैं — औदारिकमिश्र काय व कर्मण काययोग होते हैं

.२४ देव में

देवगदीए देवाणं भण्णमाणे xxx एगारह जोग xxx । तेसिं चेव पज्ज-
 त्ताणं xxx णव जोग xxx । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं xxx दो जोग xxx ।
 देव मिच्छाइट्ठीणं xxx एगारह जोग xxx । तेसिं चेव पज्जत्ताणं xxx णव
 जोग xxx । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं xxx दो जोग xxx । देव-सासणसम्माइ-
 ट्ठीणं xxx एगारह जोग xxx । तेसिं चेव पज्जत्ताणं xxx णव जोग
 xxx । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं xxx दो योग xxx । देव-सम्मामि-
 च्छाइट्ठीणं xxx णव जोग xxx । देव-असंजदसम्माइट्ठीणं xx = एगारह
 जोग xxx । तेसिं चेव पज्जत्ताणं xxx णव जोग xxx । तेसिं चेव
 अपज्जत्ताणं xx = वे जोग xxx ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५३१-४२

देवों में ग्यारह योग (४ मन के, ४ वचन के, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र काययोग, कर्मण-
 काय) होते हैं ।

इनके अपर्याप्त में दो योग—वैक्रियमिश्र काययोग व कर्मण काययोग होते हैं । पर्याप्त
 में नवयोग होते हैं (४ मन के, ४ वचन के, वैक्रिय काययोग) । सम्यग्मिथ्यादृष्टि में नव
 योग होते हैं ।

.२४.१ देवी में

एवं चेव (देवाणं) इत्थिवेदणिरुंभणं काऊण वत्तब्बं ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५५०

देवी में ग्यारह योग होते हैं । पर्याप्त में नव योग व अपर्याप्त में दो योग होते हैं ।

.२५ भवनपति देव में

.२६ वाणव्यन्तर देव में

.२७ ज्योतिषी देव में

भवणवासिय-वाणवैतर-जोइसियाणं भणमाणे × × × एगारह जोग
X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X णव जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं
X X X दो जोग X X X । भवणवासिय वाणवैतर-जोइसियदेव-मिच्छाइट्ठीणं
X X X एगारह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X णव जोग × XX ।
तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X दो जोग × × × । भवणवासिय-वाणवैतर-
जोइसियदेव-सासणसम्माइट्ठीणं × × × एगारह जोग × × × तेसिं चेव
पज्जत्ताणं × × × णव जोग × × × । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं × × × दो
जोग × × × । भवणवासिय-वाणवैतर-जोइसियदेव-सम्मामिच्छाइट्ठीणं XXX
णव जोग X X X । भवणवासिय-वाणवैतर-जोइसियदेव-असंजदसम्माइट्ठीणं
X X X णव जोग X X X । —षट्.० खं १ । १ । पु २ । पु० ५४३-५०

भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी देवों में ग्यारह योग होते हैं । इसके पर्याप्त में नव योग व अपर्याप्त में दो योग होते हैं । सम्यग्मिथ्यादृष्टि में नव योग होते हैं ।

.२५.१ भवनपति देवी में

.२६.१ वाणव्यन्तर देवी में

.२७.१ ज्योतिषी देवी में

एवं चेव इत्थिवेदणिरु'भणं काऊण वत्तव्वं ।

—षट्.० खं १ । १ । पु २ । पु० ५५०

भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी देवी में ग्यारह योग होते हैं । पर्याप्त में नव योग तथा अपर्याप्त में दो योग होते हैं ।

.२८ वैमानिक देव में

वैमानिक देवों में ग्यारह योग (४ मन के, ४ वचन के, वैक्रिय काययोग, वैक्रिय-मिश्र काययोग, कार्मण काययोग) होते हैं । इनके अपर्याप्त में दो योग तथा पर्याप्त में नव योग होते हैं ।

.२८.१ वैमानिक देवी में

वैमानिक देवी में ग्यारह योग होते हैं । इनके अपर्याप्त में दो योग व पर्याप्त में नव योग होते हैं ।

.२८.२ वैमानिक देव के विभिन्न भेदों में

.२८.२.१ सौधर्म-ईशान देव में

सोधर्मीसाणदेवाणं भण्णमाणे X X X एगारह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X णव जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X दो जोग X X X । सोधर्मीसाणदेवमिच्छाइट्ठीणं X X X एगारह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X णव जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X दो जोग X X X । सोधर्मीसाण-सासणसम्माइट्ठीणं X X X एगारह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X णव जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X दो जोग X X X । सोधर्मीसाण-सम्माइट्ठीणं X X X णव जोग X X X । सोधर्मीसाण-असंजदसम्माइट्ठीणं X X X एगारह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X णव जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X दो जोग X X X ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५५१-५६

सौधर्म-ईशान देवों में ग्यारह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में नव योग तथा अपर्याप्त में दो योग होते हैं । (वैक्रियमिश्र क्राययोग, कर्मण क्राययोग)

.२८.१.२ सनत्कुमार-माहेन्द्र देव में

सणकुमार माहिंददेवाणं भण्णमाणे x x x एगारह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x णव जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x दो जोग x x x । संपहि मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ताव चदुण्हं गुणट्ठाणाणं सोधम्म भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६१-६३

सनत्कुमार-महेन्द्र देवों में ग्यारह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में नव योग तथा अपर्याप्त दो योग होते हैं । इनमें प्रथम चार गुणस्थान हैं ।

.२८.२.३ ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में

बम्ह-बम्हुत्तर x x x कप्पदेवाणं सणक्कुमार-भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६३

जैसा सनत्कुमार देवों में कहा है वैसा ही ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर देवों में योग कहना ।

.२८.२.४ लांतव-कापिष्ठ देवों में

x x x लांतव-कापिष्ठ x x x कप्पदेवाणं सणक्कुमार-भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६३

जैसा सनत्कुमार देवों में कहा है, वैसा ही लातव, कापिष्ट देवों के विषय में योग कहना ।

.२८.२.५ शुक्र-महाशुक्र देवों में

× × × शुक्र-महाशुक्रकप्पदेवाणं सणक्कुमार-भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६३

सनत्कुमार देवों की तरह शुक्र-महाशुक्र देवों के विषय में योग कहना ।

.२८.२.६ शतार-सहस्रार कल्पवासी देवों में

सदार-सहस्सारकप्पदेवाणं बम्हलोग-भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६४

ब्रह्मलोक की तरह सतार-सहस्रार देवों के विषय में योग जानना चाहिए ।

.२८.२.७ आनत-प्राणत-आरण-अच्युत कल्पवासी देवों में

आणद्-पाणद्-आरणच्चुद् × × × एदेसिं च्छदु × × × कप्पाणं सदार-सहस्सार-भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६४

सतार-सहस्रार देवों की तरह आनत-प्राणत-आरण-अच्युत कल्पदेवों में ग्यारह योग होते हैं । इनके पर्याप्त अवस्था में नव योग, अपर्याप्त अवस्था में दो योग होते हैं ।

.२८.२.८ नौ ग्रैवेयक कल्पातीत देवों में

× × × सुदंसण-अमोघ-सुप्पबुद्ध-जसोधर-सुबुद्ध-सुविसाल-सुमण-सउ-मणस-पीर्दिकरमिदि एदेसिं × × × णव-कप्पाणं सदार-सहस्सार भंगो

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६४

सुदर्शन आदि नौ ग्रैवेयक कल्पातीत देवों में सतार-सहस्रार कल्पों की तरह योग होते हैं ।

.२८.२.९ नौ अनुदिश विमानवासी देवों में

अच्चि-अच्चिमालिणी-वइर-वइरोयण-सोम-सोमरूव-अंकफलिह-आइच्च × × × एदेसिं णव × × × अणुदिस × × × अण्णमाणे × × × एगारह जोग × × × ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६४-६५

अर्चि आदि नौ अनुदिश वैमानिक देवों में ग्यारह योग होते हैं । इनके अपर्याप्त में दो योग व पर्याप्त में नव योग होते हैं ।

.२८.२.१० चार अनुत्तर विमानवासी देवों में

$x \times x$ विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराह्द $x \times x$ त्ति एदेसि $x \times x$ पंच
 $x \times x$ अणुत्तराणं भण्णमाणे $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६५

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित वैमानिक देवों में ग्यारह योग होते हैं ।

.२८.२.११ सर्वार्थसिद्धि देवों में

सर्ववृद्धसिद्धि त्ति $x \times x$ भण्णमाणे $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६५

सर्वार्थसिद्धि देवों में ग्यारह योग होते हैं ।

.२९ संज्ञी जीव में

सण्णियाणुवादेण सण्णीणं भण्णमाणे $x \times x$ पण्णारह जोग $x \times x$ ।
 तेसिं चेव पज्जत्ताणं $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $x \times x$
 चत्तारि जोग $x \times x$ । सण्णि-मिच्छाइट्ठीणं $x \times x$ तेरह जोग $x \times x$ । तेसिं
 चेव पज्जत्ताणं $x \times x$ दस जोग $x \times x$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $x \times x$ तिण्णि
 जोग $x \times x$ । (सण्णि) सासणसम्माइट्ठीणं $x \times x$ तेरह जोग $x \times x$ । तेसिं
 चेव पज्जत्ताणं $x \times x$ दस जोग $x \times x$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $x \times x$ तिण्णि
 जोग $x \times x$ । (सण्णि) सम्मामिच्छाइट्ठीणं $x \times x$ दस जोग $x \times x$ । (सण्णि)
 असंजदसम्माइट्ठीणं $x \times x$ तेरह जोग $x \times x$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $x \times x$ दस
 जोग $x \times x$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $x \times x$ तिण्णि जोग $x \times x$ । संजदासंजदप्प-
 हुडि जाव खीणकसाभो त्ति ताव मूलोघ भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ८२५-३३

संज्ञी जीव में पन्द्रह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग होते हैं (४ मन के, ४ वचन के, औदारिक वैक्रिय, आहारक काययोग) तथा इनके अपर्याप्त में चार योग (औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग, आहारकमिश्र काययोग, कर्मण काययोग) होते हैं ।

संज्ञी मिथ्यादृष्टि में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं ।

सास्वादान संज्ञी जीव में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग (वैक्रियमिश्र काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, कर्मण काययोग) होते हैं ।

संज्ञी सम्मामिथ्यादृष्टि में दस योग होते हैं (चार मन के, चार वचन के, वैक्रिय काययोग, औदारिक काययोग) ।

संज्ञी असंयत सम्यग्दृष्टि में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं । संयतासंयत से क्षीण कषाय गुणस्थान में मूलोद्य भंग की तरह योग होते हैं ।

.३० असंज्ञी जीव में

असण्णीणं भण्णमाणे अत्थि एयं गुणद्वानं x x x चत्तारि जोग x x x ।
तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दो जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x दो
जोग x x x । —षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ८३४-३५

असंज्ञी जीव में चार योग (औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, व्यवहार वचन योग, कर्मण काययोग) होते हैं । इनके पर्याप्त में दो योग (औदारिक काययोग, व्यवहार वचन योग) तथा अपर्याप्त में दो योग होते हैं (औदारिकमिश्र काययोग, कर्मण काययोग) ।

.३१ सकायिक जीव में

कायाणुबादेण ओघालावे भण्णमाणे x x x पण्णारह जोग अजोगो वि
अत्थि x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x एगारह जोग अजोगो वि अत्थि
x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x चत्तारि जोग x x x । मिच्छाइट्ठिप्पहुडि
जाव अकाया त्ति मूलोद्य भंगो x x x । —षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ५६१-६०४

सकायिक जीव में पन्द्रह योग होते हैं, अयोगी भी होते हैं । इनके पर्याप्त अवस्था में ग्यारह योग होते हैं, अयोगी भी होते हैं । अपर्याप्त अवस्था में चार योग होते हैं ।

मिथ्यादृष्टि यावत् अकायिक (सिद्ध) में मूलोद्य भंग की तरह योग जानना चाहिए ।

.३२ त्रसकायिक जीव में

तसकाइघाणं भण्णमाणे x x x पण्णारह जोग अजोगो वि अत्थि x x x ।
तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x एगारह जोग अजोगो वि अत्थि x x x तेसिं चेव
अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग चत्तारि वा x x x । तसकाइय-मिच्छाइट्ठीणं
x x x तेरह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं
चेव अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x । सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव
अजोगिकेवलि त्ति मूलोद्य-भंगो । —षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६२१-२७

त्रसकायिक कीर्तों में पन्द्रह योग होते हैं । अयोगी भी होते हैं । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग होते हैं । अयोगी भी होते हैं । इनके अपर्याप्त में तीन अथवा चार योग होते

हैं। मिथ्यादृष्टि त्रसकायिक जीवों में तेरह योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दस योग होते हैं तथा अपर्याप्त में तीन योग—(औदारिक काय योग, वैक्रिय मिश्रकाययोग तथा कर्मणकाय योग) होते हैं।

सास्वादान सम्यग्दृष्टि से अयोगी केवली के विषय में मूलोघ भंग की तरह योग जानना चाहिए।

३३ सइन्द्रिय जीव में

इन्दियाणुवादेण अणुवादो मूलोघो । — षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ५६६

सइन्द्रिय जीव में पन्द्रह योग होते हैं—यथा—चार मन के योग, चार वचन के योग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्रकाय योग, वैक्रियमिश्र काययोग, वैक्रियकाय योग, आहारककाय योग, आहारकमिश्र काययोग तथा कर्मणकाय योग।

३४ अनिन्द्रिय में

अणिन्दियाणं सिद्ध-भंगो ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ५६०

अनिन्द्रिय में सात योग होते हैं—सत्यमनोयोग, व्यवहारमनोयोग, सत्यवचनयोग, व्यवहारवचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग और कर्मणकाययोग।

सिद्ध (अयोगी गुणस्थान तथा सिद्ध में) अवस्था में योग नहीं होता है।

३५ सयोगी में

जोगाणुवादेण अणुवादो मूलोघ-भंगो । — षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६२८

सयोगी में पन्द्रहयोग होते हैं।

३६ मनोयोगी में

मणजोगीणं भण्णमाणे x x x चत्तारि मणजोग x x x । मणजोगिमिच्छा-इट्ठीणं x x x चत्तारि मणजोग x x x । मणजोगि-सासणसम्माइट्ठीणं x x x चत्तारि मणजोग x x x । मणजोगि-सम्मामिच्छाइट्ठीणं x x x चत्तारि मणजोग x x x । मणजोगि-असंजदसम्माइट्ठीणं x x x चत्तारि मणजोग x x x । मणजोगि-संजदासंजदाणं x x x चत्तारि मणजोग x x x । मणजोगि-पमत्तसंजदाणं x x x चत्तारि मणजोग x x x । मणजोगि-अप्पमत्तसंजदप्पहुडि जाव सजोगि-केवलि त्ति ताव मूलोघ-भंगो । णवरि चत्तारि मणजोगा वत्तत्वा । सजोगि-केवलित्स सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो इदि दो मणजोगा वत्तत्वा ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६२८-६३३

मनोयोगी चार प्रकार के होते हैं—सत्यमनोयोगी, असत्यमनोयोगी, मिश्रमनोयोगी, और व्यवहार मनोयोगी ।

मनोयोगी मिथ्यादृष्टि में चार मनोयोग, मनोयोगी सास्वादान सम्यग्दृष्टि में चार मनोयोग, मनोयोगी सम्यग्मिथ्यादृष्टि में चार मनोयोग, मनोयोगी असंयत सम्यग्दृष्टि में चार मनोयोग, मनोयोगी संयतासंयत में चार मनोयोग, मनोयोगी प्रमत्तसंयत में चार मनोयोग, मनोयोगी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से क्षीण मोह गुणस्थान में चार मनोयोग होते हैं तथा सयोगी केवली गुणस्थान में दो मनोयोग होते हैं—सत्यमनोयोग, व्यवहार मनोयोग ।

.३७ सत्यमनोयोगी में

सच्चमणजोगीणं मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ताव मूलोद्य-
भंगो । णवरि सच्चमणजोगो एक्कोचेव वत्तव्वो ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६३३

सत्य मनोयोगी—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से सयोगी केवली गुणस्थान तक होते हैं ।
सत्यमनोयोग—एक ही (मनोयोग) का कथन करना चाहिए ।

.३८ मृषा मनोयोगी जीव में

.३८ मोसमणजोगीणं भण्णमाणे x x x मोसमणजोग x x x ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६३३

मृषामनोयोगी के कथन में इस एक का ही कथन करना चाहिए । मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से क्षीण मोह गुणस्थान तक मृषामनोयोग होता है ।

.३९ सत्यमृषामनोयोगी जीव में

एवं (जहा मोसमणजोगीणं) सच्चमोसमणजोगीणं पि वत्तव्वं ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६३३

सत्यमृषा मनोयोगी—मिथ्यादृष्टि से क्षीण मोह गुणस्थान तक होते हैं ।

.४० असत्यमृषामनोयोगी जीव में

(जहा सच्चमणजोगीणं) एवमसच्चमोसमणजोगीणं पि, णवरि असच्च-
मोसमणजोगो एक्को चेव वत्तव्वो ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६३३

असत्यमृषामनोयोगी—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से सयोगी केवली गुणस्थान तक होते हैं । लेकिन असत्यमृषा मनोयोग—एक मनोयोग का ही कथन करना चाहिए ।

.४१ वच्चनयोगी जीव में

वच्चिजोगीणं भण्णमाणे x x x वत्तारि वच्चिजोग X X X । वच्चिजोगि-

मिच्छादृष्टीणं भण्णमाणे X X X चत्तारि वच्चिजोग X X X । सासणसम्माइ-
ट्ठिप्पहुडिजाव सजोगिकेवलि त्ति ताव मणजोगीणं भंगो । णवरि चत्तारि वच्चि-
जोगा वत्तव्वा । सजोगिकेवलिस्स सच्चवच्चिजोगो असच्चमोसवच्चिजोगो च
भवदि । —षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६३४-३६

वचनयोग चार प्रकार के होते हैं—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, मिश्रवचनयोग
और व्यवहार वचनयोग ।

वचनयोगी मिथ्यादृष्टि में चार वचनयोग, सास्वादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत
सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत प्रमत्तसंयत गुणस्थान में मनोयोगी की तरह चार वचनयोग होते
हैं । अप्रमत्त संयत से क्षीण मोह तक चार वचन योग तथा सयोगी केवली गुणस्थान में
मनोयोगी की तरह दो वचनयोग होते हैं—यथा—सत्य वचनयोग व व्यवहार वचनयोग ।

.४२ सत्यवचनयोगी जीवों में

सच्चवच्चिजोगस्स सच्चमणजोग-भंगो । णवरि जत्थ सच्चमणजोगो तत्थ
तं अवेऊण सच्चवच्चिजोगो वत्तव्वो । —षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६३६

सत्यवचनयोगी में सत्य मनोयोगी की तरह मिथ्यादृष्टि से सयोगी गुणस्थान तक
होते हैं ।

.४३ मृषावचनयोगी जीवों में

मोसवच्चिजोगस्स वि मोसमणजोग-भंगो । णवरि मोसवच्चिजोगो
वत्तव्वो । —षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६३६

मृषावचनयोगी में मिथ्यादृष्टि से क्षीण मोह तक मृषामनोयोगी की तरह गुणस्थान
मिलते हैं ।

.४४ सत्यमृषावचनयोगी जीवों में

एवं (जहा मोसवच्चिजोगस्स) सच्चमोसवच्चिजोगस्स वि वत्तव्वं ।

—षट्० खं० १, १ । पु० २ । पृ० ६३६

सत्यमृषा मनोयोगी की तरह सत्यमृषा वचनयोगी में मिथ्यादृष्टि से क्षीण मोह
गुणस्थान होते हैं ।

.४५ असत्यमृषावचनयोगी जीवों में

असच्चमोसवच्चिजोगस्स वच्चिजोग-भंगो । णवरि असच्चमोसवच्चिजोगो
एक्कोचेव वत्तव्वो । —षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६३६

असत्यमृषा मनोयोगी की तरह असत्यमृषा वचनयोगी में मिथ्यादृष्टि से सयोगी केवली गुणस्थान तक होते हैं। लेकिन असत्यमृषा वचनयोग एक की ही वक्तव्यता जाननी चाहिए।

.४६ काययोगी में

कायजोगीणं भण्णमाणे × × × सत्त कायजोग × × × । तेसिं चेव पज्जत्ताणं × × × वेउव्वियमिस्सेण विणा छ जोग तिण्णि वा × × × । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं × × × अत्तारि जोग × × × । कायजोगि-मिच्छाइट्ठीणं × × × पंच कायजोग × × × । तेसिं चेव पज्जत्ताणं × × × वे जोग × × × । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं × × × तिण्णि जोग × × × । कायजोगि सासनसम्माइट्ठीणं × × × पंच जोग × × × । तेसिं चेव पज्जत्ताणं × × × वे जोग × × × । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं × × × तिण्णि जोग × × × । कायजोगि-सम्माभिच्छा-इट्ठीणं × × × वे जोग × × × । कायजोगि-असंजदसम्माइट्ठीणं × × × पंच जोग × × × । तेसिं चेव पज्जत्ताणं × × × वे जोग × × × । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं × × × तिण्णि जोग × × × । कायजोगि-संजदासंजदाणं × × × ओरालियकायजोगो × × × । कायजोगि-पमत्तसंजदाणं × × × ओरालिय-आहार-आहारमिस्सा इदि तिण्णि जोग × × × । कायजोगि-अप्पमत्तसंजदाणं × × × ओरालियकायजोगो × × × । अपुव्वयरणप्पहुडि जाव खीणकसाओ त्ति ताव कायजोगीणं मूलोद्य-भंगो । णवरि ओरालियकायजोगो सब्बत्थ वत्तवो । कायजोगि-केवलीणं × × × ओरालिय-ओरालियमिस्स-कम्मइय-कायजोगो इदि तिण्णि जोग × × × । —षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६३७-४८

काययोगी के कथन में सात योग का कथन करना चाहिए। यथा—(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिकमिश्र काययोग, (३) वैक्रिय काययोग, (४) वैक्रियमिश्र काययोग, (५) आहारक काययोग, (६) आहारकमिश्र काययोग और (७) कर्मण काययोग।

पर्याप्त में वैक्रियमिश्र काययोग को छोड़कर छह योग अथवा तीन योग होते हैं। अपर्याप्त में चार योग होते हैं।

काययोगी मिथ्यादृष्टि में पाँच काययोग (आहारक, आहारकमिश्र काययोग छोड़कर) होते हैं। इनके पर्याप्त में दो योग तथा अपर्याप्त में तीन योग होते हैं।

काययोगी सास्वादान समदृष्टि गुणस्थान में पाँच योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दो योग तथा अपर्याप्त में तीन योग होते हैं।

काययोगी सम्यग्मिथ्यादृष्टि में दो योग वैक्रिय-औदारिक काययोग होते हैं। (इनमें पर्याप्त अवस्था ही होती है।) काययोगी असंयत सम्यग्दृष्टि में पाँच योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दो योग तथा अपर्याप्त में तीन योग होते हैं।

काययोगी संयतासंयत गुणस्थान में औदारिककाय योग (एक योग) होता है।

काययोगी प्रमत्त संयत गुणस्थान में—औदारिक, आहारक तथा आहारकमिश्र काययोग—तीन काय योग होते हैं।

काययोगी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में एक काययोग—(औदारिक काययोग) होता है।

काययोगी अपूर्वकरण से क्षीणमोह गुणस्थान तक सिर्फ औदारिक काययोग होता है।

काययोगी सयोगी केवली गुणस्थान में तीन काययोग होते हैं—यथा—औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग और कर्मण काययोग।

४७ औदारिक काययोगी में

ओरालियकायजोगीणं भण्णमाणे $X \times X \times$ ओरालियकायजोगो $\times \times \times$ ।
ओरालियकायजोगि-मिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ ओरालियकायजोगो $\times \times \times$ । ओरा-
लियकायजोगि-सासणसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ ओरालियकायजोग $\times \times \times$ । ओरा-
लियकायजोगि-सम्माभिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ ओरालियकायजोगो $\times \times \times$ ।
ओरालियकायजोगि-असंजदसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ ओरालियकायजोगो $\times \times \times$ ।
संजदासंजदप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ताव कायजोगि-भंगो । णवरि
सव्वत्थ ओरालियकायजोगो एको चेव वत्तव्वो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ६४६-५२

औदारिक काययोगी के कथन में औदारिक काययोग का कथन करना चाहिए।

औदारिक काययोगी मिथ्यादृष्टि में औदारिक काययोग होता है।

औदारिक काययोगी सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में औदारिककाययोग होता है।

औदारिक काययोगी सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में औदारिक काययोग होता है।

औदारिक काययोगी असंयत सम्यग्दृष्टि में औदारिक काययोग होता है।

औदारिक काययोगी संयतासंयत गुणस्थान में औदारिक काययोग होता है। यावत् (औदारिक प्रमत्तसंयत गुणस्थान से सयोगी केवली गुणस्थान तक औदारिक काययोगी सयोगी गुणस्थान में औदारिक काययोग होता है। लेकिन सर्व स्थान पर औदारिक काययोग—एक का ही कथन करना चाहिए।

४८ औदारिक मिश्रकाययोगी में

ओरालियमिस्सकायजोगीणं भण्णमाणे $\times \times \times$ ओरालियमिस्सकाय-
जोगो $\times \times \times$ । ओरालियमिस्सकायजोगि-मिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ ओरालिय-
मिस्सकायजोगो $\times \times \times$ । ओरालियमिस्सकायजोगि - सासणसम्माइट्ठीणं
 $\times \times \times$ ओरालियमिस्सकायजोगो $\times \times \times$ । ओरालियमिस्सकायजोगि-असं-
जदसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ ओरालियमिस्सकायजोगो $\times \times \times$ । ओरालिय-
मिस्सकायजोगि-सजोगिकेवलीणं $\times \times \times$ ओरालियमिस्सकायजोगो $\times \times \times$ ।

—षट्० खं० १, ८ । पु २ । पृ० ६५३-६०

औदारिकमिश्र काययोगी की वक्तव्यता में औदारिकमिश्र काययोग का कथन करना चाहिए ।

(१) औदारिकमिश्र काययोगी मिथ्यादृष्टि में औदारिकमिश्र काययोग होता है ।

(२) औदारिकमिश्र काययोग सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग होता है ।

(३) औदारिकमिश्र काययोगी असंयत सम्यग्दृष्टि में औदारिकमिश्र काययोग होता है ।

(४) औदारिकमिश्र काययोगी सयोगी केवली गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग होता है ।

४९ वैक्रियकाययोगी में

वेउव्वियकायजोगीणं भण्णमाणे $\times \times \times$ वेउव्वियकायजोगो $\times \times \times$ ।
वेउव्वियकायजोगि-मिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ वेउव्वियकायजोग $\times \times \times$ । वेउव्विय-
कायजोगि-सासणसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ वेउव्वियकायजोगो $\times \times \times$ । वेउव्विय-
कायजोगि-सम्मामिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ वेउव्वियकायजोगो $\times \times \times$ । वेउव्वि-
यकायजोगि-असंजदसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ वेउव्वियकायजोग $\times \times \times$ ।

—षट्० खं० १ । १ । पु २ । पृ० ६६१-६३

वैक्रिय काययोगी की वक्तव्यता में वैक्रिय काययोग की वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

वैक्रिय काययोगी मिथ्यादृष्टि में वैक्रिय काययोग होता है ।

वैक्रिय काययोगी सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में वैक्रिय काययोग होता है ।

वैक्रिय काययोगी सम्यग्-मिथ्यादृष्टि में वैक्रिय काययोग तथा वैक्रिय काययोगी असंयतसम्यग्दृष्टि में वैक्रिय काययोग होता है ।

.५० वैक्रियमिश्रकाययोगी में

वेडव्वियमिस्सकायजोगीणं भण्णमाणे $x \times x$ वेडव्वियमिस्सकायजोगो $x \times x$ । वेडव्वियमिस्सकायजोगि-मिच्छाइट्ठीणं $x \times x$ वेडव्वियमिस्सकायजोगो $x \times x$ । वेडव्वियमिस्सकायजोगि-सासणसम्माइट्ठीणं $x \times x$ वेडव्वियमिस्सकायजोगो $x \times x$ । वेडव्वियमिस्सकायजोगि-असंजदसम्माइट्ठीणं $x \times x$ वेडव्वियमिस्सकायजोगो $x \times x$ । —षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६६४-६६

वैक्रियमिश्र काययोगी जीव की वक्तव्यत्ता में वैक्रियमिश्र काययोगी का प्रतिपादन करना चाहिए ।

वैक्रियमिश्र काययोगी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में वैक्रियमिश्र काययोग होता है ।

वैक्रियमिश्र काययोगी सास्वादान सम्यग्दृष्टि में वैक्रियमिश्र काययोग होता है तथा वैक्रियमिश्र काययोगी असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में वैक्रियमिश्र काययोग होता है ।

.५१ आहारक काययोगी में

आहारककायजोगाणं भण्णमाणे $x \times x$ आहारकायजोगो $x \times x$ ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ पृ० ६६७

आहारक काययोगी भी वक्तव्यत्ता में आहार काययोग का प्रतिपादन करना चाहिए । यह योग प्रमत्त संयत गुणस्थान में ही होता है ।

.५२ आहारक मिश्रकाययोगी में

आहारमिस्सकायजोगाणं भण्णमाणे $x \times x$ आहारमिस्सकायजोगो $x \times x$ । —षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६६८

आहारकमिश्र काययोगी की वक्तव्यत्ता में आहारकमिश्र काययोग का प्रतिपादन करना चाहिए । यह योग भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही होता है ।

.५३ कामणकाययोगी में

कम्मइयकायजोगाणं भण्णमाणे $x \times x$ कम्मइयकायजोगो $x \times x$ । कम्मइयकायजोग-मिच्छाइट्ठीणं $x \times x$ कम्मइयकायजोगो $x \times x$ । कम्मइयकायजोग-सासणसम्माइट्ठीणं $x \times x$ कम्मइयकायजोगो $x \times x$ । कम्मइयकायजोग-असंजदसम्माइट्ठीणं $x \times x$ कम्मइयकायजोगो $x \times x$ । कम्मइयकायजोग-सजोगिकेवलीणं $x \times x$ कम्मइयकायजोगो $x \times x$ ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६६८-७२

कामणकाययोगी की वक्तव्यत्ता में कामणकाययोग का प्रतिपादन करना चाहिए ।

कर्मणकाययोगी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में कर्मणकाययोग होता है । कर्मणकाय-योगी सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में कर्मणकाययोग होता है । कर्मणकाययोगी असंयत गुणस्थान में कर्मणकाययोग होता है तथा कर्मणकाययोगी सयोगी गुणस्थान में कर्मणकाययोग होता है ।

.५४ अयोगी में

सुगममजोगीणं ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६७२

अयोगी—अयोगी केवली गुणस्थान अयोग—योग रहित होता है ।

.५५ सवेदी में

वेदानुवादेण अनुवादो जहा मूलोघो णीदो तथा पेदब्बो ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६७२

सवेदी में प्रथम नौ गुणस्थान होते हैं सवेदी जीव में षण्द्रह योग होते हैं ।

.५६ स्त्रीवेदी में

इत्थिवेदाणं भण्णमाणे x x x आहार-आहारमिस्सकायजोगेहि विणा तेरह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । इत्थिवेद-अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x । इत्थिवेद-मिच्छाइट्ठीणं x x x तेरह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x । इत्थिवेद-सासणसम्माइट्ठीणं x x x तेरह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x । इत्थिवेद-सम्मामिच्छाइट्ठीणं x x x दस जोग x x x । इत्थिवेद-असंजद-सम्माइट्ठीणं x x x दस जोग x x x । इत्थिवेद-संजदासंजदाणं णव जोग x x x । इत्थिवेद-पमत्तसंजदाणं x x x णव जोग, आहारदुगं णत्थि x x x । इत्थिवेद-अप्पमत्तसंजदाणं x x x णव जोग x x x । इत्थिवेद-अपुब्बयरणाणं x x x णव जोग x x x । इत्थिवेद-अणियट्ठीणं x x x णव जोग x x x ।

—षट्० खं० १, १ । पु २ । पृ० ६७३-८३

स्त्री वेदी जीव में आहारक-आहारकमिथ्र काययोग के बाद देकर तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग होते हैं । (आहारक, आहारकमिथ्र, वैक्रियमिथ्र, औदारिकमिथ्र, कर्मणकाययोग छोड़कर दस योग), अपर्याप्त स्त्री वेदी में तीन योग वैक्रियमिथ्र काययोग औदारिकमिथ्र तथा कर्मणकाय योग) होते हैं । मिथ्यादृष्टि स्त्रीवेदी में तेरह योग होते हैं । इनके अपर्याप्त में दस योग व अपर्याप्त में तीन योग होते हैं । स्त्री वेदी सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तेरह योग । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त तीन योग होते हैं । स्त्री

वेदी सम्यग्मिथ्यादृष्टि में दस योग होते हैं । स्त्री वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में दस योग होते हैं । स्त्री वेदी संयतासंयत गुणस्थान में नव योग, स्त्री वेदी प्रमत्तसंयत में नौ योग (चार मन के, ४ वचन के, १ औदारिक काययोग = ६ योग) आहारक-आहारिक मिश्रयोग स्त्री वेदी प्रमत्तसंयत में नहीं होता है । स्त्री वेदी अप्रमत्तसंयत में, अपूर्वकरण में अनिवृत्ति बादर गुणस्थान में नौ योग होते हैं ।

५७ पुरुषवेदी में

पुरिसवेदानं भण्णमाणे × × × पण्णारह जोग × × × । तेसिं खेव पज्जत्ताणं × × × एगारह जोग × × × । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं × × × चत्तारि जोग × × × । पुरिसवेद-मिच्छाइट्ठीणं × × × तेरह जोग × × × । तेसिं खेव पज्जत्ताणं × × × दस जोग × × × । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं × × × तिण्णि जोग × × × । पुरिसवेद-सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव पढम-अणियट्ठि त्ति ताव मूलोघ-भंगो । × × × । — षट्. खं १, १ । पु २ । पृ० ६८४-८८८

पुरुष वेद में पन्द्रह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग होते हैं तथा अपर्याप्त में चार योग होते हैं (औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारिकमिश्र कर्मणकाययोग) पुरुष वेद मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में तेरह योग । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते पुरुषवेद सास्वादान सम्यग्दृष्टि में तेरह योग, इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं—(वैक्रियमिश्रकाय, औदारिकमिश्र काययोग तथा कर्मणकाययोग) पुरुष वेद सम्यग्मिथ्यादृष्टि में दस योग होते हैं । इस गुणस्थान में अपर्याप्त अवस्था नहीं बनती है । पुरुष वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि में दस योग । संयतासंयत में नौ योग होते हैं । प्रमत्तसंयत में ग्यारह योग होते हैं । अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, प्रथम अनिवृत्ति बादर गुणस्थान में नौ योग होते हैं ।

५८ नपुंसकवेदी में

णवुंसयवेदानं भण्णमाणे × × × तेरह जोग × × × । तेसिं खेव पज्जत्ताणं × × × दस जोग × × × । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं × × × तिण्णि जोग × × × । णवुंसयवेद-मिच्छाइट्ठीणं × × × तेरह जोग × × × । तेसिं खेव पज्जत्ताणं × × × दस जोग × × × । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं × × × तिण्णि जोग × × × । णवुंसयवेद-सासणसम्माइट्ठीणं × × × बारह जोग, सासणगुणेण जीवा णिरयगदीए ण उप्पज्जंति तेण वेउव्वियमिस्सकायजोगो णत्थि । × × × । तेसिं खेव पज्जत्ताणं × × × दस जोग । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं × × × वे जोग × × × । णवुंसयवेद-सम्माइट्ठीणं × × × दस जोग × × × । णवुंसयवेद-असंजदसम्माइट्ठीणं × × × बारह जोग, ओराजियमिस्सकायजोगो णत्थि ।

X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X दस जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं
X X X वे जोग X X X । णउंसयवेद-संजदासंजदाणं X X X णव जोग ।
X X X । णउंसयवेद-पमत्तसंजदप्पहुडि जाव पढम-अणियट्ठि त्ति ताव इत्थिवेद-
भंगो । —षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ६८८-६८८

नपुंसक वेद में तेरहयोग होते हैं ? इनके पर्याप्त में दस योग होते हैं । (आहारक, आहारिकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग, औदारिकमिश्र काययोग कर्मणकाययोग की बाद देकर=१० योग) अपर्याप्त नपुंसक वेद में तीन योग (औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग-कर्मणकाययोग) होते हैं । नपुंसक मिथ्यादृष्टि में तेरहयोग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग तथा अपर्याप्त में तीन योग होते हैं । नपुंसक सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बारह योग (आहारक-आहारिकमिश्र वैक्रियमिश्र काययोग बाद) होते हैं । चूँकि नपुंसक सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान के जीव नरकगति में उत्पन्न नहीं होते हैं अतः इनमें वैक्रियमिश्र काययोग नहीं होता है । नपुंसक सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान के पर्याप्त में दस योग तथा अपर्याप्त में दो योग होते हैं—औदारिकमिश्र काययोग तथा कर्मण काययोग । नपुंसक सम्यग्मिथ्यादृष्टि में दस योग होते हैं । इस गुणस्थान में अपर्याप्त अवस्था नहीं होती है । नपुंसक असंयत सम्यग्दृष्टि में बारह योग होते हैं । (औदारिक मिश्र काययोग नहीं होता है ।)

इनके पर्याप्त में दस योग तथा अपर्याप्त में दो योग होते हैं । नपुंसक वेद संयता-संयत में नौ योग होते होते हैं ।

नपुंसक वेद प्रमत्तसंयत यावत् प्रथम अनिवृत्ति बादर गुणस्थान में स्त्री वेद की तरह नौ योग होते हैं ।

.५९ अपगतवेदी में

अवगदवेदाणं भण्णमाणे X X X एगारह जोग अजोगो चि अत्थि
X X X । विदिय-अणियट्ठिप्पहुडि जाव सिद्धा त्ति ताव मूलोघ-भंगो ।

—षट्० खं १, १ । पु २ । पृ ६९८-६९८

अपगत वेदी—अर्थात् वेदरहित जीव में ग्यारह योग होते हैं—(नौ योग में औदारिकमिश्र काययोग कर्मणकाययोग=११ योग होते हैं) तथा अयोगी भी होते हैं। द्वितीय भाग के अनिवृत्ति बादर गुणस्थान यावत् सिद्धों में मूल औधिक की तरह नौ योग होते हैं—द्वितीय भाग अनिवृत्ति बादर गुणस्थान में नौ योग, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में नौ योग होते हैं । तेरहवें गुणस्थान में सातयोग (५+२=७ (औदारिकमिश्र काययोग-कर्मणकाययोग) चौदहवें गुणस्थान तथा सिद्धों में योग नहीं है ।

.६० सकषायी में

कसायाणुवादेण ओघालावा मूलोघ-भंगा ।

—षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ६९९

सकषायी में पन्द्रह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग होते हैं तथा अपर्याप्त में चार योग (औदारिकमिश्र, आहारकमिश्र, वैक्रियमिश्र तथा कर्मण काययोग) होते हैं । औधिक आलाप की तरह सकषायी में योग का प्रतिपादन करना चाहिए ।

.६१ क्रोधकषायी में

क्रोधकसायाणं भण्णमाणे X X X पण्णारह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X एगारह जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X चत्तारि जोग X X X । क्रोधकसाय-मिच्छाइट्ठीणं X X X तेरह जोग X X x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X तिण्णि जोग X X X । क्रोधकसाय-सासणसम्माइट्ठीणं X X X तेरह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X दस जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X तिण्णि जोग X X X । क्रोधकसाय-सम्मामिच्छाइट्ठीणं X X X दस जोग X X X । क्रोधकसाय-असंजदसम्माइट्ठीणं X X X तेरह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X दस जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X तिण्णि जोग X X X । क्रोधकसाय-संजदासंजदाणं X X X णव जोग X X X । क्रोधकसाय-पमत्तसंजदाणं X X X एगारह जोग x x x । क्रोधकसाय-अप्पमत्तसंजदाणं x x x णव जोग x x x । क्रोधकसाय-अपु-व्वयरणाणं x x x णव जोग x x x । क्रोधकसाय-पढमअणियट्ठीणं x x x णव जोग x x x । क्रोधकसाय-विदिय-अणियट्ठीणं X X X णव जोग X X X ।

— षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७००-१२

क्रोधकषायी में पन्द्रह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग तथा अपर्याप्त में चार योग । (औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग, आहारकमिश्र काययोग तथा कर्मणकाययोग) होते हैं ।

क्रोधकषायी मिथ्यादृष्टि में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग तथा अपर्याप्त में तीन योग होते (वैक्रियमिश्र काययोग, औदारिकमिश्र काययोग तथा कर्मण-काययोग) क्रोधकषायी सास्वादन सम्यग्दृष्टि में तेरह योग होते हैं इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं । क्रोधकषायी सम्यग्मिथ्यादृष्टि में दस योग होते हैं । क्रोधकषायी असंयत सम्यग्दृष्टि में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं । क्रोधकषायी संयतासंयत में नवयोग होते हैं । क्रोधकषायी प्रमत्तसंयत में ग्यारह योग, अप्रमत्त संयत में नौ योग, क्रोधकषायी अपूर्वकरण गुणस्थान में नव योग, क्रोधकषायी प्रथम अनिवृत्ति गुणस्थान बादर तथा द्वितीय अनिवृत्ति बादर गुणस्थान में नौ योग होते हैं ।

.६२ मानकषायी में

.६३ मायाकषायी में

.६४ लोभकषायी में

एवं (जहा क्रोधकसायाणं) माण-मायाकसायाणं पि मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति वत्तव्वं ।

लोभकसायस्स क्रोधकसाय-भंगो । णवरि ओघात्तावे भण्णमाणे दस गुणट्ठाणाणि x x x ।
—षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ७१२

मानकषायी तथा मायाकषायी के विषय, में जैसा क्रोधकषायी के विषय में कहा—
वैसा कहना चाहिए । मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से द्वितीय अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तक जानना चाहिए ।

लोभकषायी के विषय में क्रोधकषायी की तरह जानना चाहिए लेकिन (सूक्ष्म संपराय तक) मिथ्या दृष्टि से दसवें गुणस्थान तक कहना चाहिए ।

.६५ अकषायी में

अकसायाणं भण्णमाणे x x x एगारह जोग अजोगो वि अत्थि x x x ।
उवसंतकसायप्पहुडि जाव सिद्धा त्ति ओघ-भंगो ।

—षट्० खं १, १ । पु । पृ० ७१३-१४

अकषायी में ग्यारह योग होते हैं । उपशांत मोह गुणस्थान व क्षीण मोहनीय गुणस्थान में नौ योग तथा तेरहवें गुणस्थान में सात योग होते हैं । चौदहवां गुणस्थान अयोगी होता है । सिद्ध भी अयोगी होते हैं ।

.६६ मति-अज्ञानी में

.६७ श्रुत-अज्ञानी में

मदि-सुदअण्णाणीणं भण्णमाणे x x x तेरह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x । मदि-सुदअण्णाण-मिच्छाइट्ठीणं x x x तेरह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x । मदि-सुदअण्णाण-सासणसम्माइट्ठीणं x x x तेरह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x ।
—षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ७१४-२०

मति-अज्ञानी व श्रुत-अज्ञानी में तेरह योग, इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं (औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग—कार्मणकाययोग ।)

मति-अज्ञानी, श्रुतअज्ञानी मिथ्यादृष्टि में तेरह योग, इनके पर्याप्त में दस योग अपर्याप्त में तीन योग होते हैं। मति-श्रुत अज्ञानी सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तेरह योग, इनके पर्याप्त में दस योग व अपर्याप्त में तीन योग होते हैं।

नोट—मति-श्रुत अज्ञानी सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में दस योग होते हैं।

.६८ विभंगज्ञानी में

विभंगणाणाणं भण्णमाणे $x \times x$ दस जोग $\times \times \times$ । विभंगणाणि-मिच्छा-इट्ठीणं $x \times x$ दस जोग $x \times x$ । विभंगणाणि सासणसम्माइट्ठीणं $x \times x$ दस जोग $x \times x$ ।
—षट्० खं १, १। पु २। पृ० ७२०-२२

विभंगज्ञानी में दस योग, विभंगज्ञानीमिथ्यादृष्टि में दस योग व विभंगज्ञानी सास्वादान सम्यग्दृष्टि में दस योग होते हैं।

नोट—विभंगज्ञानी सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में दस योग होते हैं—४ मन के, ४ वचन के, वैक्रियकाययोग व औदारिक काययोग=१० योग।

.६९ मतिज्ञानी में (आभिनिबोधिक ज्ञानी में)

.७० श्रुतज्ञानी में

आभिणिबोहिय सुदणाणाणं भण्णमाणे $x \times x$ पण्णारह जोग $x \times x$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $x \times x$ एगारह जोग $x \times x$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $x \times x$ चत्तारि जोग $x \times x$ । आभिणिबोहिय सुदणाण असंजदसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ तेरह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ तिण्णि जोग $\times \times \times$ । संजदासंजदप्पहुडि जाव क्षीणकसाओ त्ति ताव मूलोघ-भंगो।
—षट्० खं १, १। पु २ पृ० ७२२-२६

आभिनिबोधिक-श्रुतज्ञानी में पन्द्रह योग, इनके पर्याप्त में ग्यारहयोग, अपर्याप्त में चार योग (आहारकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग, आहारकमिश्र काययोग कार्मण-काययोग) होते हैं। आभिनिबोधिक-श्रुतज्ञानी असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तेरह योग, इनके पर्याप्त में दस योग तथा अपर्याप्त में तीन योग होते हैं। संयतासंयत यावत् क्षीणकषायी आभिनिबोधिक-श्रुतज्ञानी में मूलौघिक की तरह जानना चाहिए।

आभिनिबोधिक-श्रुतज्ञानी संयतासंयत में नौ योग, प्रमत्तसंयत में चौदह योग (कार्मणयोग छोड़कर) अप्रमत्त संयत से क्षीणमोहनीय गुणस्थान में नव योग होते हैं। (सत्यमनोयोग, व्यवहारमनोयोग, असत्यमनोमोग, मिश्रमनोयोग, सत्यवचनयोग, व्यवहार-वचनयोग, असत्यवचनयोग, मिश्रवचनयोग, औदारिककाययोग)।

.७१ अवधिज्ञानी में

एवमोहिणाणं पि वत्तव्वं।

—षट्० खं १, १। पु २। पृ० ७२६

इसी प्रकार अवधिज्ञानी के विषय में जानना चाहिए । (मतिज्ञानी-श्रुतज्ञानी की तरह) ।

.७२ मनःपर्ययज्ञानी में

मणपज्जवणाणीणं भण्णमाणे X X X आहारदुगेण विणा णव जोग X X X । मणपज्जवणाण पमत्तसंजदप्पहुडि जाव खीणकसाओ त्ति ताव मूलोघ-भंगो ।
—षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ७२७-२६

मनःपर्ययज्ञानी में आहारक-आहारकमिश्र काययोग के बिना नौ योग होते हैं । मनःपर्ययज्ञानी प्रमत्तसंयत से क्षीणकषायी गुणस्थान में मूलौघिक की तरह नौ योग जानना चाहिए । (मनःपर्ययज्ञानी अप्रमत्तसंयत में नवयोग, मनःपर्ययज्ञानी अप्रमत्तसंयत से क्षीण-मोहनीय गुणस्थान में नौ योग होते हैं (सत्यमनोयोग, व्यवहारमनोयोग, असत्य मनोयोग, मिश्र मनोयोग, सत्यवचनयोग, व्यवहार वचनयोग, असत्य वचनयोग, मिश्र वचनयोग, औदारिक काययोग) ।

.७३ केवलज्ञानी में

केवलज्ञाणाणां भण्णमाणे X X X सत्त जोग अजोगो वि अत्थि X X X । सजोगि-अजोगि-सिद्धाणमाजावा मूलोघोव्व वत्तव्वा ।
—षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ७२६-३०

केवलज्ञानी में सातयोग होते हैं, अयोगी भी होते हैं ।

सयोगी केवली में सात योग, अयोगी व सिद्ध में योग नहीं है ।

.७४ चक्षुदर्शनी में

चक्खुदंसणीणं भण्णमाणे X X X पण्णारह जोग X X X । तेसिं खेव पज्जत्ताणं X X X एगारह जोग X X X । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं X X X अत्तारि जोग X X X । चक्खुदंसण मिच्छाइट्ठीणं X X X तेरह जोग X X X । तेसिं खेव पज्जत्ताणं X X X दस जोग X X X । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं X X X तिण्णि जोग X X X । चक्खुदंसण-सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाओ त्ति मूलोघ-भंगो ।
—षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ७३८-४३

चक्षुदर्शनी में पन्द्रह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग (औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग, आहारकमिश्र काययोग कर्मणकाययोग को छोड़कर) ।

चक्षुदर्शनी मिथ्यादृष्टि में तेरह योग । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं ।

चक्षुदर्शनी सास्वादान सम्यग्दृष्टि यावत् क्षीणमोहनीय गुणस्थान में मूलऔघिक की तरह जानना चाहिए ।

.७५ अचक्षुदर्शनी में

अचक्षुर्दंसणाणं भण्णमाणे X X X पण्णारह जोग × × × । तेसिं चेव पज्जत्ताणं × × × एगारह जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X चत्तारि जोग X X X । अचक्षुर्दंसण-मिच्छाइट्ठीणं X X X तेरह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं × × × दस जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं × × × तिण्णि जोग × X X । सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाओ त्ति ताव मूलोघ-भंगो ।
—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७४३-४७

अचक्षुदर्शनी में पन्द्रह योग कहा है । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग, अपर्याप्त में चार योग (औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग, आहारकमिश्र काययोग, कर्मण काययोग) होते हैं ।

अचक्षुदर्शनी मिथ्यादृष्टि में तेरह योग, इनके पर्याप्त में दस योग—४ मन के योग, ४ वचन के योग—वैक्रिय काययोग, औदारिक काययोग होते हैं । इनके अपर्याप्त में तीन योग—औदारिक, औदारिकमिश्र काययोग, कर्मण काययोग होते हैं ।

सास्वादान सम्यग्दृष्टि यावत् क्षीणकषाय गुणस्थान में मूलौघिक की तरह योग कहना चाहिए ।

.७६ अवधिदर्शनी में

ओहिदंसणीणं भण्णमाणे X X X पण्णारह जोग × × × । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X एगारह जोग × × × । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X चत्तारि जोग × × × । असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाओ त्ति ताव ओहिणाण-भंगो ।
—षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ७४८-५०

अवधि दर्शन में पन्द्रह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग, अपर्याप्त में चार योग होते हैं । अवधिदर्शनी असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से क्षीणकषाय गुणस्थान में अवधिज्ञान की तरह वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

.७७ केवलदर्शनी में

केवलदंसणस्स केवलजाण-भंगो । —षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७५०

केवलदर्शनी में सात योग होते हैं । केवलदर्शनी सयोगी केवली गुणस्थान में सात योग, केवलदर्शनी अयोगी केवली गुणस्थान में योग नहीं होता है । केवलदर्शनी सिद्धों में योग नहीं होता है ।

७८ सलेशी में

लेस्साणुवादेण ओघालावो मूलोघ-भंगो । णवरि-अजोगिगुणट्ठाणेण
बिणा तेरह गुणट्ठाणाणि अत्थि X X X । —षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७५०

सलेशी में पन्द्रह योग होते हैं । अयोगी केवली गुणस्थान के बिना तेरह गुणस्थान में सलेशी होते हैं । लेश्यानुवाद में—औघिक आलाप मूलौघिक की तरह योग कहना चाहिए ।

७९ कृष्णलेशी में

किण्हलेस्साजावे भणमाणे x x x तेरह जोग । तेसिं चेव पज्जत्ताणं
x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग
x x x । किण्हलेस्सा-मिच्छाइट्ठीणं x x x तेरह जोग x x x । तेसिं
चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x
तिण्णि जोग x x x । किण्हलेस्सा-सासणसम्माइट्ठीणं x x x तेरह जोग
x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव
अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x । किण्हलेस्सा-सम्मामिच्छाइट्ठीणं x x x
दस जोग x x x । किण्हलेस्सा-असंजदसम्माइट्ठीणं x x x वेउव्वियमिस्सेण
बिणा बारह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग । तेसिं चेव
अपज्जत्ताणं x x x वे जोग x x x । —षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७५०-५८

कृष्णलेशी में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं ।

कृष्णलेशी मिथ्यादृष्टि में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं ।

कृष्णलेशी सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं ।

कृष्णलेशी सम्मामिथ्यादृष्टि गुणस्थान में दस योग होते हैं ।

कृष्णलेशी असंयतसम्यग्दृष्टि में वैक्रियमिश्र काययोग के बिना बारह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में दो योग (औदारिकमिश्र काययोग, कामैण काययोग) होते हैं ।

८० नीललेशी में

णीललेस्साए भणमाणे ओघादेसालावा किण्हलेस्सा-भंगा ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७५६

नीललेशी में तेरह योग होते हैं। इसका सब विवेचन कृष्णलेशी की तरह जानना चाहिए।

.८१ कापोतलेशी में

काउलेस्साणं भण्णमाणे $\times \times \times$ तेरह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ तिण्णि जोग $\times \times \times$ । काउलेस्सा-मिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ तेरह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ तिण्णि जोग $\times \times \times$ । काउलेस्सा-सासणसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ तेरह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ तिण्णि जोग $\times \times \times$ । काउलेस्सा-सम्मामिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । काउलेस्सा-असंजदसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ तेरह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ तिण्णि जोग $\times \times \times$ ।

—षट्. खं १। १। पु २। पृ० ७५६-६८

कापोतलेशी में तेरह योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं। कापोतलेशी मिथ्यादृष्टि में तेरह योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दस योग व अपर्याप्त में तीन योग होते हैं।

कापोतलेशी सास्वादान सम्यग्दृष्टि में तेरह योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं। कापोतलेशी सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में दस योग होते हैं। कापोतलेशी असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तेरह योग, इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं।

.८२ तेजोलेशी में

तेउलेस्साणं भण्णमाणे $\times \times \times$ पण्णारह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ एगारह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ चत्तारि जोग $\times \times \times$ । तेउलेस्सा-मिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ ओरालियमिस्सेण विणा बारह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । तेउलेस्सा-सासणसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ ओरालियमिस्सेण विणा बारह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । तेउलेस्सा-सम्मामिच्छाइट्ठीणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेउलेस्सा-असंजदसम्माइट्ठीणं $\times \times \times$ तेरह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव

अपञ्जत्ताणं X X X तिण्णि जोग X X X । तेउल्लेस्सा-संजदासंजदाणं X X X
णव जोग X X X । तेउल्लेस्सा-पमत्तसंजदाणं x x x एगारह जोग x x x ।
तेउल्लेस्सा-अप्पमत्तसंजदाणं X X X णव जोग x x x ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७६८-७६

तेजोलेशी में पन्द्रह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग (वैक्रियमिश्र काय-योग, औदारिकमिश्र काययोग, आहारकमिश्र काययोग, कर्मण योग को छोड़कर) तथा अपर्याप्त में चार योग होते हैं (औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र, कर्मण काययोग) । तेजोलेश्यामिथ्यादृष्टि में बारह योग होते हैं—औदारिकमिश्र काययोग के बिना । इनके पर्याप्त में दस योग व अपर्याप्त में दो योग होते हैं (वैक्रियमिश्र काययोग और कर्मण काययोग । तेजोलेशी सास्वादान सम्यग्दृष्टि में औदारिकमिश्र काययोग के बिना बारह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में दो योग होते हैं । तेजोलेशी सम्यग्-मिथ्यादृष्टि में दस योग होते हैं । तेजोलेशी असंयत सम्यग्दृष्टि में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं । तेजोलेशी संयतासंयत में नौ योग, तेजोलेशी प्रमत्त संयत में ग्यारह योग (४ मन के, ४ वचन के, औदारिक, आहारक, वैक्रिय काययोग) होते हैं । तेजोलेशी अप्रमत्तसंयत में नौ योग होते हैं ।

८३ पद्मलेशी में

पम्मल्लेस्साणं भण्णमाणे X X X पण्णारह जोग x x x । तेसि चैव पज्ज-त्ताणं x x x एगारह जोग X X X । तेसि चैव अपज्जत्ताणं x x x चत्तारि जोग x x x । पम्पल्लेस्सा-मिच्छाइट्ठीणं x x x ओरालियमिस्सेण विणा बारह जोग x x x । तेसि चैव पज्जत्ताणं X X X दस जोग X X X । तेसि चैव अपज्जत्ताणं X X X दो जोग X X X । पम्मल्लेस्सा-सासणसम्माइट्ठीणं X X X बारह जोग X X X । तेसि चैव पज्जत्ताणं X X X दस जोग X X X । तेसि चैव अपज्ज-त्ताणं X X X दो जोग । पम्मल्लेस्सा-सम्मामिच्छाइट्ठीणं X X X दस जोग x x x । पम्मल्लेस्सा-असंजदसम्माइट्ठीणं X X X तेरह जोग x X X । तेसि चैव पज्जत्ताणं X X X दस जोग X X X । तेसि चैव अपज्जत्ताणं X X X तिण्णि जोग X X X । पम्मल्लेस्सा-संजदासंजदाणं X X X णव जोग X X X । पम्म-ल्लेस्सा-पमत्तसंजदाणं X X X एगारह जोग X X X । पम्मल्लेस्सा-अप्पमत्त-संजदाणं X X X णव जोग X X X । —षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७७६-६०

पद्मलेशी जीव में पन्द्रह योग होते हैं । उनके पर्याप्त में ग्यारह योग तथा अपर्याप्त में चार योग होते हैं । पद्मलेशी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में औदारिक मिश्र काय योग के बिना बारह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में दो योग होते हैं—वैक्रिय मिश्र काययोग तथा कर्मणकाय योग । पद्मलेशी सास्वादान सम्यग्दृष्टि—गुणस्थान में बारह

योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में दो योग होते हैं। पद्मलेशी सम्यग्-मिथ्यादृष्टि में दस योग होते हैं। पद्मलेशी असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तेरह योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं। पद्मलेशी संयतासंयत में नौ योग होते हैं। पद्मलेशी प्रमत्त संयत में ग्यारह योग होते हैं। पद्मलेशी अप्रमत्त-संयत में नौ योग होते हैं।

८४ शुक्ललेशी में

सुकलेस्साणं भण्णमाणे X X X पण्णारह जोग X X x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X एगारह जोग X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X चत्तारि जोग X X X । शुक्कलेस्सा मिच्छाइट्ठीणं X X X ओरालियमिस्सकायजोगेण विणा बारह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x वे जोग X X X । सुक्कलेस्सा-सासणसम्माइट्ठीणं x x x बारह जोग, ओरालियमिस्सकायजोगो णत्थि । कारणं, देव-मिच्छाइ-ट्ठिसासणसम्माइट्ठीणं तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पज्जमाणाणं अमुणिय-परमत्थाणं तिव्वजोहाणं संकिलेसेण तेउ-पम्म-सुकलेस्साओ फिट्ठिऊण किण्ह-णील-काउ-लेस्साणं एगदमा भवदि । सम्माइट्ठीणं पुण मणुस्सेसुचेव उप्पज्जमाणाणं मंदजोहाणं समुणिदपरमत्थाणं अरहतभयवंतमिह छिण्ण-जाइ-जरा-मरणमिह दिण्णबुद्धीणं तेउ-पम्म-सुकलेस्साओ चिरंतणाओ जाव अंतोमुहुत्तं ताव ण णस्संति । x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x दो जोग x x x । सुक्कलेस्सा-सम्मामिच्छाइट्ठीणं x x x दस जोग x x x । सुक्कलेस्सा-असंजदसम्माइट्ठीणं x x x तेरह जोग x x x । तेसिं चेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x । सुक्कलेस्सा-संजदासंजदाणं x x x णव जोग X X X । सुक्कलेस्सा-पमत्तसंजदाणं X X X एगारह जोग X X X । सुक्कलेस्सा-अपमत्तसंजदाणं X X X णव जोग X X X । अपुव्वयरणप्पहुडि जाव जाव सजोगिकेवलि त्ति ओघभंगो; तेसु शुक्कलेस्सा-वदिरित्तणलेस्साभावादो ।

—षट्० खं० १, १ । पृ० २ । पृ० ७६०-८०१

शुक्ललेशी में पन्द्रह योग होते हैं। इनके पर्याप्त में ग्यारह योग, अपर्याप्त में चार योग होते हैं। शुक्ललेशी मिथ्यादृष्टि में औदारिकमिश्र काययोग के बिना बारह योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दस योग व अपर्याप्त में दो योग-वैक्रियमिश्र काययोग-कर्मण काययोग होते हैं। शुक्ललेशी सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बारह योग (औदारिकमिश्र काययोग के बिना) होते हैं। देव मिथ्यादृष्टि सास्वादान सम्यग्दृष्टि जब तिर्य'च पंचेन्द्रिय

मनुष्य में उत्पन्न होते हैं । x x x । इनके पर्याप्त में दस योग व अपर्याप्त में दो योग होते हैं । शुक्ललेशी सम्यग्मिथ्या दृष्टि में दस योग होते हैं । शुक्ललेशी असंयत सम्यग्दृष्टि में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग व अपर्याप्त में तीन योग होते हैं । शुक्ललेशी संयतासंयत में नौ योग होते हैं । शुक्ललेशी प्रमत्तसंयत में ग्यारह योग होते हैं । शुक्ललेशी अप्रमत्तसंयत में नौ योग होते हैं । शुक्ललेशी अपूर्वकरण गुणस्थान यावत् सयोगी केवली गुणस्थान में योग का विवेचन औधिक भंग की तरह जानना चाहिए ।

८५ अलेशी में

अलेस्साणं अजोगि-सिद्धाणं ओघ-भंगो चेव ।

— षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ८०१

अलेशी जीव अयोगी केवली गुणस्थान वाले होते हैं । अलेशी सिद्ध में भी योग नहीं है ।

८६ भव्यसिद्धिक में

भवियाणुवादेण भवसिद्धियाणं भण्णमाणे मिच्छाइटिप्पहुडि जाव अजोग-केवलि त्ति ओघ-भंगो ।

— षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ८०१

भवसिद्धिक जीव में पन्द्रह योग होते हैं । भवसिद्धिक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान यावत् अयोगीकेवली गुणस्थान में औधिक भंग की तरह योग के विषय में जानना चाहिए ।

८७ अभव्यसिद्धिक में

अभवसिद्धियाणं भण्णमाणे अत्थि एयं गुणट्ठाणं X X X तेरह जोग X X X । तेसिं खेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं X X X तिण्णि जोग X X X ।

— षट्० खं १, १ । पु २ । पृ० ८०१-३

अभवसिद्धिक जीव में गुणस्थान एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है । उसमें योग तेरह होते हैं । अभवसिद्धिक पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं—यथा—वैक्रियमिश्र काययोग, औदारिकमिश्र काययोग-कर्मण काययोग ।

८८ आहारक में

आहाराणुवादेण आहारीणं भण्णमाणे x x x ओइस जोग कम्मइयकाय-जोगो णत्थि x x x । तेसिं खेव पज्जत्ताणं x x x एगारह जोग x x x । ओरा-लिय-वेडव्विय-आहारमिस्स-कम्मइयकायजोगा णत्थि । x x x । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं x x x तिण्णि जोग x x x । आहारि-मिच्छाइट्ठीणं x x x बारह जोग, कम्मइयकायजोगो णत्थि । x x x । तेसिं खेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं खेव अपज्जत्ताणं x x x दो जोग x x x । आहारि-सासणसम्मा-इट्ठीणं x x x बारह जोग x x x । तेसिं खेव पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x ।

तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x दो जोग x x x । आहारिसम्मामिच्छाइट्ठीणं x x x
 दस जोग x x x । आहारि-असंजदसम्मामिच्छाइट्ठीणं x x x बारह जोग x x x । तेसिं चेव
 पज्जत्ताणं x x x दस जोग x x x । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं x x x दो जोग
 x x x । आहारि-संजदासंजदाणं x x x णव जोग x x x । आहारि-पमत्त-
 संजदाणं x x x एगारह जोग x x x । आहारि-अप्पमत्तसंजदाणं x x x
 णव जोग x x x । आहारि-अपुण्यवरणाणं x x x णव जोग x x x आहारि-
 पदम-अणियट्ठीणं x x x णव जोग x x x । सेसच्चट्ठमणियट्ठीणं ओघ-भंगो ।
 आहारि-सुहुमसांपराइयाणं x x x णव जोग x x x । आहारि-उवसंतक-
 सायाणं x x x णव जोग x x x । आहारि-क्षीणकसायाणं x x x णव जोग
 x x x आहारि-सजोगिकेवलीणं x x x छ जोग, कम्मइयकायजोगो णत्थि
 x x x ।

—षट् खं १, १ । पु २ । पृ० ८३६-५०

आहारक में चौदह योग (कर्मणकाय योग को बाद देकर होते हैं । इनके पर्याप्त में ग्यारह योग होते हैं । (औदारिक-वैक्रिय आहारकमिश्र कर्मण काययोग के बिना) । इनके अपर्याप्त में तीन योग होते हैं—

आहारक मिथ्यादृष्टि में बारह योग (कर्मण काय योग नहीं है ।) इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में दो योग; औदारिकमिश्र काययोग वैक्रियमिश्र काययोग होते हैं । आहारक सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बारह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में दो योग होते हैं । आहारक सम्यग् मिथ्यादृष्टि में दस योग होते हैं । आहारक असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बारह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में दो योग होते हैं ।

आहारक संयतासंयत में नौ योग होते हैं । आहारक प्रमत्तसंयत में ग्यारह योग होते हैं । आहारक अप्रमत्तसंयत में नौ योग होते हैं । आहारक अपूर्वकरण गुणस्थान में नव योग होते हैं । आहारक प्रथम अनिवृत्ति गुणस्थान में नौ योग होते हैं । आहारक द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पंचम अनिवृत्ति में औघिक भंग की तरह नौ योग होते हैं ।

आहारक सूक्ष्म संपराय, में नौ योग होते हैं—आहारक उपशांतकषायी में नौ योग तथा क्षीणकषायी में नौ योग होते हैं ।

आहारक सयोगी केवली में छः योग (कर्मण काय योग को छोड़कर) होते हैं ।

८९ अनाहारक में

अणाहारीणं भण्णमाणे x x x कम्मइयकायजोगो अजोगो चि अत्थि
 x x x अणाहारि-मिच्छाइट्ठीणं x x x कम्मइयकायजोगो x x x । अणाहारि-
 सासणसम्मइट्ठीणं x x x कम्मइयकायजोगो x x x । अणाहारि-असंजद-

सम्माइट्ठीणं X X X कम्मइयकायजोगो X X X । अणाहारि-सजोगिकेवलीणं
X X X कम्मइयकाययोगो X X X । अणाहारि-अजोगिकेवलीणं X X X अजोगो
X X X । अणाहारि-सिद्धाणं X X X अजोगो X X X ।

—षट्० खं १, १ । पृ २ । पृ० ८५०-५५

अणाहारिक में एक कर्मण काय योग होता है अणाहारिक जीव में अयोगी अवस्था भी होती है। अणाहारिक मिथ्यादृष्टि में, सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तथा असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में एक कर्मण-काय-योग होता है। अणाहारिक सयोगि-केवली में एक कर्मण काययोग होता है। अणाहारिक अयोगि-केवली में अयोगी होता है। अणाहारिक सिद्ध भी अयोगी ही होता है।

१९ सम्यग्दृष्टि में

सम्मत्ताणुवादेण सम्माइट्ठीणं भण्णमाणे X X X पण्णारह जोग अजोगो
वि अत्थि X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X एगारह जोग अजोगो वि अत्थि
X X X । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X चत्तारि जोग X X X । उवरि असंजदसम्मा-
इट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवल्लि त्ति ताव मूलोघ-भंगो ; तेसिं सव्वेसिं सम्मत-
संभवादो ।

—षट्० खं १, १ । पृ २ । पृ० ८०३-६

सम्यग्दृष्टि में पन्द्रह योग होते हैं। उनके पर्याप्त में ग्यारह योग, अयोगी भी होते हैं। उनके अपर्याप्त में चार योग होते हैं। उपरि असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान यावत् अयोगी केवली में योग के विषय में मूलोघिक भंग की तरह जानना चाहिए। उन सब में सम्यक्त्व होता है।

१०१ क्षायिक सम्यग्दृष्टि में

खइयसम्माइट्ठीणं भण्णमाणे X X X पण्णारह जोग अजोगो वि अत्थि
X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X एगारह जोग अजोगो वि अत्थि X X X ।
तेसिं चेव अपज्जत्ताणं X X X चत्तारि जोग X X X खइयसम्माइट्ठीणं असंजदाणं
तेरह जोग X X X । तेसिं चेव पज्जत्ताणं X X X दस जोग X X X । तेसिं चेव
अपज्जत्ताणं X X X तिण्णि जोग X X X । खइयसम्माइट्ठीणं संजदासंजदाणं X X X
णव जोग X X X । खइयसम्माइट्ठीणं पमत्तसंजदप्पहुडि सिद्धांसणाणं मूलोघ-
भंगो । X X X ।

—षट्० खं १, १ । पृ २ । पृ० ८०७-१२

क्षायिक सम्यग्दृष्टि में पन्द्रह योग होते हैं। उनके पर्याप्त में ग्यारह योग तथा अयोगी भी होते हैं। इनके अपर्याप्त में चार योग होते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंयत में तेरह योग होते हैं। उनके पर्याप्त में दस योग होते हैं—४ मन के योग, ४ वचन

के योग, औदारिक और वैक्रिय काय योग । इनके अपर्याप्त में तीन योग—औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, कर्मण काययोग । क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयत्तासंयत में नौ योग । क्षायिक प्रमत्त-संयत से सिद्ध तक मूलोधिक भंग की तरह जानना चाहिए ।

१०२ वेदक (क्षयोपशम) सम्यग्दृष्टि में

वेदगसम्माइट्टीणं भण्णमाणे $\times \times \times$ पण्णारह जोग $\times \times \times$ तेसिं चेष पज्जत्ताणं $\times \times \times$ एगारह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेष अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ चत्तारि जोग $\times \times \times$ । वेदगसम्माइट्टि-असंजदाणं $\times \times \times$ तेरह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेष पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेष अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ तिण्णि जोग $\times \times \times$ । वेदगसम्माइट्टि-संजदासंजदाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । वेदगसम्माइट्टि-पमत्तसंजदाणं $\times \times \times$ एगारह जोग $\times \times \times$ । वेदगसम्माइट्टि-अपमत्तसंजदाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ ।

— षट्० खं० १, १ । पृ २ पृ० ८१२-१७

वेदक (क्षयोपशम) सम्यग्दृष्टि में पन्द्रह योग होते हैं । उनके पर्याप्त में ग्यारह योग, अपर्याप्त, में चार योग होते हैं । वेदक सम्यग्दृष्टि असंयत में तेरह योग होते हैं । इनके पर्याप्त में दस योग तथा अपर्याप्त में तीन योग होते हैं । वेदक सम्यग्दृष्टि संयत्ता संयत में नौ योग होते हैं । वेदक सम्यग्दृष्टि प्रयत्त संयत में ग्यारह योग होते हैं । वेदक अप्रमत्तसंयत में नौ योग होते हैं ।

१०३ उपशमसम्यग्दृष्टि में

उवसमसम्माइट्टीणं भण्णमाणे $\times \times \times$ ओराजियमित्स-आहार - आहार-मित्सोहि विणा बारह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेष पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेष अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । उवसम-सम्माइट्टि-असंजदाणं $\times \times \times$ बारह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेष पज्जत्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेष अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ दो जोग $\times \times \times$ । उवसमसम्माइट्टि-संजदासंजदाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । उवसमसम्माइट्टि-पमत्तसंजदाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । उवसमसम्माइट्टि-अपमत्तसंजदाणं $\times \times \times$ णव जोग $\times \times \times$ । अपुण्णयरण्णहुडि जाय उवसंतकसाओ त्ति ताव ओघ-भंगो ।

— षट्० खं० १, १ । पृ २ । पृ० ८१८-२५

उपशम सम्यग्दृष्टि में औदारिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र काययोग को बाद देकर बारह योग होते हैं । उनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में दो योग वैक्रियमिश्र काय कर्मण काययोग होते हैं । उपशम सम्यग्दृष्टि असंयत में बारह योग होते हैं । उनके

पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में दो योग होते हैं। उपशम सम्यग्दृष्टि संययासंयत में नौ योग होते हैं। उपसम सम्यग्दृष्टि प्रमत्त संयत में नौ योग, अप्रमत्त संयत में नौ योग होते हैं। उपशम सम्यग्दृष्टि अपूर्वकरण यावत् उपशांत कषाय गुण स्थान में औधिक भंग की तरह नौ योग होते हैं।

•१ असंयत में

असंजदाणं भण्णमाणे $\times \times \times$ तेरह जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव पज्ज-
त्ताणं $\times \times \times$ दस जोग $\times \times \times$ । तेसिं चेव अपज्जत्ताणं $\times \times \times$ तिण्णिजोग
 $\times \times \times$ । मिच्छाद्विप्पहुडि जाव असंजदसम्माद्विट्ति मूलोघ-भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७३६-३८

असंयत में तेरह योग होते हैं। इनके पर्याप्त में दस योग, अपर्याप्त में तीन योग होते हैं—असंयत मिथ्यादृष्टि यावत् असंयत सम्यग्दृष्टि में मूल औधिक की तरह योग के विषय में जानना चाहिए। असंयत सम्मामिथ्यादृष्टि में दस योग होते हैं। इनमें अपर्याप्त अवस्था नहीं होती है।

•२ संयत में

संजमाणुवादेण संजदाणं भण्णमाणे $\times \times \times$ तेरह जोग अजोगो वि अत्थि
 $\times \times \times$ । पमत्तसंजदाणं $\times \times \times$ एगारह जोग $\times \times \times$ । अप्पमत्तसंजदाणं $\times \times \times$
णव जोग । अपुब्बयरणप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ताव मूलोघ-भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७३०-३२

संयत में तेरह योग होते हैं, अयोगी भी होते हैं संयत—प्रमत्त संयत में ग्यारह योग, अप्रमत्त संयत में नौ योग होते हैं। अपूर्वकरण गुण स्थान यावत् अयोगी केवली गुण स्थान में योग के विषय में मूल औधिक की तरह जानना चाहिए। संयत अपूर्वकरण से क्षीण मोह गुण स्थान तक नौ योग होते हैं। संयत सयोगी केवली में सात योग तथा अयोगी केवली गुणस्थान में योग नहीं होता है।

•२.१ सामायिक संयत में

•२.२ छेदोपस्थापनीय संयत में

•२.३ परिहारविशुद्धि संयत में

•२.४ सूक्ष्मसंपराय संयत में

•२.५ यथाख्यात संयत में

•२.१ सामाद्वयसंजणं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ? गोयमा !

सजोगी जहा पुलाए । एवं जाव सुहुमसंपरायसंजए । अहक्खाए जहा सिणाए ।
— भग० श २५ । उ ७ । पु ४४

सामायिक संयत सयोगी होते हैं, अयोगी नहीं होते हैं ।

पुलाक की तरह सामायिक संयत मनयोगी, वचनयोगी और काययोगी होते हैं ।

इसी प्रकार छेदोपस्थानीय, परिहार विशुद्धि तथा सूक्ष्म संपराय संयत मनयोगी, वचन योगी और काययोगी होते हैं ।

यथा ख्यात संयत स्नातक की तरह सयोगी भी होते हैं अयोगी भी होते हैं । यदि सयोगी होते हैं तो शैलेशी अवस्था में पहले तक के सयोगी होते हैं—और शैलेशी अवस्था में अयोगी बन जाते हैं ।

१२१ सामायिक शुद्धिसंयत में

सामाद्वयसुद्धिसंजदाणं भण्णमाणे X X X एगारह जोग X X X । पमत्त-
संजदप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति ताव मूलोघ-भंगो ।

—षट् खं० १, १ । पु २ । पृ० ७३३

सामायिकशुद्धि संयत में ग्यारह योग होते हैं । प्रमत्त संयत में ग्यारह योग होते हैं । अप्रमत्त संयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति बादर गुण स्थान में नौ योग होते हैं ।

१२२ छेदोपस्थानीय संयत में

एवं (जहा समाद्वयसुद्धिसंजदाणं) छेदोवट्ठावणसंजमस्स वि वत्तव्वं ।

—षट् खं० १, १ । पु २ । पृ० ७३३

जैसा सामायिक शुद्धि संयत में योग के विषय में कहाँ—वैसा ही छेदोपस्थापनीय संयत के विषय में जानना चाहिए । अप्रमत्त संयत छेदोपस्थापनीय यावत् अनिवृत्ति बादर गुण स्थान में नौ योग होते हैं । प्रमत्त संयत छेदोपस्थापनीय में औघिक छेदोपस्थापनीय संयत में ग्यारह योग होते हैं ।

१२३ परिहारविशुद्धि संयत में

परिहारसुद्धिसंजदाणं भण्णमाणे X X X णव जोग आहाराहारमिस्सा णत्थि X X X । पमत्त-अप्पमत्त-परिहारसुद्धिसंजदाणं पुधपुध भण्णमाणे ओघ-भंगो ।

—षट् खं० १ । १ । पु २ । पृ० ७३३-३४

परिहार विशुद्धि संयत में नौ योग होते हैं । इस संयत में आहारक तथा आहारकमिश्र काय योग नहीं होता है । प्रमत्त संयत तथा अप्रमत्त संयत परिहार विशुद्धि संयत में पृथक्-पृथक् औघिक भंग की तरह नौ योग होते हैं ।

१२४ सूक्ष्मसांपरायिक शुद्धि संयत में

सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदाणं भण्णमाणे मूलोघ-भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७३५

सूक्ष्म सांपराय-शुद्धि-संयत में मूलोघिक की तरह नौ योग होते हैं । यह दसवें गुणस्थान में है ।

.९२.५ यथाख्यात संयत में

जहाक्खादसुद्धिसंजदाणं भण्णमाणे x x x एगारह जोग x x x । उवसंत-कसायप्पहुडि जाव अजोगि केवलि त्ति मूलोघ-भंगो ।

—षट्० खं १ । १ । पु २ । पृ० ७३५

यथाख्यात संयत में ग्यारह योग होते हैं । उपशांत कषाय यथाख्यात संयत में नौ योग होते हैं । क्षीणकषाय यथाख्यात संयत में नौ योग होते हैं । सयोगी केवली यथाख्यात संयत में सात योग होते हैं । अयोगी केवली यथाख्यात संयत में योग नहीं होता है ।

.९३ निर्ग्रन्थ में

.९३.१ पुलाक

.९३.२ बकुस

.९३.३ प्रतिसेवनाकुशील

.९३.४ कषायकुशील

.९३.५ निर्ग्रन्थ

पुलाए णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ? गोबमा ! सजोगी होज्जा, णो अजोगी होज्जा । जइ सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा, वयजोगी होज्जा, कायजोगी होज्जा ? गोयमा ! मणजोगी वा होज्जा, वयजोगी वा होज्जा, कायजोगी वा होज्जा । एवं जाव नियंठे । —भग० श २५ । उ ६ । पु० ८३

पुलाक सयोगी होते हैं, अयोगी नहीं होते हैं । सयोगी होते हैं तो ये मनोयोगी, वचन योगी और काययोगी होते हैं ।

इसी प्रकार बकुस, प्रतिसेवनाकुशील, कषायकुशील और निर्ग्रन्थ सयोगी होते हैं, अयोगी नहीं होते हैं । मनोयोगी, वचन योगी व काययोगी होते हैं ।

.९३.६ स्नातक में

सिणाए णं-पुच्छा । गोयमा ! सजोगी वा होज्जा, अजोगी वा होज्जा । जइ सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा—सेसं जहा पुलागस्स ।

—भग० श २५ । उ ६ । पु० ८४

स्नातक सयोगी भी होते हैं, अयोगी भी होते हैं। यदि सयोगी होते हैं तो वे मनोयोगी, वचनयोगी व काययोगी होते हैं।

नोट—स्नातक में दो गुणस्थान हैं, तेरहवां सयोगी केवली है व चौदहवां अयोगी केवली है।

१.४ अश्रुत्वा केवली में

अश्रुत्वा केवली होने वाले जीव के अवधिज्ञान के प्राप्ति करने की अवस्था में—

असोच्चाणं भंते ! (विभंगे अण्णाणे सम्मत्तपरिग्गहिणं खिप्पामेव ओही परावत्तइ) सेणं भंते ! किं सजोगी होज्जा ? गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा ? जइ, सजोगी होज्जा, किं मणजोगी होज्जा ? वइजोगी होज्जा ? कायजोगी होज्जा ?

गोयमा ! मणजोगी वा होज्जा, वइजोगी वा होज्जा, कायजोगी वा होज्जा ।
—भग० श ६ । उ ३१ । सू ३६

अश्रुत्वा केवली होने वाले जीव के विभंगज्ञान की प्राप्ति के बाद मिथ्यात्व के पर्याय क्षीण होते-होते, सम्यग्दर्शन के पर्याय बढ़ते-बढ़ते विभंगज्ञान सम्यक्त्व युक्त होता है तथा अतिशीघ्र अवधिज्ञान रूप परिवर्तित होता है। वह अवधिज्ञानी जीव सजोगी होता है, अजोगी नहीं। यदि सजोगी होता है तो यह मनोजोगी, वचन जोगी व कायजोगी होता है।

१.५ श्रुत्वा केवली होने वाले जीव के अवधि ज्ञान प्राप्ति करने की अवस्था में—

(सोच्चाणं भंते x x x सेणं तेणं ओहीनाणेणं समुप्पन्नेणं x x x) सेणं भंते । किं सजोगी होज्जा ? अजोगी होज्जा ? गोयमा ! सजोगी होज्जा नो अजोगी होज्जा । जइ सजोगी होज्जा, किं मणजोगी होज्जा ? वइजोगी होज्जा ? कायजोगी होज्जा ?

गोयमा ! मणजोगी वा होज्जा, वइजोगी वा होज्जा, कायजोगी वा होज्जा ।
—भग० श ६ । उ ३१ । सू ५८

श्रुत्वा केवली होने वाले जीव के अवधिज्ञान की प्राप्ति होने के बाद वह अवधिज्ञानी जीव सयोगी होता है, अयोगी नहीं। यदि सयोगी होता है तो वह मनोयोगी, वचनयोगी तथा काययोगी होता है।

१.६ के सभी पाठ भगवती अ० २४ से लिए गये हैं। इस शतक में स्व/पर योनि से स्व/पर योनि में उत्पन्न होने वाले योग्य जीवों का नौ गमकों

तथा उपपात के अतिरिक्त निम्नलिखित बीस विषयों से विवेचन हुआ है :—

१—स्थिति	२—संख्या	३—संहनन
४—शरीरावगाहना	५—संस्थान	६—लेश्या
७—दृष्टि	८—ज्ञान	९—योग
१०—उपयोग	११—संज्ञा	१२—कषाथ
१३—इन्द्रिय	१४—समुद्घात	१५—वेदन
१६—वेद	१७—कालस्थिति	१८—अध्यवसाय
१९—कालादेश तथा	२०—भवादेश	

हमने योग की अपेक्षा से पाठ ग्रहण किया है। गमकों का विवरण नीचे में देखें।

.९६ किसी एक योनि से स्व/पर योनि से उत्पन्न होने योग्य जीवों में कितने योगः

.९६.१ रतनप्रभा पृच्छी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

१— इस विवेचन में निम्नलिखित नौगमकों की अपेक्षा से वर्णन किया गया है :—

- (१) उत्पन्न होने योग्य जीव की औघिक स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव स्थान की औघिक स्थिति।
- (२) उत्पन्न होने योग्य जीव की औघिक स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव स्थान की जघन्य काल स्थिति।
- (३) उत्पन्न होने योग्य जीव की औघिक स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव स्थान की उत्कृष्ट काल स्थिति।
- (४) उत्पन्न होने योग्य जीव की जघन्य स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव की औघिक स्थिति।
- (५) उत्पन्न होने योग्य जीव की जघन्य स्थिति यथा उत्पन्न होने योग्य जीव की जघन्य काल स्थिति।
- (६) उत्पन्न होने योग्य जीव की जघन्य काल स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव स्थान की उत्कृष्ट काल स्थिति।
- (७) उत्पन्न होने योग्य जीव की उत्कृष्ट काल स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव स्थान की औघिक काल स्थिति।
- (८) उत्पन्न होने योग्य जीव की उत्कृष्ट काल स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव स्थान की जघन्य काल स्थिति।
- (९) उत्पन्न होने योग्य जीव की उत्कृष्ट काल स्थिति यथा उत्पन्न होने योग्य जीव स्थान की उत्कृष्ट काल स्थिति।

.९६.१.१ पर्याप्त असंखी तिर्यच पंचेन्द्रिय योनि से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १ :—पर्याप्त असंखी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने जो जीव है (पञ्जत्ता असन्नि पंचिदियतिरिक्ख-जोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभाए पुढवीए नेरइएसु उववज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते ! जीवा । किं मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी । गोयमा णो मणजोगी वयजोगी वि कायजोगी वि) वे मनयोगी नहीं है । वचनयोगी तथा काययोगी है ।

—मग० श २४ । उ २ । सू १५

गमक २—पर्याप्त असंखी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से जघन्य (स्थान) स्थितिवाले रत्नप्रभा पृथ्वी से उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पञ्जत्ता असन्नि पंचिदियतिरिक्ख-जोणिए णं भंते । जे भविए जहन्नकालट्ठिइएसु रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते । $\times \times \times$ एवं सच्चेव वत्तव्वया निरवसेसा भाणियव्वा ।) वे मनयोगी नहीं होते हैं, वचनयोगी तथा काययोगी होते हैं ।

—मग० श २४ । उ १ । सू २८-२९

गमक ३—पर्याप्त असंखी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से उत्कृष्ट स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पञ्जत्ता असन्नि पंचिदियतिरिक्ख-जोणिए णं भंते । जे भविए उक्कोसकालट्ठिइएसु रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते ! जीवा० अवसेसं तं चेव, जावअनुबंघो) वे मनयोगी नहीं होते हैं, वचनयोगी व काययोगी होते हैं ।

—मग० श २४ । उ १ । सू ३१, ३२

गमक ४—जघन्य स्थिति वाले पर्याप्त असंखी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (जहन्न कालट्ठिइए पञ्जत्ता असन्नि पंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते । $\times \times \times$ सेसं तं चेव) वे मनयोगी नहीं होते हैं, वचनयोगी तथा काययोगी होते हैं ।

—मग० श २४ । उ १ । सू ३७, ३८

गमक ५—जघन्य स्थिति वाले असंखी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से जघन्य स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (जहन्न कालट्ठिइए पञ्जत्ता असन्नि पंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए जहन्नकालट्ठिइएसु

रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा सेसं तं चेव)
उनमें मनोयोग नहीं होता है परन्तु वचनयोगी व काययोगी होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ३७, ३८

गमक ६—जघन्य स्थिति वाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से उत्कृष्ट स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (जहन्नकालट्टि-इय पज्जत्ता जाव तिरिक्खजोणिण णं भंते ! जे भविण उक्कोसकालट्टिइएसु रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! जीवा अबसेसं तं चेव) उनमें मनोयोग नहीं होता है परन्तु वचनयोग काययोग होता है ।

गमक ७—उत्कृष्ट स्थिति वाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (उक्कोसकालट्टिइय पज्जत्त-असन्नि पंचिदियतिरिक्खजोणिण णं भंते ! जे भविण रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा × × × अबसेसं जहेव ओहिह्यगमएणं तहेव अणुगंतव्वं) उनमें मनोयोग नहीं होता है तथा वचनयोग तथा काययोग होता है ।

गमक ८—उत्कृष्ट स्थिति वाले पर्याप्त असंज्ञी तिर्यच योनि से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (उक्कोसकालट्टिइय पज्जत्त असन्नि पंचिदिय-तिरिक्खजोणिण णं भंते ! जे भविण रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा × × × सेसं तं चेव, जहा सत्तमगमए) उनमें मनो-योगी नहीं होते हैं, वचनयोगी तथा काययोगी होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ४६, ४७

गमक ९—उत्कृष्ट स्थिति वाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से उत्कृष्ट स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (उक्कोसकाल-ट्टिइय पज्जत्त जाव तिरिक्खजोणिण णं भंते ! जे भविण उक्कोसकालट्टिइएसु रयण० जाव उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! जीवा × × × सेसं जहासत्तमगमए) उनमें मनोयोग नहीं होता है तथा वचनयोगी काययोगी होते हैं ।

‘६६’ १२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

गमक १—पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पज्जत्त संखेज्जवासाउय

सन्नि पंचिदियतिरिक्खजोणिण णं भंते ! जे भविण रयणप्पभापुढबिनेरहएसु उवज्जित्तए × × × तेणं भंते ! × × × जोगो तिबिहो वि) उनके तीन योग होते हैं ।
—मग० श २४ । उ १ । सू ५५, ५६

गमक २—पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से जघन्य काल स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पज्जत्तसंखेज्ज० जाव जे भविण जहन्नकाल × × × ते णं भंते ! जीवा एव सो चेव पढमगमओ निरवसेसो भाणियव्वो) उनके तीनों योग होते हैं ।

—मग० श २४ । उ १ । सू ६१-६२

गमक ३—पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से उत्कृष्ट स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (सो चेव उक्कोस कालट्टिइएसु उववन्नो × × × अवसेसो परिमाणादीओ भवाएस पज्जवसाणो सो चेव पढमगमओ णेयव्वो) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—मग० श २४ । उ १ । सू ६३

गमक ४—जघन्य स्थिति वाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (जहन्न-कालट्टिइय पज्जत्तसंखेज्जवासा उवसन्नि पंचिदियतिरिक्खजोणिण णं भंते ! जे भविण रयणप्पभापुढवि० जाव उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! × × × अवसेसं जहा पढमगमए × × ×) उनमें तीनों योग होते हैं ।

गमक ५—जघन्य स्थिति वाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से जघन्य स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (सो चेव जहन्नकालट्टिइएसु उववन्नो × × × तेणं भंते ! एवं सो चेव अउत्थो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो ।) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—मग० श २४ । उ १ । सू ६४ से ६६

गमक ६—जघन्य स्थिति वाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से उत्कृष्ट स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (सो चेव उक्कोसकालट्टिइएसु उववन्नो × × × तेणं भंते ! एवं सो चेव अउत्थो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—मग० श २४ । उ १ । सू ६७

गमक ७—उत्कृष्ट स्थिति वाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय योनि से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (उक्कोस-

कालट्टिईय पज्जत्तसंखेज्जवासउय० जाव तिरिक्ख जोणिण णं भंते ! जे भविण रयणप्पभापुढविनेरहएसु उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! जीवा अवसेसो परिमाणादीओ भवाएसपज्जवसाणो एएसिं चैव पढमगमओ णेवव्वो) उनमे तीनों योग होते हैं । —मग० श २४। उ १। सू ६८, ६९

‘९६’१’३ पर्याप्त संख्यात वर्ष का आयु वाले संज्ञी मनुष्य से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

गमक १-२—पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पज्जत्तसंखेज्जवासउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविण रयणप्पभाए पुढवीए नेरहएसु उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! एवं सेसं जहा सन्निपंचिदियतिरिक्खजोणियाणंजाव भवाएसोत्ति गमक १ सोचेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो-एसचेववत्तव्वया । गमक २ सोचेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो-एसचेववत्तव्वया । गमक ३ सोचेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ एसचेवत्तव्वया । गमक ४

सोचेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो-एस चेव वत्तव्वया खउत्थगमग सरिसा नेयव्वो । गमक ५ सोचेव उक्कोसकालट्टिईओ उववन्नो एसचेव गमगो ६ सोचेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिईओजाओ, सोचेव पढमगमओ णेयव्वो । गमक ७ सोचेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो सच्चेव सत्तमगमगवत्तव्वया गमक ८ सोचेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो, सच्चेव सत्तमगमग वत्तव्वया गमक ९) उनमे नव ही गमको में तीनों योग होते हैं । —मग० श २४। उ १। सू ६९ से १६०

गमक ९—उत्कृष्ट स्थिति वाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय योनि से उत्कृष्ट स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (उक्कोसकालट्टिईयपज्जत्त० जाव-तिरिक्खजोणिण णं भंते ! जे भविण उक्कोस-कालट्टिईय० जाव उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! जीवा० सोचेव सत्तमगमओ निरवसेओ भाणियव्वो । उनमे मनोयोगी नहीं होते हैं, वचन योगी काययोगी होते हैं । —मग० श २४। उ १। सू ७२-७३

गमक ९—उत्कृष्ट स्थिति वाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय योनि से जघन्य स्थिति वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (सोचेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो × × × तेणं भंते ! जीवा सोचेव

सत्तमो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो) उनमे मनोयोगी नहीं होते हैं, वचनयोगी व काययोगी होते हैं ।
— भग० श २४ । उ १ । सू ७१

१६२ शर्करा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में

१६२१ पर्याप्त संख्यात् वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से शर्कराप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

गमक १९—पर्याप्त संख्यात् वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से शर्करा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पञ्जत्त संखेज्जवासा उयसन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइएसु उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! जीवा × × × एवं जहेव रयणप्पभाए उववज्जंत (गम) गस्स लद्धी सच्चेव निरवसेसा भाणियव्वा × × × एवं रयणप्पभापुढविगमगा सरिसा णववि गमगा भाणियव्वा × × ×) उनमें तीनों योग होते हैं ।
भग० श २४ । उ १ । सू ७४-७५

१६२२ पर्याप्त संख्यात् वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से शर्करा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

गमक १९—पर्याप्त संख्यात् वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से शर्करा प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पञ्जत्तसंखेज्जवासा उयसन्नि मणुस्से णं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइएसु-जाव-उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! सो चेव रयणप्पभापुढविगमओ णेवव्वो । एवं एसा ओहिएसु तिसु वि गमएसु मणुसस्सलद्धी × × × । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु वि गमएसु एस चेष लद्धी × × × । सो चेव अप्पणा उक्कोस-कालट्ठिईओ जाओ तस्सवि तिसुवि गमएसु × × × सेसं जहा पढमगमए) उनमें तीनों योग होते हैं ।
— भग० श २४ । उ १ । सू १०१-१०४

१६३ बालुका प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

१६३१ पर्याप्त संख्यात् वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय योनि से बालुका प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

गमक १ से ९—पर्याप्त संख्यात् वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से बालुका प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पञ्जत्तसंखेज्ज-

वासाउयसन्नि पंचिद्वियतिरिक्ख जोणिण णं भंते ! जे भविण सक्करप्पभाण पुढवीण नेरइएसु उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! जीवा × × × एवं जहेव रयणप्पभाण उववज्जंतग (मग) एस लद्धी सच्चवेव निरवसेसा भाणियव्वा जाव-‘भवाएसो’ त्ति । × × × एवं रयणप्पभपुढविगमसरिसा णवहि गमगा भाणियव्वो × × × एवं जाव छट्टपुढवि त्ति) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७४-७५

‘१६’३ १—गमक १ से ९—पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से बालुका प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्नि-मणुस्से णं भंते ! जे भविण सक्करप्पभाण पुढवीण नेरइएसु जाव-उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! सो चेव, जाव-भवाएसो त्ति × × × एवं एसा ओहिणसु तिसु गमएसु मणुसस्स लद्धी × × × । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिओ जाओ, तस्सवि तिसुवि गमएसु एस चेव लद्धी । × × × सेसं जहा ओहियाणं सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिओ जाओ । तस्सवि तिसुवि गमएसु × × × सेसं जहा पढमगमए । × × × । एवं जाव छट्ट पुढवि) उनमें नव ही गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू १०१-१०४

‘१६’४ पंक प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

‘१६’४’१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से पंक प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (देखो पाठ १६’३’१) उनके तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७४-७५

‘१६’४’२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से पंक प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

गमक १ ६—पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से पंक-प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ १६’३’२) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू १०१-१०४

‘१६’५ धूम प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

‘१६’५’१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से

धूम प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (देखो '६६'३'१) उनके तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७४-७५

'६६'५'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से धूम प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (देखो '६६'३'२) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू १०१-१०४

'६६'६ तमप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'६६'६'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय योनि से तमप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (देखो '६६'३'१) उनमें तीन योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७४-७५

'६६'६'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से तमप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है । उनमें तीनों योग होते हैं । (देखो '६६'३'२)

—भग० श २४ । उ १ । सू १०१-१०४

'९६'७ तमतमा प्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

'९६'७'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय योनि से तमतमा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पञ्चतत्संख्येज्जवासाउयं जाव-तिरिक्ख जोणिए णं भंते ! जे भविए अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइएसु उववज्जित्तए । तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव रयणप्पभाएणव गमगा लद्धी वि सच्चेष । × × ×) उनमें तीन योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७६-८६

'९६'७'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से तमतमा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पञ्चतत्संख्येज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए अहेसत्तमाए पुढवि नेरइएसु उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! जीवा × × × अवसेसो सोचेवसक्करप्पभापुढविगमओ पोयव्वो × × ×) उनमें तीनों योग होते हैं ।

'९६'८ असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य अन्य गति के जीवों में :—

'९६'८'१ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से असुर कुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य

जो जीव है (पञ्जत्तअसन्निपञ्चिदियतिरिक्ख जोणिए णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उव्वज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते ! जीवा ? एवं रयणप्पभागमगसरिसा णव्वि गमा भाणिवव्वा $\times \times \times$ अवसेसं तंवेव) उनमें तीनों योग होते हैं । —भग० श २४ । उ २ । सू २-३

‘९६’८’२ असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय योनि से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों जो जीव है (असंखेज्जवासाउयसन्निपञ्चिदिय-तिरिक्ख जोणिए णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उव्वज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते ! जीवा पुच्छा $\times \times \times$ जोगो तिहिहे $\times \times \times$) उनमें योग तीनों होते हैं । —भग० श २४ । उ २ । सू ५-१५

‘९६’८’३ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यक् योनि से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

गमक १ से ९—पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी तिर्यक् पंचेन्द्रिय तिर्यक् योनि से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पञ्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निपञ्चिदियतिरिक्ख जोणिए णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उव्वज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते ! जीवा $\times \times \times$ एवं एएसि रयणप्पभपुढबिगमगसरिसा नव्व गमगा णेयव्वा $\times \times \times$) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २ । सू १६, १७

‘९६’८’४ असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

गमक १ से ९—असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (असंखेज्जवासाउयसन्नि मणुस्से णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उव्वज्जित्तए $\times \times \times$ एवं असंखेज्जवासाउयतिरिक्ख-जोणिय सरिसा आदिक्खा तिन्नि गमगा णेयव्वा $\times \times \times$) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २ । सू २०-२२

‘९६’८’५ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (पञ्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्नि मणुस्से णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उव्वज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते ! जीवा ? एवं जहेव एएसि रयणप्पभाए उव्वज्जमाणानं णव्व गमगा तहेव इह विणव्व

गमगा भाणियव्वा X X X सेसंत चेव) उनमें नौ गमकों में तीन योग होते हैं ।
— भग० श २४ । उ २ । सू २४-२५

‘९६’६ नागकुमार यावत् स्तनित देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में :—

६६’६’१ पर्याप्त असंखी तिर्यंच पंचेन्द्रिय योनि से नागकुमार से स्तनित देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (नागकुमारा णं भंते ! X X X जहतिरिक्ख १ एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया तहाएएसि वि जाव-‘असन्नित्ति) उनके नव गमकों में मनोयोग नहीं होता है, वचनयोगी-काययोगी होते हैं ।

‘६६’९’२ असंख्यात वर्ष की आयु वाले संखी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से नागकुमार से स्तनित देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (असंखेज्जवासाउय-सण्णि-पंचिदिय तिरिक्ख जोणिए णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उवव-ज्जित्तप X X X जोगो तिचिहो वि X X X ।) उनमें तीनों योग होते हैं ।
— भग० श २४ । उ ३ । सू ४-६

‘६६’९’३ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संखी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (पज्जत्तसंखेज्जवासाउय० जाव जे भविए नागकुमारेसु उववज्जित्तप X X X एवं जेहव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स वत्तव्वया तद्देव इहविणवसुवि गमएसु X X X सेसंतं चेव) उनके नव गमकों में तीनों योग होते हैं ।

‘९६’९’४ असंख्यात वर्ष की आयु वाले संखी मनुष्य से नागकुमार देवों में होने योग्य जीवों में (असंखेज्जवासाउयसन्नि मणुस्से णं भंते ! जे भविए नागकुमारेसु उववज्जित्तप X X X एवं जेहव असंखेज्जवासाउयाणं तिरिक्ख-जोणियाणं नागकुमारेसु आदिस्सा तिन्नि गमगा जेहव इमस्स वि । X X X) उनके नव गमकों में तीनों योग होते हैं ।
— भग० श २४ । उ ३ । सू १३, १५

‘९६’९’५ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संखी मनुष्य से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निमणुसे णं भंते ! जे भविए नागकुमारेसु उववज्जित्तप X X X एवं जेहव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स सच्छेव छट्ठी जद्धि निरवसेसा नवसु गमएसु X X X) उनके नव गमकों में तीनों योग होते हैं ।
— भग० श २४ । उ ३ । सू १७

१६.९.१ सुवर्णकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य नागकुमार देवों की तरह जो पाँच प्रकार के जीव हैं (अवसेसा सुवर्णकुमाराइं जाव यणिय-कुमारा एण अट्ठवि उहेसगा जहेव नागकुमारा तहेव निरवसेसा भाणिय-व्वा) उन पाँचों ही प्रकारके जीव—१ असंज्ञी तिर्यच्च पंचेन्द्रिय में मनयोग नहीं है। वचन - काययोग है अवशेष चार प्रकार के जीव (संज्ञी तिर्यच्च पंचेन्द्रिय २, संज्ञी मनुष्य २) में तीनों योग होते हैं। —भग० श २४। उ ४-११

१६.१० पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में

१६.११ स्वयोनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-९—(पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! जीवा × × × णो मणजोगी, णो बइजोगी, कायजोगी × × × ।) उनमें नव ही गमकों में मनोयोग तथा वचनयोग नहीं होता है परन्तु काययोग होता है। —भग० श २४। उ १२। सू ३-१३

१६.१०.२ अपृकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-९—आउकाइए णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए × × × । एवं पुढविकाइए गमगा सरिसा नव गमगा भाणियव्वा × × ×) उनमें एक काययोग होता है।

१६.१०.३ अग्निकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-९—(जइ तेउकाइएहिंते उववज्जंति० तेउकाइयाणं वि एस जेव वत्तव्वया × × ×) उनमें काययोग होता है।

—भग० श २४। उ १२। सू १६

१६.१०.४ वायुकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-९—(जइ वाउकाइएहिंते० ? वाउकाइयाणं वि एवं जेव णव गमगा जहेव तेउकाइयाणं । × × × ।) उनमें केवल काययोग होता है।

—भग० श २४। उ १२। सू १७

१६.१०.५ वनस्पतिकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (जइ वणस्सइकाइएहिंते उववज्जंति ? वणस्सइकाइयाणं आउकाइए-गमगसरिसा णव गमगा भाणियव्वा) उनमें एक काययोग होता है।

—भग० श २४। उ १२। सू १८

१६१०६ द्वीन्द्रिय से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (वेइंदिणं भंते । जे भविण पुढविक्काइएसु उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! × × × (णो मणजोगी वयजोगी वि, कायजोगी वि × × × ।) णो मनजोगी णो वयजोगी कायजोगी × × × उनमें मनोयोगी × × × नहीं होते वचनयोगी हैं काययोगी होते हैं । चौथे-पाँचवें-छठे तीन गमकों में काययोगी होते हैं वचनयोगी नहीं होते हैं ।
—भग० श २४ । उ १९ । सू २०-२५

नोट—अपर्याप्त द्वीन्द्रिय में काययोग होता है, वचनयोग—मनोयोगी नहीं होते हैं । यहाँ जघन्य स्थिति है ।

१६१०७ त्रीन्द्रिय से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (जइ तेइं-दिण्हितो उववज्जंति० एवं चेव नव गमगा भाणियव्वा × × ×) उनमें काययोगी व वचनयोगी होते हैं । परन्तु मध्यम तीन गमकों में वचनयोगी मनोयोगी नहीं होते हैं काययोगी होते हैं ।
—भग० श २४ । उ १२ । सू २६

१६१०८ चतुरिन्द्रिय से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (जइ चउरिदिण्हितो उववज्जंति० एवं चेव चउरिदियाणं वि नव गमगा भाणियव्वा × × ×) उनमें वचनयोगी व काययोगी होते हैं । मध्यम तीन गमकों में काययोगी होते हैं, वचनयोगी-मनोयोगी नहीं होते हैं ।
—भग० श २४ । उ १२ । सू २७

१६१०९ असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (असन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिणं भंते ! जे भविण पुढविक्काइएसु उववज्जित्तए × × × तेणं भंते ! जीवा० एवं जहेव वेइंदियाए ओहियगमए लद्धी तहेव × × × सेसं तं चेव) उनमें जहाँ में वचनयोगी-काय योगी होते हैं । चौथे-पाँचवें-छठे गमक में काययोगी होते हैं वचनयोगी मनोयोगी नहीं होते हैं ।
—भग० श २४ । उ १२ । सू ३०

१६१०१० संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (जइ संखेज्जवासाउय सन्निपंचि-दियतिरिक्ख-जोणिणं) × × × तेणं भंते ! जीवा × × × एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स सन्निस्स तहेव इहवि × × × ।) उनमें तीनों योग होते हैं । लेकिन पृथ्वीकायिक जीवों में काययोग होता है । मध्यम तीन गमकों में काययोगी होते हैं, वचनयोगी-मनोयोगी नहीं होते हैं ।
—भग० श २४ । उ १२ । सू ३३-३४

१६१०११ असंशी मनुष्य से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (असन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविण पुढविकाइएसु सेणं भंते $\times \times \times$ एवं जहा असण्णपंचिदियतिरिक्खजोणियस्स जइण्णकालट्ठिइयस्स तिन्नि गमगातहा एयस्स वि ओहिया तिण्णि गमगा भाणियव्वा तहेव णिरवसेसं, सेसा द्धण भण्णंति) उनमें एक काययोग होता है ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ३६

१६१०१२ संख्यात वर्ष की आयु वाले संशी मनुष्य से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (सन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविण पुढविकाइएसु उववज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते ! जीवा० एवं जहेव रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स तहेवतिसु वि गमएसु लद्धी $\times \times \times$ ।) उनमें तीनों योग होते हैं । मध्यम तीन गमकों में काययोगी होते हैं परन्तु मनोयोगी व वचनयोगी नहीं होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ३, ६, ४०

१६१०१३ असुरकुमार देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (असुरकुमारे णं भंते ! जे भविण पुढविकाइएसु उववज्जित्तए $\times \times \times$ तेणं भंते ! जीवाणं $\times \times \times$ । जोगो तिचिहा वि $\times \times \times$ ।) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ४३, ४७

१६१०१४ नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (नागकुमारे णं भंते ! जे भविण पुढविकाइएसु एस चेव वत्तव्वया जाव 'भवाएसो' त्ति $\times \times \times$) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ४८

१६१०१५ वाणव्यंतर देवों से पृथ्वीकायिक जीवों से उत्पन्न होने योग्य जीवों में वाणमंतर देवे णं भंते ! जे भविण पुढविकाइएसु एएसिंवि असुरकुमार-गमगा णव गमगा भाणियव्वा $\times \times \times$ सेसं तहेव) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ५०

१६१०१६ ज्योतिषी देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (जोइसिए देवे णं भंते ! जे भविण पुढविकाइएसु लद्धी जहा असुरकुमारा । $\times \times \times$) उनमें तीनों योग नव गमकों में होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ५२

१६१०१७ सौधर्म कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पृथ्वीकायिक—जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में

‘६६’१०’१८ ईशान कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (सोहम्मे णं भंते ! जे भविण पुढविक्काइयएसु उववज्जित्तए × × × एवं जहा जोइसिय गमगो × × × । ईसाणदेवे णं भंते ! जे भविण × × × एवं ईसाणदेवेण वि णव गमगा भाणियव्वा × × ×) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ५५

‘६६’११ अप्कायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में

स्व-पर यौनि से अप्कायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (आउक्काइया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? एवं जहेव पुढविक्काइयउद्देसए जाव × × ×) उनके सम्बन्ध में पृथ्वीकायिक के विषय में कहा—वैसा कहना !

—भग० श २४ । उ १ । सू १

‘६६’१२ अग्निकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (तेउक्काइया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति । एवं जहेव पुढविक्काइयउद्देसगसरिसो उद्देसो भाणियव्वा । नवरं × × × देवेहिंतो ण उववज्जंति, सेसं तं चेव) उनके विषय में कायकी अपेक्षा पृथ्वीकायिक जीवों के उद्देशक में जैसा कहा—वैसा कहना । देव उत्पन्न नहीं होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १४ । सू १

‘६६’१३ स्व-पर योनि से वायुकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (वाउक्काइया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं जहेव तेउक्काइयउद्देसओ तद्देव × × ×)

—भग० श २४ । उ १५ । सू १

उनके सम्बन्ध में योग की अपेक्षा अग्निकायिक उद्देशक में जैसा कहा—वैसा ही कहना ।

‘६६’१४ वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १६—स्व-पर योनि से वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (वणस्सइक्काइया णं भंते ! × × × एवं पुढविक्काइयसरिसो उद्देसो) उनके सम्बन्ध में योग की अपेक्षा पृथ्वीकायिक उद्देशक में जैसा कहा वैसा कहना ।

—भग० श २४ । उ १६ । सू १

‘६६’१५ द्वीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १ २—बेइंदियाणं भंते ! कओर्हितो उववज्जंति ? जाव पुढवि-
क्काइए णं भंते ! जे भविए बेइंदिएसु उववज्जित्तए × × × सउचेव पुढविकाइ-
यस्स लद्धी × × × देवेसु नचेव उववज्जंति)

—भग० श २४ । उ १७ । सू १

उनके सम्बन्ध में योग की अपेक्षा पृथ्वीकायिक उद्देशक (‘६६’१०) में जैसा कहा वैसा ही कहना ।

‘६६’१६ त्रीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १ २—तेइंदिया णं भंते ! कओर्हितो उववज्जंति ? एवं तेइंदियाण
जहेव बेइंदियाण उद्देसो ।

—भग० श २४ । उ १८ । सू १

उनके सम्बन्ध में योग की अपेक्षा द्वीन्द्रिय उद्देशक में जैसा कहा—वैसा ही कहना ।

‘६६’१७ चतुरिन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

चउरिंदिया णं भंते ! कओर्हितो उववज्जंति ? एवं जहा तेइंदियाणं
उद्देसओ तहेव चउरिंदियाण वि

—भग० श २४ । उ १९ । सू १

उनके सम्बन्ध में योग की अपेक्षा त्रीन्द्रिय उद्देशक में जैसा कहा—वैसा ही कहना ।

‘६६’१८ पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

‘६६’१८’१ से ७ रत्नप्रभा नारकी से तमतमाप्रभा पृथ्वी के नारकी से उत्पन्न होने
योग्य जीवों में—

रयणपमापुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए पंखिदियतिरिक्खजोणिपसु
उववज्जित्तए × × × एवं सेसाविसत्तगमगा भाणियव्वा जहेव नेरइए उद्देसए
सन्निपंखिदिएहिं सम्मं × × × । सक्करप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए०
एवं जहा रयणप्पभाए णव गमगा तहेवसक्करप्पभाए वि × × × एवं जाव
छट्ठपुढवी × × × । अहेसत्तमाए पुढवीनेरइए णं भंते ! जे भविए० एवं चेव
णव गममा × × × ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ३ से ७

उन सातों नारकी में तीनों योग होते हैं ।

‘६६’१८’८ पृथ्वीकायिक जीवों से पंचेन्द्रिय तिर्यच पंचेन्द्रिय में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

(पुढविकाइए णं भंते ! जे भविण पंचिदियतिरिखजोणिएसु उवव-
ज्जितए × × × तेणं भंते ! × × × सेसं तं चेव) उनमें एक काययोग होता है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू १० से १२

‘६६’१८’९ अप्रकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६—पुढविकाइए णं भंते ! जे भविण पंचिदियतिरिख-
जोणिएसु उववज्जितए । × × × । तेणं भंते ! जीवा० १ × × × जहेव
पुढविकाइएसु उववज्जिमाणणं लद्धी तहेव सव्वत्थ × × ×) उनमें एक काय
योग होता है ।

—भाग श २४ । उ २० । १० से १२

‘६६’१८’१० अग्निकायिक जीवों से पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से उत्पन्न होने योग्य जो जीव
है (देखो पाठ ‘६६’१८’९) उनके नौ गमकों में एक काययोग होता है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू १० से १२ .

‘६६’१८’११ वायुकायिक योनि में पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

‘६६’१८’१२ वनस्पतिकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि में उत्पन्न होने योग्य
जीवों में

उनके नौ ही गमकों में एक काययोग होता है (देखो ‘६६-१८-९)

—भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२

‘६६’१८’१३ द्वीन्द्रिय से चक्षुरिन्द्रिय योनि से उत्पन्न होने योग्य जीवों में (देखो ‘६६’१८’९)

‘६६’१८’१४ उनमें नौ ही गमकों में दो योग-काययोग-वचन योग होता है मध्यम तीन
‘६६’१८’१५ गमकों में केवल काय-योग होता है । —भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२

‘६६’१८’१६ असंशी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि में उत्पन्न होने योग्य
जीवों में—

असन्निपंचिदियतिरिखजोणिए णं भंते ! जे भविण पंचेन्द्रियतिरिख-
जोणिएसु उववज्जितए × × × तेणं भंते ! अवसेसं जहेव पुढविकाइएसु
उववज्जिमाणस्स असन्निस्स तहेव निरवसेस जाव भवाएसोत्ति × × × ।)
उनमें काययोग-वचनयोग होता है । लेकिन मध्यम तीन गमकों में केवल काययोग होता है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू १४-२२

‘६६’१८’१७ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

संखेज्जवासाउयसन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिण णं भंते ! जे भविण पंचिदियतिरिक्खजोणिणसु उववज्जित्तण X X X तेणं भंते ! अवसेसं जहा एयस्स चेव सन्निस्स रयणप्पभाण उववज्जमाणस्स पढमगमण X X X) उनमें तीनों योग होते हैं । लेकिन मध्यम तीन गमकों में एक काययोग होता है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू २५-३२

‘६६’१८’१८ असंज्ञी मनुष्य योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यच पंचेन्द्रिय योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-३—असन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविण पंचिन्द्रियतिरिक्ख-जोणिणसु उववज्जित्तण X X X लद्धीसे तिसुवि गमणसु जहेव पुढविक्काइणसु उववज्जमाणस्स X X X) उनमें तीन गमकों में एक काययोग होता है ।

—भग० श २४ । उ २५ । सू ३४

‘६६’१८’१९ संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६—सन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविण पंचिन्द्रियतिरिक्ख-जोणिणसु उववज्जित्तण X X X तेणं भंते ! लद्धी से जहा एयस्सेव सन्निमणुस्सस्स पुढविक्काइणसु उववज्जमाणस्स पढमगमण एस चेव वत्तव्वया X X X) उनके छः ही गमकों में तीनों योग होते हैं । मध्यम तीन गमकों में केवल काययोग होता है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ३७-४४

‘६६’१८’२० असुरकुमार देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६—असुरकुमारे णं भंते ! जे भविण पंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिणसु उववज्जित्तण X X X । असुरकुमाराणं लद्धी णवसुवि गमणसु जहा पुढविक्काइणसु उववज्जमाणस्स, एवं जाव ईसाणदेवस्स तहेव लद्धी ।) उनके नव गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ४७

‘६६’१८’२१ नागकुमार यौवत स्तनितकुमार देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६—नागकुमारे णं भंते ! जे भविण ? एस० चेव वत्तव्वया X X X । एवं जाव यणियकुमारे) उनके नव ही गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ४८

१६१८२२ वाणव्यंतर देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६—घाणमंतरे णं भंते ! जे भविए पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु ? एवं चेव) उनके नौ ही गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५०

१६१८२३ ज्योतिषी देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-९—जोइसिए णं भंते ! जे भविए पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु ? एस चेव वत्तव्वया जहा पुढविकाइउइएसए । × × ×) उनके नौ ही गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५१

१६१८२४ सौधर्म कल्पोपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-९—सोहम्मे देवे णं भंते ! जे भविए पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जितए × × × सेसं जहेव पुढविकाइउइएसए नवसु वि गमएसु × × ×) उनके नव गमकों में तीनों योग होते हैं । —भग० श २४ । उ २० । सू ५४

१६१८२५ ईशान कल्पोपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में है (× × × एवं ईसाण देवे वि) उनके नव गमकों में तीन योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५४

१६१८२६ सनत्कुमार से सहस्रार कल्पोपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में है । ईसाण देवे वि । एएणं कमेणं अवसेसा वि जाव सहस्सरदेवेसु उववाएयव्वा) उनके नव गमकों में तीन योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५४

१६१९ मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

१६१९१ रत्नप्रभा पृथ्वी से तमत्तमाप्रभा के नारकी से उत्पन्न होने योग्य जीवों में (रयणप्पभापुढवि नेरइए णं भंते । जे भविए मणुस्सेसु उववज्जितए × × × अवसेसा वत्तव्वया जहा पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जितस्स तहेव × × × सेसं तं चेव × × × जहा रयणप्पभाए वत्तव्वया तहा सकरप्पभाए वि × × × एवं जाव तमापुढवि नेरइए) उनके नौ ही गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २१ । सू २

‘९६’१२’२ पृथ्वीकायिक से वनस्पतिकायिक जीवों से मनुष्य-योनिक में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए । तेणं भंते ! जीवा० १ एवं जहेव पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स पुढविकाइयस्स वत्तव्वया सा चेव इह वि उववज्जमाणस्स भाणियव्वा णवसु वि गमएसु × × × एवं आउक्कायाणं वि (एवं षणस्सइकायस्स वि ।) उनके नव गमकों में एक काययोग होता है —भग० श २४ । उ २१ । सू ४-६

‘९६’१६’३ द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय, असन्नि पंचेन्द्रिय से मनुष्य में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

एवं जाव चउरिदियाणंवि । असन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिए सण्णि-पंचिदियतिरिक्खजोणिय असण्णिमणुस्स सण्णिमणुस्सा य एए सव्वेवि जहा पंचिदियतिरिक्खजोणियउहेसए तहेव भाणियव्वा × × ×) उनके छः गमकों में वचनयोग, काययोग होता है । मध्य के तीन गमकों में एक काययोग होता है ।

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६

‘९६’१९’४ संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय योनि से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

उनमें छः गमकों में तीनों योग होते हैं । मध्य के तीन गमकों में केवल काययोग होता है ।

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६

‘९६’१६’५ असंज्ञी मनुष्य से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—उनमें एक काय-योग होता है ।

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६

‘९६’१६’६ संज्ञी मनुष्य से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६

‘९६’१९’७ असुरकुमार ने स्तानितकुमार, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक (सौधर्म ने सहस्रार) देवों से मनुष्य में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

असुरकुमारे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए × × × एवं जह्वेव पंचिदियतिरिक्खजोणिए उहेसए वत्तव्वया सव्वेव एत्थ वि भाणियव्वा × × × सेसं तं खेव । एवं जाव ईसाण देवो । त्ति । × × × सणंत्थकुमारा दीया जाव सहस्रारो त्ति × × ×) उनमें तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६

‘९६’१९’८ आनत यावत् अच्युत (आनंत, प्राणत, आरण-अच्युत) देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

आणय देवे णं भंते ! जे भविण मणुस्सेसु उव्वज्जित्तए × × × तैणं भंते ! एवं जहेव सहस्सारदेवाणं वत्तव्वया × × × सेसं तं चेव × × × एवं णव वि गमगा × × × एवं जाव अच्युयदेवो × × ×) उनके नौ गमकों में ही तीनों योग होते हैं ।
— भग० श २४ । उ २१ । सू १०-११

‘६६’१६’६ ग्रैवेयक कलपातीत (नौ ग्रैवेयक) देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६—गेवेज्जग देवे णं भंते ! जे भविण मणुस्सेसु उव्वज्जित्तए × × × अवसेसं जहा आणयदेवस्स वत्तव्वया × × × सेसं तं चेव × × × एवं सेसेसु वि अट्ठगमएसु) उनके नौ गमकों में ही तीनों योग होते हैं ।
— भग० श २४ । उ २१ । सू १४

‘६६’१६’१० विजय वेजयन्त, जयत्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरोपातिक कलपातीत देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

विजय, वेजयंत, जयंत, अपराजिय देवे णं भंते ! जे भविण मणुस्सेसु उव्वज्जित्तए × × × एवं जहेव गेवेज्जग देवाणं × × × एवं सेसा वि अट्ठगमगा भाणियव्वा × × × सेसं तं चेव ।

सव्वट्ठसिद्धगदेवे णं भंते ? जे भविण मणुस्सेसु उव्वज्जित्तए० ? सा चेव विजयादि देव वत्तव्वया भाणियव्वा । × × × ।
— भग० श २४ । उ २१ । सू १६-१६

विजयादि चार अनुत्तरोपातिक देवों के नौ ही गमकों में तीन योग होते हैं ।

सर्वार्थसिद्ध देवों में प्रथम तीन गमक होते हैं—उनमें तीनों योग होते हैं ।

‘९६’२० वाणव्यतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

‘९६’२०’१ पर्याप्त असंज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय-योनि से वाणव्यतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६—वाणमंतरा णं भंते ! एवं जहेव णागकुमारुहेसए असन्नी तहेव निरवसेसं) × × ×) उनके नौ गमकों में वचनयोग-काययोग होता है परन्तु मनोयोग नहीं होता है ।
— भग० श २४ । उ २२ । सू १

‘६६’२०’२ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि जीवों से वाणव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीव है (असंखेज्जवासाउय) सन्नपंचिन्द्रिय० जे भविण वाणमंतरेसु उववज्जित्तए X X X जहा णागकुमारहेसए X X X) उनके नौ गमकों में तीनों योग होते हैं । —भग० श २४ । उ २२ । सू २-४

‘१६’२०’३ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि के जीवों से वाणव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

(संखेज्जवासाउय० तहेव, देखो पाठ ‘६६’२०’२) उनके तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २२ । सू २-४

‘६६’२०’४ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से वाणव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

जइ मणुस्स० असंखेज्जवासाउयाणं तहेव नागकुमाराणं उहेसे तहेव वत्तवया X X X सेसं तहेव X X X) उनके नौ गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २२ । सू ५

‘६६’२०’५ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से वाणव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में (X X X (संखेज्जवासउयसन्नमणुस्से जहा णाग-कुमारहेसए X X X) उनके नौ गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २२ । सू ५

‘६६’२१ ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

‘६६’२१’१ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-४ व ७-६—असंखेज्जवासाउय सन्नपंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिणं भन्ते ! जे भविण ? जोइसिएसु उववज्जित्तए X X X अवसेसं जहा असुर कुमारहेसए X X X) उनके सातों गमकों में तीन योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २२ । सू ३-८

‘६६’२१’२ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६—जइ संखेज्जवासाउयसन्नपंचिन्द्रिय० ? संखेज्जवासमुयाणं

जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव नव वि गमा भाणियव्वा X X X सेसं तहेव निरवसेसं भाणियव्वं) उनके नौ ही गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २३ सू ६

‘६६’२१’३ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों में—

गमक १-४, ७-६—असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविण जोइएसु उववज्जित्तण ? X X X एवं जहा असंखेज्जवासाउयसन्निपंचिदियस्स जोहएसु चेव उववज्जमाणस्स सत्त गमगा जहेव मणुस्साण वि X X X सेसं तहेव निरवसेसं जाव ‘संवेहो’ त्ति) उनके सातों गमकों में तीन योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २३ । सू ११

‘६६’२१’४ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य थोनि से ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६—जइ संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से० ? संखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव नव गमगा भाणियव्वा X X X सेसं तं चेव निरवसेसं) उनके नौ ही गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २३ । सू १२

‘६६’२२ सौधर्म देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों में—

‘६६’२२’१ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय से सौधर्म देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों में

गमक १-६—असंखेज्जवासाउयसन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! जे भविण सोहम्मगदेवेसु उववज्जित्तण । तेणं भंते अवसेसं जहा जोइएसु उववज्जमाणस्स X X X ।) उनके नव गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २४ । सू ३-७

‘६६’२२’२ संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय से सौधर्म देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में ।

गमक १-९ जइ संखेज्जवासाउय सन्निपंचिदिय० ? संखेज्जवासाउयस्स जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव णववि गमगा X X X सेसं तं चेव ।) उनके नव गमकों में तीनों योग होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २४ । सू ८

१६.२२.३ असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से सौधर्म कल्प देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में ।

गमक १-४, ७-२ असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेणं भन्ते ! जे भविण सोहम्मकण्णे देवत्ताए उववज्जित्तए ०१ एवं जहेव असंखेज्जवासाउयस्स सन्नि-
पच्चिदियतिरिक्खजोणियस्स सोहम्मकण्णे उववज्जमाणस्स तहेव सत्त गमगा
× × × सेसं तहेव निरवसेसं) उनमें सात गमक होते हैं उन सबमें तीनों योग
होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू १०

१६.२२.४ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से सौधर्म देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६ जइ संखेज्जवासाउय सन्निमणुस्सेहितो ०१ एवं संखेज्ज-
वासाउय सन्निमणुस्साणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणानं तहेव णव गमगा
भाणियव्वा × × × सेसंतचेव) उनके नव गमकों में ही तीनों योग होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू ११

१६.२३. ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

१६.२३.१ असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से ईशान देवों में
होने योग्य जीवों में (ईसाणदेवाणं एसचेव सोहम्मगदेवसरिसा वत्तव्वया
× × × सेसं तहेव) (गमक १-४, ७-६) उनमें सात गमक होते हैं उनमें
तीनों योग होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू १२

१६.२३.२ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय ये ईशान देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों में

गमक १-६ संखेज्जवासाउयानं तिरिक्खजोणियानं मणुस्साण-य जहेव
सोहम्मेषु उववज्जमाणानं तहेव निरवसेसं णवविगमगा) उनके नौ गमकों में ही
तीनों योग होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू १४

१६.१३.३ असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-४, ७-६ असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सं वि तहेव × × ×
जहा पच्चिदियतिरिक्खजोणियस्स असंखेज्जवासाउयस्स × × × सेसंतहेव)
उनके सातों गमकों में तीन योग होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू १३

६६.२३.४ संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६ उनके नौ गमकों में तीनों योग होते हैं (देखो ६६-२३-२)

—भग० श २४। उ २४। सू १४

६६.२४ सनत्कुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

६६.२४.१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि से सनत्कुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में

गमक १-६ पञ्जत्तसंखेज्जवासाउय सन्निपंस्त्रिदियतिरिक्ख जोणिए णं भंते ! जेभविए सणकुमारदेवेसु उववज्जित्तए ०१ अवसेसा परणामादीया मधा-एस पञ्जवसाणा सत्तेव वत्तवया भाणियव्वा जहा सोहम्मे उववज्जमाणस्स × × ×) उनके नौ गमकों में ही तीनों योग होते हैं—

—भग० श २४। उ २४। सू १६

६६.२४.२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से सनत्कुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६ (जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति ०१ मणुस्साण जहेव सक्कप्प-भाए उववज्जमाणण तहेव णव वि गमाभाणियव्वा) उनके नौ गमकों में तीनों योग होते हैं ।

— भग० श २४। उ २४। सू १७

६६.२५ माहेन्द्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

६६.२५.१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी—

६६.२५.२ संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय तथा संज्ञी मनुष्य से माहेन्द्र देवों में उत्पन्न होनेवाले जीवों में—

गमक १-९ मार्हिदगदेवाणं भंते ! × × × जहा सणकुमारगदेवाणं वत्तवयातहा मार्हिदगदेवाणं भाणियव्वा) उनके नव गमकों में तीनों योग होते हैं ।

६६.२६ ब्रह्मलोक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

६६.२६.१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी—

६६.२६.२ संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय व संज्ञी मनुष्य से ब्रह्मलोक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

(एवं बभ्रजोगदेवाणं वि वत्तव्वया) उनके नव गमकों में ही तीनों योग होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू १८

.६६.२७ लांतक से सहस्रार देवों से उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय व संज्ञी मनुष्य में लांतक, महाशुक्र तथा सहस्रार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-२ जहा सणकुमारगदेवाणं वत्तव्वया तहा माहिंदगदेवाणं भाणियव्वा × × × एवं जाव सहस्सारे) उनके नौ गमकों में ही तीनों योग होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू १९

.६६.२८ पर्याप्त संज्ञी मनुष्यों से आनत-प्राणत-आरण-अच्युत देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६ पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेणं भंते ! जे भविण आणय-देवेषु उववज्जित्तए०१ मणुस्साण य वत्तव्वया जहेव सहस्सारेसु उववज्जमाणाणं × × × एवं जाव अच्युयदेवा) उनके नव गमकों में ही तीनों योग होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू २०

.६६.२९ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से ग्रैवेयक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६ गेवज्जगदेवाणं भंते ! × × × । एसचेव वत्तव्वया) उनके नव गमकों में तीन योग होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू २१

.९६.३० पर्याप्त संख्यात वर्ष वाले संज्ञी मनुष्य से विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों में—

विजय - वैजयंत - जयंत - अपराजितदेवाणं भंते ! एस० चेव वत्तव्वया निरवसेसा × × × । मणुस्सेलद्धी णवसुवि गमएसु जहा गेवेज्जेसु उववज्ज-माणस्स × × × ।) उनके नौ गमकों में तीन योग होते हैं ।
—भग० श २४ । उ २४ । सू २२

.६६.३१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से सर्वार्थसिद्ध देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-४-७ सव्वट्टसिद्धदेवा × × × सेणं भंते ! अवसेसा जहा

विजयाईसु उववज्जताणं × × × एस तिन्नि गमगा सव्वट्ठसिद्धदेवाणं
× × ×) उनके १, ४-७ गमक में तीनों योग होते हैं। उनकी स्थिति ज. उ. ३३ सागर
की है अतः तीन गमक बनते हैं। —भग० श २४। उ २४। सू २३-३६

.६७ महायुग्म जीवों में योग

.६७.१ कृतयुग्मकृतयुग्म राशि रूप एकेन्द्रिय में कितने योग

(कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) तेणं भंते ! × × × णो मणजोगी, णो
वइजोगी, कायजोगी । —भग० श ३५। उ श १ अवान्तर। उ १। सू ६

कृतयुग्मकृतयुग्म राशि रूप एकेन्द्रिय-मनोयोगी नहीं, वचनयोग नहीं, काययोगी
होते हैं।

नोट—महायुग्म के १६ भेद में से पहला भेद कृतयुग्मकृतयुग्म है। जिस राशि में से
चार संख्या का अपहार करते हुए चार शेष रहे और उस राशि के अपहार समय भी कृत-
युग्म (चार) हो, यह राशि कृतयुग्मकृतयुग्म कहलाती है।

.६७.२ कृतयुग्म व्योज राशि रूप एकेन्द्रिय में कितने योग × × × जहा कडजुम्म-
कडजुम्माणं जाव अणंतखुत्तो । —भग० श ३५। श १। उ १। सू १४
ये मनोयोगी, वचनयोगी नहीं होते, काययोगी होते हैं।

.९७.३ कृतयुग्म-द्वापर युग्म राशि एकेन्द्रिय में कितने योग।

(कडजुम्मदावरजुम्मएगिदिया) सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ।

—भग० श ३५। श १ अवान्तर। सू १७

कृतयुग्म द्वापर युग्म राशि एकेन्द्रिय मनोयोगी वचनयोगी नहीं होते हैं। काययोगी
होते हैं।

यह महायुग्म का तीसरा भेद है।

.९७.४ कृतयुग्म कल्पोज एकेन्द्रिय

५ व्योज कृतयुग्म	„
६ व्योज-व्योज	„
७ व्योज द्वापर युग्म	„
८ व्योज कल्पोज	„
९ द्वापर युग्म कृतयुग्म	„
१० द्वापर युग्म व्योज	„
११ द्वापर युग्म द्वापर युग्म	„
१२ द्वापर युग्म कल्पोज	„
१३ कल्पोज कृत युग्म	„

- १४ कलयोज ज्योज ,,
 १५ कलयोज द्वापर युग ,,
 १६ कलयोज-कलयोज ,,

× × × सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो । एवं एएसु सोलससु महाजुम्मेसु
 एवको गमओ । —भग० श ३५ । श १ । उ १

ये सब एकेन्द्रिय जीव मनोयोगी-वचनयोगी नहीं होते हैं । काययोगी होते हैं ।

‘६७’१७ प्रथम समय उत्पन्न कृतयुग कृतयुग राशि एकेन्द्रिय यावत् प्रथम समय उत्पन्न
 कलयोज कलयोज राशि एकेन्द्रिय ।

(पढम-समय कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) एवं जहेव पढमो उद्देसओ
 तहेव सोलसखुत्तो विइओ वि भाणियव्वो, तहेव सव्वं । × × ×
 —भग० श ३५ । श १ । उ २

प्रथम समय उत्पन्न कृतयुग कृतयुग राशि एकेन्द्रिय आदि सोलह युग-काययोगी
 होते हैं, मनोयोगी-वचनयोगी नहीं होते हैं ।

‘६७’१८ अप्रथम समय के कृतयुग - कृतयुग राशि एकेन्द्रिय आदि सोलह महायुग
 एकेन्द्रिय में ।

(अपढम समय कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) एसो जहा पढमुद्देसो सोल-
 साह विजुम्मेसु तहेव णेयव्वो जाव कलिओग-कलिओगत्ताए जाव अणंतखुत्तो ।
 —भग० श ३५ । श १ । उ ३

अप्रथम समय के कृतयुग कृतयुग राशि एकेन्द्रिय यावत् कलयोज कलयोज राशि
 एकेन्द्रिय में मनोयोग-वचनयोग नहीं होते हैं, काययोग होता है ।

‘६७’१९ चरम समय कृतयुग-कृतयुग राशि एकेन्द्रिय आदि सोलह महायुग में योग—

(चरम समय कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) एवं जहेव पढमसमय
 उद्देसओ । —भग० श ३५ । श १ । उ ४

चरम समय कृतयुग-कृतयुग आदि सोलह महायुग एकेन्द्रिय में काययोग होता है ।

‘६७’२० अचरय समय कृतयुग कृतयुग एकेन्द्रिय में योग—

(अचरमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिदिया, जहा अपढम समय उद्देस्सो
 तहेव णिरवसेओ भाणियव्वो । —भग० श ३५ । उ ५

अचरय समय कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय में आदि सोलह महा युग्म में काययोग होता है ।

६७.२१ प्रथम-प्रथम समय कृतयुग्म कृतयुग्म एकेन्द्रिय

प्रथम अप्रथम समय कृतयुग्म कृतयुग्म एकेन्द्रिय—

(पढम पढम समय कडजुम्मकडजुम्म एगिदिया) जहा पढम समय उद्देसओ तहेष गिरवसेसं (पढमअपढम समय कडजुम्मकडजुम्म एगिदिया)

जहा पढम समय उद्देसओ तहेष भाणिणब्बो ।

—मग० श ३५ । श १ । उ ६,७

प्रथम-प्रथम समय, प्रथम-अप्रथम कृतयुग्म कृतयुग्म एकेन्द्रिय आदि सोलह महायुग्म में काययोग होता है ।

६७.२२ प्रथम चरम समय कृतयुग्म कृतयुग्म एकेन्द्रिय

प्रथम अचरम ,, ,, एकेन्द्रिय ।

(पढम चरम समय कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) जहा चरमुद्देसओ तहेष गिरवसेसं ।

(पढम अचरम समय कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) जहा बीओ उद्देसओ तहेष गिरवसेसं ।

—मग० श ३५ । श १ । उ ८,९

प्रथम चरम समय, प्रथम अचरम समय कृतयुग्म कृतयुग्म एकेन्द्रिय आदि सोलह महायुग्म में काययोग होता है ।

६७.२३ चरम-चरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय

चरम अचरम ,, ,,

(चरम-चरम समय कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) जहा चउत्थो उद्देसओ तहेष ।

(चरम अचरम समय कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) जहा पढम समय उद्देसओ तहेष गिरवसेसं ।

—मग० श ३५ । श १ । उ १०,११

चरम चरम समय के व चरम अचरम समय के कृतयुग्म कृतयुग्म एकेन्द्रिय में आदि सोलह महायुग्मों में काययोग होता है ।

६८. लेशी महायुग्म में योग

६८.१ कृष्ण लेशी कृतयुग्म—कृतयुग्म एकेन्द्रिय जीव में योग

(कण्हलेस्स कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया)

एवं जहा ओहि उद्देसए × × ×। सेसं तहेष जाव अणंतखुत्तो । एवं सोलस वि जुम्मा भाणियव्वा । — भग० श ३५ । श २

कृष्णलेशी कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय आदि सोलह महायुग्म में काययोग होते हैं ।

६८.२ प्रथम समय कृष्ण लेशी कृतयुग्म कृतयुग्म एकेन्द्रिय में योग

(पदम-समय-कण्हलेस्स-कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) एवं जहा ओहियसए एकारस उद्देसगा भणिया तथा कण्हलेस्सए वि एकारस उद्देसगा भाणियव्वा । — भग० श ३५ । श २

औधिक शतक के ग्यारह उद्देशक के समान कृष्ण लेशी शतक में भी ग्यारह उद्देशक कहना । उनमें काययोग होता है ।

६८.३ नील लेशी महायुग्म में एकेन्द्रिय में

६८.४ कापोत लेशी — ,,

एवं णीललेस्सेहि वि सयं कण्हलेस्ससयसरिदि, एक्कासंस उद्देसगा तहेष ।

एवं काउलेस्सेहि वि सयं कण्हलेस्स सयसरिसं ।

— भग० श ३५ । श ३।४

कृष्ण लेश्या शतक के समान नील लेश्या-कापोत लेश्या सोलह युग्म में काययोग होता है ।

६९ भवसिद्धिक महायुग्म में योग

६९.१ भवसिद्धिक कृतयुग्म कृतयुग्म एकेन्द्रिय में योग

(भवसिद्धिय कडजुम्मकडजुम्मएगिदिया) जहा ओहियसयं तहेष । णवरं एक्कारससु वि उद्देसएसु । — भग० श ३५ । श ५

भवसिद्धिक कृतयुग्म कृतयुग्म एकेन्द्रिय में काययोग होता है । ग्यारह उद्देशक में ही ग्यारह योग (काययोग) होते हैं । सोलह महायुग्म में काययोग होता है ।

६९.२ कृष्णलेशी भवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म एकेन्द्रिय में योग

(कण्हलेस्स-भवसिद्धिय कडजुम्म कडजुम्मएगिदिया) एवं कण्हलेस्स-भवसिद्धियएगिदिएहि वि सयं बिइयसय कण्हलेस्ससरिसं भाणियव्वं ।

— भग० श ३५ । श ६

कृष्णलेशी भवसिद्धि एकैन्द्रिय के विषय में कृष्ण लेश्या के दूसरे शतक के समान कहना चाहिए । काययोग होता है । सोलह महायुग्म में काययोग होता है ।

*६९*३ नीललेशी भवसिद्धि एकैन्द्रिय में योग

एवं नीललेस्सभवसिद्धियर्गिदियपएहि वि सयं ।

—भग० श ३५ । श ७

नीललेशी भवसिद्धि कृतयुग्मकृतयुग्मादि महायुग्म एकैन्द्रिय में काययोग होता है ।

*६६*४ कापोतलेशी भवसिद्धि एकैन्द्रिय में योग

एवं काउलेस्स भवसिद्धियर्गिदियहि वि तहेव एकारस उहेसगसंजुत्त सयं ।

—भग० श ३५ । उ ८

कापोतलेशी भवसिद्धि कृतयुग्मकृतयुग्म महायुग्म एकैन्द्रिय में काययोग होता है ।

*१०० अभवसिद्धि महायुग्म में योग

*१ अभवसिद्धि कृतयुग्मकृतयुग्म एकैन्द्रिय में योग

*२ कृष्णलेशी ,,

*३ नीललेशी ,,

*४ कपोतलेशी ,,

जहा, भवसिद्धिर्ह चत्तारि सया भणियाइ* एवं अभवसिद्धिर्ह विचत्तारि सयाणि लेस्सासंजुत्ताणि भाणियव्वाणि ।

—भग० श ३५ । श ६ से १२

जिस प्रकार भवसिद्धि एकैन्द्रिय के चार शतक कहे उसी प्रकार अभवसिद्धि एकैन्द्रिय में भी लेश्या सहित चार शतक कहने चाहिए । महायुग्म लेश्या सहित एक काययोग होता है ।

*१०१ महायुग्म द्वीन्द्रिय में योग

*१ कृतयुग्मकृतयुग्म द्वीन्द्रिय जीव और योग

(कडजुम्मकडजुम्मबेइ*दिया) णो मणयोगी, वययोगी वा काययोगी वा × × × एवं सोलससु बि जुम्मेसु ।

—भग० श ३६ । श १ उ १

कृतयुग्म कृतयुग्म द्वीन्द्रिय मनोयोगी नहीं होते हैं । वचनयोगी व काययोगी होते हैं । सोलह महायुग्म में मनोयोग नहीं होता है । वचनयोग-काययोग होता है ।

*२ प्रथम समयोत्पन्न कृतयुग्म कृतयुग्म द्वीन्द्रिय में योग

(पढम समय कडजुम्मकडजुम्म बेइंदिया) णो मणजोगी, णोवयजोगी, काययोगी । × × × । एवं एण बिजहा एणिदिय महाजुम्मेसु एक्कारस उद्देसगा तहेव भाणियव्वा ।
—भग० श ३६ । श १ । उ २ से ११

प्रथम समय समयोत्पन्न कृतयुग्मकृतयुग्म द्वीन्द्रिय में काययोग होता है ।

चरम समय उत्पन्न आदि आठ उद्देशक में काययोग होता है ।

*१०२ महायुग्म तेइन्द्रिय में योग

*१ कृतयुग्म कृतयुग्म तेइन्द्रिय जीव और योग

(कडजुम्मकडजुम्म तेइंदिया)

एवं तेइंदिएसुविबारस सयाकायव्वा बेइंदियसयसरिसा । × × × सेसं तहेव ।
—भग० श ३७

कृतयुग्मकृतयुग्म तेइन्द्रिय जीवों के ग्यारह शतक है । १६ महायुग्म में मनोयोगी नहीं होते हैं । वचनयोगी-काययोगी होते हैं । प्रथम समय ससुत्पन्न में सिर्फ काययोगी होते हैं ।

*१०३ महायुग्म चतुरिन्द्रिय में योग

चतुरिन्द्रिय कृतयुग्मकृतयुग्म में योग

चउरिदिपहि वि एवं चेव बारस सया कायव्वा । × × × सेसं जहा बेइंदि याणं ।
—भग० श ३८

इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय कृतयुग्मकृतयुग्म में मनोयोगी नहीं होते हैं । वचनयोगी व काययोगी होते हैं । प्रथम समयोत्पन्न चतुरिन्द्रिय में आदि आठ उद्देशक में सिर्फ काययोगी होते हैं ।

*१०४ महायुग्म असंशी तियच्च पंचेन्द्रिय में योग

*१ कृतयुग्मकृतयुग्म असंशी तियच्च पंचेन्द्रिय में योग—

(कडजुम्मकडजुम्मअसणिण पंचिंदिया जहा बेइंदियाणं तहेव असणिसु वि बारस सया कायव्वा × × × । सेसं जहा बेइंदियाणं ।
—भग० श ३९

कृतयुग्मकृतयुग्म असंशी पंचेन्द्रिय जीव मनोयोगी नहीं होते हैं । वचन योगी व काययोगी होते हैं । १६ महायुग्म ऐसा ही है ।

प्रथम समयोत्पन्न असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि आठ में काययोगी होते हैं। मनोयोगी वचनयोगी नहीं होते हैं।

.१०५ महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग

.१ संज्ञी पंचेन्द्रिय कृतयुग्मकृतयुग्म में योग

(कडजुग्मकडजुग्म सण्णि पंचिदिया) मणजोगी-वयजोगी-कायजोगी
× × × एवं सोलसु बि जुग्मेसु भाणियव्वं × × × । —भग० श ४०

कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय मनोयोगी-वचनयोगी और काययोगी होते हैं। सोलह महायुग्मों वाले मनोयोगी-वचनयोगी-काययोगी होते हैं।

.२ प्रथम समय कृष्णलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में योग—

(पढमसमय कण्हलेस्स कडजुग्मकडजुग्म-सण्णि पंचिदिया) जहा
सण्णि पंचिदिय पढमसमय उद्देसए तद्देव णिरवसेसं । × × × एवं सोलस-
सुवि जुग्मेसु । × × × । एवं एण्वि एक्कारस बि उद्देसगा कण्हलेस्ससए ।
—भग० श ४० । श २ । सू २

प्रथम समय कृष्णलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग होता है। वचनयोग-मनोयोग नहीं होता है।

इस प्रकार सोलह महायुग्मों में काययोग कहना चाहिए।

इस प्रकार कृष्णलेशी शतक के आठ उद्देशक में काययोग होता है।

.३ कृष्णलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग

(कण्हलेस्स कडजुग्मकडजुग्म सण्णि पंचिदिया) तद्देव जहा पढमुद्दे-
सओ सण्णीणं × × × । —भग० श ४० । श २

कृष्णलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय—(संज्ञी के प्रथम उद्देशक की तरह)
मनोयोगी-वचनयोगी-काययोगी होते हैं। इसी प्रकार सोलह महायुग्म मनोयोगी-वचनयोगी
काययोगी होते हैं।

.४ नीललेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग।

प्रथम समय नीललेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग।

एवं नीललेस्सेसु बि सयं । × × × एवं तिसु उद्देसएसु, सेसंतंचेव ।

—भग० श ४० । श ३

नीललेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग-वचनयोग-मनोयोग होता है ।

प्रथम समय नीललेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग होता है । आठ उद्देशक में काययोग होता है ।

५. कापोतलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग

प्रथम समय ” ”

एवं काउल्लेस्ससयं वि । × × × । एवं तिसु वि उद्देसएसु, सेसंतंवेव

इसी प्रकार कापोतलेशी कृतयुग्मकृतयुग्मादि सोलह महायुग्मों में संज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग-वचनयोग-मनयोग होता है । प्रथमसमय कापोतलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म आदि महायुग्मों में संज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग होता है । आठ उद्देशक में काययोग होता है ।

६. तेजोलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग

प्रथम समय ” ”

एवं तेउल्लेस्सेसुवि सयं । × × × । एवं तिसुवि उद्देसएसु, सेसंतंवेव ।

— भग० श ४० । श ५

तेजोलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय के काययोग-वचनयोग-मनयोग होता है । सोलह महायुग्म में तीनों योग होते हैं ।

प्रथमसमय तेजोलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग होता है—वचनयोग व मनोयोग नहीं होता है । आठ उद्देशक में व सोलह महायुग्मों में काययोग होता है—

७. प्रथमसमय कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग—

(पढमसमय कडजुम्मकडजुम्म सण्णि पंचिदिया) सेसं जहा बेइंदियाणं पढमसमइयाणं जाव अणंतखुत्तो । × × × । एवं सोलससु वि जुम्मेसु परिमाणं तहेव सव्वं । एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा तहेव ।

—भग० श ४० । श ६

प्रथमसमयोत्पन्न संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में बेइन्द्रिय की तरह मनोयोगी-वचनयोगी नहीं होते हैं—काययोगी होते हैं । सोलह महायुग्मों में काययोगी होते हैं । आठ उद्देशक में काययोगी होते हैं ।

८ पद्मलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय

पद्म समय , , , ,

जहा तेउलेस्सासयं तहा पग्गलेस्सा सयं वि $\times \times \times$ । सेसंतं चेव ।

—भग० श ४० । श ६

पद्मलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग-वचनयोग-मनोयोग होता है ।
सोलह महायुग्म में तीनों योग होते हैं ।

प्रथम समय पद्मलेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग होता है । सोलह महायुग्मों में आठ उद्देशक में काययोग होता है ।

१० शुक्ललेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय

प्रथम समय , , , ,

सुक्कलेस्ससयं जहा ओहियसयं । सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ।

—भग० श ४० । श ७

शुक्ललेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय—मनोयोगी-वचनयोगी-काययोगी होते हैं । सोलह महायुग्म मनोयोगी वचनयोगी काययोगी होते हैं ।

प्रथम समय शुक्ललेशी कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग होता है वचन-योग व मनोयोग नहीं होता है सोलह महायुग्म में आठ उद्देशक में काययोग होता है ।

११ कृतयुग्मकृतयुग्म भवसिद्धि संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग

(भवसिद्धि कडजुम्मकडजुम्मसण्णिपंचिदिया जहा पढमं सण्णिसयं तहा जेयव्वं भवसिद्धियाभिलावेण ।

—भग० श ४० । श ८

कृतयुग्मकृतयुग्म भवसिद्धि संज्ञी पंचेन्द्रिय में प्रथम शतक की तरह मनोयोगी, वचनयोगी व काययोगी होते हैं ।

१२ कृष्णलेशी भवसिद्धि कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग—

(कण्हलेस्स-भवसिद्धि-कडजुम्मकडजुम्मसण्णिपंचिदिया) एवं एएण अभिलावेणं जहा ओहियकण्हलेस्संसयं ।

—भग० श ४० । शतक ६

कृष्णलेशी भवसिद्धि कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी होते हैं ।

१३ नीललेशी भवसिद्धि कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग—

एवं नीललेस्स भवसिद्धि वि सय ।

—भग० श ४० । श १०

नीललेशी भवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय—मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी होते हैं ।

•३४ कापोतलेशी भवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग—

•३५ तेजोलेशी „

•३६ पद्मलेशी „

•३७ शुक्ललेशी „

एवं जहा ओहियाणि सण्णि पंचिदियाणं सत्त सयाणि भणियाणि । एवं भवसिद्धिएहि विसत्त सयाणि कायव्याणि । × × ×

—भग० श ४० । श ११ से १४

कापोतलेशी, तेजोलेशी, पद्मलेशी, शुक्ललेशी भवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी होते हैं ।

प्रथम समय अभवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग—

(पढमसमय अभवसिद्धिय कडजुम्मकडजुम्मसण्णि-पंचिदिया) जहा सण्णीण पढमसमयउद्देसए तहेव × × एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा कायव्या ।

—भग० श ४० । श १५

प्रथम समय अभवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय—काययोगी होते हैं । मनोयोगी, वचनयोगी नहीं होते हैं । ग्यारह उद्देशक में से आठ में काययोगी होते हैं । तथा तीन में तीन योग होते हैं ।

अभवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग—

(अभवसिद्धिय कडजुम्मकडजुम्मसण्णि-पंचिदिया) × × × सेसं जहा कण्हलेस्ससए जाव अणंतखुत्तो ।

—भग० श ४० । श १५

अभवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय—मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी होते हैं ।

कृष्णलेशी अभवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में योग—

(कण्हलेस्स-अभवसिद्धिय - कडजुम्मकडजुम्मसण्णि - पंचिदिया) जहा एएसि चेव ओहियंसयं जहा कण्हलेस्ससयं पि । × × ×

—भग० श ४० । श १६

कृष्णलेशी अभवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय—मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी होते हैं ।

नीललेशी अभवसिद्धिक कृतयुग्मकृतयुग्म संशी पंचेन्द्रिय में योग—

कापोतलेशी	”
तेजोलेशी	”
पद्मलेशी	”
शुक्ललेशी	”

(कण्ठलेस्स - अभवसिद्धिय कडजुम्मकडजुम्मसण्णपंचिदिया) एवं छहि बि लेस्साहिं छ सया कायवा जहा कण्ठलेस्ससयं ।

—भग० श ४० । श १७ से २१

जिस प्रकार कृष्णलेश्या का शतक कहा, उसी प्रकार नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या के विषय में जानना चाहिए । वे सब मनोयोगी, वचन-योगी, काययोगी होते हैं ।

१०६.५-६ सयोगी और गुणस्थान की अपेक्षा योग—

तेरहमड स - जोइ - जिणु जायड ।

× × ×

उवरिल्लुड अजोइ पर अक्खरुड ॥ — वीरजि० संधि १२ । कड ४

तेरहवां गुणस्थान सयोगि जिन अथवा सयोगि केवली कहलाता है । अन्तिम चौदहवां गुणस्थान उन अयोगि-केवली जीवों को होता है जिन्होंने मन, वचन, काय—इन तीन योगों का परित्याग कर दिया है ।

१०७ एकेन्द्रिय में योग—

.१ पृथ्वीकाय में कितने योग—

तेसिणं (पुढविकाइया) × × × तेणं भंते । जीवार्कि मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी ? गोयमा । णो मणजोगी, णो वयजोगी, कायजोगी ।

—भग० श १६ । उ ३ । सू ५

पृथ्वीकायिक जीव मनोयोगी नहीं है, वचनयोगी भी नहीं है, एक काययोगी है ।

.२ अपकायिक जीवों में कितने योग

.३ अग्निकायिक जीवों में कितने योग

.४ वायुकायिक जीवों में कितने योग

.५ वनस्पतिकायिक जीवों में कितने योग

एवं गो पुढविकाइयाणं गमो सो चेव भाणियव्वो × × × ।

तेउकाइया० × × × एवं चेव ।

वाउकाइयाणं एवं चेव ।

वणस्सकाइया०—सेसंजहा तेउकाइयाणं जाव उव्वट्ति ।

—भग० श १६ । उ ३ । सू १७

पृथ्वीकायिक जीवों की तरह इनमें एक काययोग होता है ।

विवेचन—एकेन्द्रियपने उत्पन्न हुए जिनको उत्पन्न हुए एक समय हुआ है और जो कृतयुग्मकृतयुग्म राशि रूप है—ऐसे एकेन्द्रिय जीव को प्रथम समय कृतयुग्मकृतयुग्म एकेन्द्रिय कहते हैं । २

जिनको उत्पन्न हुए द्वितीयादि समय हो गये हैं वे अप्रथम समय में आते हैं । ३

‘चरम समय’ शब्द से यहाँ एकेन्द्रियों का मरण समय विवक्षित है और यह उनके परभव आयु का प्रथम समय जानना चाहिए । ४

जिन एकेन्द्रिय जीवों का उपर्युक्त चरम समय नहीं है वे अचरम समय हैं । ५

प्रथम समय में उत्पन्न और कृतयुग्मकृतयुग्मत्व के अनुभव के प्रथम समय में वर्तमान एकेन्द्रिय जीवों के काय योग होता है ।

१०८ जीव समूहों में योग

१ योग और जीव

मनोयोग किसके होता है ?

मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।

—षट् खं १ । १ सू ५० । पु १ । पृ० २८२

टीका—मनोयोग इति पञ्चमो मनोयोगः षष्ठ्यलक्षणेनैष दोषः, अतस्तृणां मनोव्यक्तीनां सामान्यस्य पञ्चमत्वोपपत्तेः किं तत्सामान्यमिति चेन्नमनसः सादृश्यम् । मनसः समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोगः । पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनसः प्रवृत्तिर्दृश्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः, तन्निमित्तप्रयत्नसम्बन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य विवक्षितत्वात् ।

भवतु केषलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात् । नासत्यमोषमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र संशयानव्यवसाययोरभावादिति

न, संशयानध्यवसायनिबन्धनवचनहेतुमनसोऽप्यसत्यमोषमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाविरोधात् । किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत्स्वार्थानन्त्याच्छ्रोतुरावरणक्षयोपशमातिशयाभावात् । तीर्थंकरवचनमनक्षरत्वात् ध्वधिरूपं तत् एव तदेकम् । एकत्वान्न तस्य द्वै विध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्वतस्तस्य ध्वनेरनक्षपरत्वासिद्धेः । साक्षरत्वे च प्रतिनियतैकभाषात्मकमेव तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न, कमविशिष्टवर्णात्मकभूयः पङ्क्तिदम्बस्य प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरोधात् । तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः । अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात् । भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात् । तेनात्मनो योगः मनोयोगः । विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः, किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणक्षयोपशमाभावात् । असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात् ।

औषिक मनोयोग और विशेष रूप से सत्यमनोयोग तथा असत्यामृषामनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं ।

मनोयोग के चार भेदों के अतिरिक्त वह पाँचवाँ 'मनोयोग' कहाँ से प्राप्त हुआ ! वह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह अपने चार भेदों में रहता है, अतः उसकी पाँचवीं संख्या स्वतः बन जाती है । यह सामान्य जो चारों मनोयोगों में प्राप्त होता है उसको मन की सदृशता से ग्रहण करना चाहिए । मन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसको मनोयोग कहते हैं । यदि पूर्व प्रयोग से प्रयत्न के बिना भी मन की प्रवृत्ति होती है तो हो, क्योंकि यहाँ पर 'मन से होनेवाले योग को 'मनोयोग' कहते हैं' यह अर्थ विवक्षित नहीं है ; किन्तु 'मन के निमित्त से जो परिस्पन्दन रूप प्रयत्नविशेष होता है वह मनोयोग है' यह अर्थ विवक्षित है ।

केवली में सत्यमनोयोग का सद्भाव तो रह सकता है, क्योंकि वहाँ पर वस्तु के बथार्थ ज्ञान का सद्भाव रहता है ; परन्तु उनमें असत्यामृषामनोयोग का सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि उनमें संशय और अनध्यवसाय रूप ज्ञान का अभाव रहता है । संशय और अनध्यवसाय के कारणरूप वचन का कारण मन है और केवली में मन की सत्ता रहती है; अतः अनुभव मनोयोग स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं है ।

केवली के वचन से संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति होने में तात्पर्य यह है कि

उनमें ज्ञान के विषयभूत पदार्थ अनन्त होते हैं और श्रोता के आवरणकर्म का क्षयोपशम अतिशयरहित होता है ।

तीर्थंकरों के वचन अनक्षरात्मक होने के कारण ध्वनिरूप हैं, अतः वे एकरूप हैं, फिर भी उनमें सत्य और अनुभय—इन दो रूपों के होने का कारण यह है कि केवली के वचन में 'स्यात्' इत्यादि रूप से अनुभय रूप वचन का सद्भाव रहता है, अतः केवली के वचन की अनक्षरात्मकता असिद्ध है ।

केवली की ध्वनि को साक्षर स्वीकार लेने पर उनके वचन एक भाषारूप हो जायेंगे, अशेष भाषारूप नहीं रहेंगे—ऐसा भी नहीं कहना, चाहिए, क्योंकि क्रमविशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पंक्तियों के समुच्चय रूप और सब श्रोताओं में प्रवृत्त होनेवाली केवली की ध्वनि को सम्पूर्ण भाषारूप मान लेने में कोई विरोध नहीं रहता है ।

यद्यपि केवली के वचन अनेक भाषारूप होते हैं, फिर भी वे (वचन) ध्वनिरूप हैं, क्योंकि केवली के वचन 'इसी भाषारूप होते हैं'—ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है ।

केवली में अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, अतः उनमें मन का अभाव रहता है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें द्रव्यमन का सद्भाव रहता है ।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि द्रव्यमन का सद्भाव तो रहता है, परन्तु उसके कार्य नहीं होते हैं ; क्योंकि द्रव्यमन के कार्य रूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव भले ही रहे; किन्तु द्रव्यमन के उत्पन्न करने में प्रयत्न तो रहता ही है, क्योंकि द्रव्यमन की वर्गणाओं को लाने के लिए होनेवाले प्रयत्न में कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं रहता है । अतः सिद्ध होता है कि मन के निमित्त से आत्मा के परिस्पन्दन रूप प्रयत्न को मनोयोग कहते हैं ।

केवली में द्रव्यमन के उत्पन्न करने में प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी उसके कार्य न होने का कारण यह है कि केवली में मानसिक ज्ञान के सहकारीकारण रूप क्षायोपशम का अभाव रहता है ।

यद्यपि केवली में वस्तुतः क्षायोपशमिक मन नहीं रहता है तथापि सत्य और अनुभय रूप वचनों की उत्पत्ति उपचार से किया जाता है, अतएव उन दोनों वचनों की उत्पत्ति का विधान किया गया है ।

२ असत्यमनोयोग-उभयमनोयोग किसके होता है ।

मोसमणजोगो सखमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइहि-प्पहुडि जाव खीण-
कसाय-वीयरग छदुमत्था त्ति । — षट् खं १ । १ सू ५१ । पु १ । पृ० २८५

टीका—भवतु नाम क्षपकोपशमकानां सत्यस्यासत्यमोषस्य च सत्त्वं

नेतरयोरप्रमादस्य प्रमादविरोधित्वादिति न, रजोजुषां विपर्ययानध्यवसाया-
ज्ञानकारणमनसः सत्त्वाविरोधात् । न च तद्योगात्प्रमादिनस्ते प्रमादस्य
मोहपर्यायत्वात् ।

असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय
वीतराग हृदमस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं ।

क्षपक उपशमक जीवों में सत्यमनोयोग और अनुभयमनोयोग का सद्भाव तो हो
सकता है, परन्तु असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग का सद्भाव कैसे रहेगा; क्योंकि इन
दोनों योगों में रहनेवाला अप्रमाद, असत्य और उभयमन के कारणभूत प्रमाद का विरोधी
है । क्षपक और उपशमक प्रमादरहित होते हैं, अतः उनमें असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग
नहीं पाये जा सकते हैं—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आवरण कर्म से युक्त जीवों में
विपर्यय और अनध्यवसाय रूप अज्ञान के कारणभूत मन का सद्भाव स्वीकार करने में कोई
विरोध नहीं आता है । परन्तु इसके सम्बन्ध से क्षपक और उपशमक जीव को प्रमत्त नहीं
मानना चाहिए, क्योंकि प्रमाद मोह का पर्यायवाचक है ।

३. वचनयोग किसके होता है ?

वचिजोगो असत्त्वमोषवचिजोगोबोद्धिय-प्यहुडि जाव सजोगि केवलि
सि ।

—षट्० खं १।१। सू. ५१। पु १। पृ २८७

टीका—असत्यमोषमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोषवचनमिति प्रागुक्तम्, तद्
द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति नाथमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि
मनस एव समुत्पद्यन्त इति मनोरहितकेवलिनां वचनभाषसंजननात् । विकले-
न्द्रियार्णा मनसा बिना न ज्ञानसमुत्पत्तिः । ज्ञानेन बिना न वचनप्रवृत्तिरिति
चेन्न, मनस एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात् । भावे वा नाशेषेन्द्रियेभ्यो
ज्ञानसमुत्पत्तिः मनसः समुत्पन्नत्वात् । नैतदपि दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मान-
सप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात् । न चक्षुरादीनां सहकार्यपि प्रयत्नात्मसह-
कारिभ्यः इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात् । समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनो-
योगादेवेति चेन्न, केवलज्ञानेन व्यभिचारात् । समनस्कानां यत्क्षायोपशमिकं
ज्ञानं तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् । मनोयोगाद्वचनमुत्पद्यत इति
प्रागुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति
संज्ञां विधायोक्तत्वात् । कथं विकलेन्द्रियवचसोऽसत्यमोषत्वमिति चेदनध्यव-
सायहेतुत्वात् । इवनिविषयोऽध्यवसायः समुपलभ्यत इति चेन्न, वक्तुरभि-
प्रायविषयाध्यवसायाभासस्य विवक्षितत्वात् ।

अधिक वचनयोग तथा विशेषरूप से अनुभयवचनयोग द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं ।

अनुभय मन के निमित्त से जो वचन उत्पन्न होता है उसको अनुभयवचन कहा जाता है यह पहले कहा जा चुका है, किन्तु मनरहित द्वीन्द्रियादि जीवों में अनुभयवचन होने का कारण यह है कि सभी वचन मन से ही उत्पन्न होते हैं—यह एकान्त नियम नहीं है ; क्योंकि यदि सभी वचनों की उत्पत्ति मन से ही मान ली जाय तो मनरहित केवली के वचनों के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जायगा ।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि विकलेन्द्रिय जीवों में मन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा ज्ञान के अभाव में वचन की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी ; क्योंकि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है—यह एकान्त नियम नहीं है । यदि इस एकान्त नियम को मान लिया जाय तो सम्पूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति मन से मानी गई है । अथवा, मन से समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियों में रह भी तो नहीं सकता है, क्योंकि दृष्टि, श्रुत और अनुभूति को विषय करनेवाले मानसज्ञान का अन्यत्र सद्भाव मानने में विरोध आता है । यदि मन को चक्षु आदि इन्द्रियों का सहकारी कारण माना जाय तो भी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रयत्न और आत्मा के सहकार की अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियों से इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

समनस्क जीवों में भी ज्ञान की उत्पत्ति मनोयोग से ही नहीं होती है, क्योंकि ऐश्वर्य मानने पर केवलज्ञान से व्यभिचार का प्रसंग उपस्थित हो जाता है ।

समनस्क जीवों में क्षायोपशमिक ज्ञान का कारण मनोयोग होना तो अभीष्ट ही है ।

यदि यह कहा जाय कि 'मनोयोग से वचन उत्पन्न होते हैं'—यह कैसे घटित होगा ? तो यह कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि यहाँ पर मानसज्ञान को उपचारवश 'मन' कहा गया ।

विकलेन्द्रियों के वचनों में अनुभयत्व होने का कारण यह है कि उनके वचन अनध्यवसाय रूप ज्ञान के कारण होते हैं ।

यद्यपि विकलेन्द्रिय के वचनों में ध्वनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय पाया जाता है, फिर भी उनको अनध्यवसाय का कारण कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ पर अनध्यवसाय से वक्ता के अभिप्राय विषयक अध्यवसाय का अभाव विवक्षित है ।

४ मृषावचनयोग सत्यमृषावचन योग किसके होता है ।

मोसवच्चिजोगो सच्चमोसवच्चिजोगो सण्णिमिच्छाद्द्वि-प्पहुडि जाव खीण-
कसाय-धीयराय-छदुमत्था त्ति । — षट्. खं १ । १ । सू. ५.५ । पु १ पृ० २८६

क्षीणकषायस्य वचनं कथमसत्यमिति चेन्न, असत्यनिबन्धनाज्ञानसत्त्वा-
पेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात् । तत एव नोभयसंयोगोऽपि विरुद्ध इति ।
वाच्यमस्य क्षीणकषायस्य कथं वाग्योगश्चेन्न, तत्रान्तर्जल्पस्य सत्त्वा-
विरोधात् ।

मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर, क्षीणकषाय
वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ।

जिसके कषाय क्षीण हो गये हैं ऐसे जीव के वचन असत्य कैसे हो सकते हैं ?—
ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि असत्य वचन का कारण अज्ञान है और वह बारहवें
गुणस्थान तक रहता है—इस अपेक्षा से यहाँ कथन किया गया है और यही कारण है कि
उभयसंयोगज सत्यमृषावचन का भी प्रतिपादन करना विरुद्ध नहीं है ।

वचनगुप्ति का पूरी तरह से पालन करनेवाले कषायरहित जीवों में वचनयोग प्राप्त
होने का कारण यह है कि उनमें अन्तर्जल्प का सद्भाव स्वीकार करने में कोई विरोध
नहीं है ।

५. आहारक-आहारकमिश्र कायधोग किसके होता है

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजदाणमिद्धपत्ताणं ।

—षट्. खं १ । १ । सू. ५६ । पु १ । पृ २६७

टीका—आहारद्धिप्राप्तेः किमु संयताः ऋद्धिप्राप्ता उत वैक्रियकद्धिप्राप्तास्ते
ऋद्धिप्राप्ता इति । किं खातः नाद्यः पक्ष आश्रयणयोग्यः इतरेतराश्रयदोषासंजन-
नात् । कथम् ? यावन्नाहारद्धिरुत्पद्यते न तावत्तेषामृद्धिप्राप्तवम्, यावन्नद्धि-
प्राप्तत्वं न तावत्तेषामाहारद्धिरिति । न द्वितीयविकल्पोऽपि ऋद्धेरुपर्यभावात् ।
भावे वा आहारशरीरवतां मनःपर्ययज्ञानमपि जायेत विशेषाभावात् । न चैष-
मार्षेण सह विरोधादिति नादिपक्षोक्तदोषः समाढौकते । यतो नाहारद्धिरात्मान-
मपेक्ष्योत्पद्यते स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अपि तु संयमातिशयापेक्षया तस्याः
समुत्पत्तिरिति । ऋद्धिप्राप्तसंयतानामिति विशेषणमपि घटते तदनुत्पत्तावपि
ऋद्धिहेतुसंयमः ऋद्धिः कारणे कार्योपचारात् । ततश्चद्धिहेतुसंयमप्राप्ताः यतयः
ऋद्धिप्राप्तास्तेषामाहारद्धिरिति सिद्धम् । संयमविशेषजनिताहारशरीरोत्पादन-
शक्तिराहारद्धिरिति वा नेतरेतराश्रयदोषः न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽप्यनभ्युपग-
मात् । नैषनियमोऽप्यस्यैकस्मिन्नक्रमेण नर्द्धयो भूयस्यो भवन्तीति । गणभृत्सु
सत्तानामपि ऋद्धीनामक्रमेण सर्वोपलम्भात् । आहारद्ध्या सह मनःपर्ययस्य

**विरोधो दृश्यत इति चेद्भवतु नाम दृष्टत्वात् । न चानेन विरोध इति सर्वाभि-
विरोधो वक्तुं पार्यतेऽव्यवस्थापत्तेरिति ।**

आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग ऋद्धिप्राप्त संयतों में होते हैं ।

अब यहाँ पर विचार किया जाता है कि संयतों को आहारक ऋद्धि की प्राप्ति होने से ऋद्धि प्राप्त समझना चाहिए अथवा उनको पहले वैक्रिय ऋद्धि प्राप्त है इसलिए ऋद्धि प्राप्त समझना चाहिए ? प्रथम पक्ष तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि इतरेतराश्रय दोष आ जाता है ; यथा—जब तक उनमें आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होगी तब तक उनको ऋद्धि प्राप्त नहीं कहा जा सकता तथा जब तक वे ऋद्धि प्राप्त नहीं होंगे तब तक उनमें आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती है । दूसरा विकल्प भी स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि उनमें उस समय दूसरी ऋद्धियों का अभाव रहता है । यदि सद्भाव मान भी लिया जाय तो आहारक ऋद्धिवालों में मनःपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति भी माननी चाहिए; क्योंकि अन्य ऋद्धियों के समान इसके होने में कोई विशेषता नहीं है । किन्तु आहारक शरीरधारी में मनःपर्ययज्ञान माना नहीं जाता है, क्योंकि आगम से विरोध होता है ।

प्रथम पक्ष में जो इतरेतराश्रय दोष दर्शाया गया है वह तो आता नहीं है, क्योंकि आहारक ऋद्धि स्व की अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है तथा स्व से स्व की उत्पत्ति रूप संयमातिशय की अपेक्षा से होती है । अतएव 'ऋद्धि प्राप्त संयतानाम्' यह विशेषण घटित होता है । यहाँ पर ऋद्धि की अप्राप्तावस्था में भी ऋद्धि प्राप्ति के हेतुभूत संयम को ही कारण में कार्य का उपचार करके 'ऋद्धि' कहा गया है । अतएव ऋद्धि के कारणभूत संयम को प्राप्त संयतों को ऋद्धि प्राप्त कहा गया है—ऐसे संयतों के आहारक ऋद्धि होती है यह बात सिद्ध हो जाती है । अथवा, संयमविशेष से उत्पन्न आहारक ऋद्धि के उत्पादन योग्य शक्ति को यहाँ आहारक ऋद्धि के उत्पादन योग्य शक्ति को यहाँ आहारक ऋद्धि कहा गया है, इसलिए इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है । इसी प्रकार दूसरे विकल्प में दिखाया गया दोष भी नहीं आता है, क्योंकि एक ऋद्धि के साथ दूसरी ऋद्धि नहीं आती है, यह स्वीकार नहीं किया गया है । यह नियम भी नहीं है कि एक आत्मा में युगपत् अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि गणधरों में एक साथ सातों ही ऋद्धियों का सद्भाव देखा जाता है ।

आहारक ऋद्धि के साथ मनःपर्यय ज्ञान का विरोध होता है, इसलिए अन्य ऋद्धियों के साथ भी विरोध रहेगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, अन्यथा अव्यवस्था उपस्थित हो जायगी ।

•६ वैक्रिय-वैक्रियमिश्र काययोग किसके होता है

वेदव्ययकायजोगो वेदव्ययनिस्सकायजोगो देवणेऽद्वयार्ण ।

—षट्० खं १ । १ । सू. ५. ८ । पृ १ पृ० २६६

टीका—तिरश्चां मनुष्याणां च किमिति तदुदयो न भवेत् ? न, तिर्यङ्-
मनुष्यगतिकर्मोदयेन सह वैक्रियकोदयस्य विरोधात्स्वभावाद्वा । न हि
स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः अतिप्रसङ्गात् । तिर्यङ्चो मनुष्याश्च वैक्रियकशरीराः
श्रूयन्ते तत्कथं घटत इति चेन्न, औदारिकशरीरं द्विविधं विक्रियात्मकमवि-
क्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मकं तद्वैक्रियकमिति तत्रोक्तं न तदत्र परिगृ-
ह्यते विविधगुणद्वयभावात् । अत्र विविधगुणद्वयात्मकं परिगृह्यते, तच्च देव-
नारकाणामेव ।

वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिभ्र काययोग देव और नारकियों में होते हैं ।

तिर्यच और मनुष्यों में इन दोनों योगों के उदय नहीं होने का कारण यह है कि
तिर्यच और मनुष्यगति कर्मोदय के साथ वैक्रिय नामकर्म के उदय का विरोध है ; अथवा,
स्वभावतः इनमें वैक्रिय नामकर्म का उदय नहीं होता है । स्वभाव दूसरे के प्रश्नों के योग्य
नहीं होता है, क्योंकि अतिप्रसंग दोष उपस्थित हो जायगा ।

तिर्यच और मनुष्य भी वैक्रिय शरीरधारी होते हैं, ऐसा जो सुना जाता है उसका
अभिप्राय है—औदारिक शरीर दो प्रकार के माने गये हैं—विक्रियात्मक और अवि-
क्रियात्मक । मनुष्य और तिर्यचों के विक्रियात्मक शरीर कहा गया है, जिसका यहाँ पर
ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि उसमें विविध गुण और ऋद्धियों का अभाव है । यहाँ पर
विविध गुण और ऋद्धि से युक्त वैक्रियशरीर का ग्रहण किया गया है जो देव और नारकियों
में ही होता है ।

७ औदारिक काययोग किसके होता है ?

ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिवस्समणुस्साणं ।

—षट् खं १ । १ सू ५७ । पु १ । पृ० २६५

देवनारकाणां किमित्यौदारिकशरीरोदयो न भवेत् ? न, स्वाभाव्यात्
देवनरकगतिकर्मोदयेन सह औदारिककर्मोदयस्य विरोधाद्वा । न च तिरश्चां
मनुष्याणां औदारिककाययोग एवेति नियमोऽस्ति तत्र कर्मणकाययोगदीनाम-
भाषापत्तेः किं तु औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्याणामेव ।

औदारिक काययोग और औदारिकमिभ्र काययोग तिर्यच और मनुष्यों में होते हैं ।

देव और नारकियों में औदारिक शरीर नहीं होने का कारण इनका स्वभाव है ;
अथवा देवगति और नरकगति नामकर्म के उदय के साथ औदारिक शरीर नामकर्म के उदय
का विरोध है । किन्तु तिर्यच और मनुष्य के औदारिक काययोग ही होता है— ऐसा
नियम नहीं है; क्योंकि ऐसा नियम स्वीकार करनेपर तिर्यच और मनुष्यों में कर्मणकाययोग

आदि के अभाव का प्रसंस उपस्थित हो जायगा, अतएव औदारिक काययोग तिर्यच और मनुष्यों में ही होता है— ऐसा समझना चाहिए ।

८ कर्मण काययोग किसके होता है

कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-
गदाणं ।

—षट्, खं १ । १ सू. ६० । पु १ पृ० २६८

टीका—विग्रहो देहस्तदर्थं गतिः विग्रहगतिः औदारिकशरीरनामोदया-
त्स्वनिर्वर्तनसमर्थात् विविधात् पुद्गलान् गृह्णाति विगृह्यतेऽसौ संसारिणा इति
वां विग्रहो देहः । विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः । अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहः
व्याघातः पुद्गलादान निरोध इत्यर्थः । विग्रहेण पुद्गलादाननिरोधेन गतिः
विग्रहगतिः । अथवा विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यनर्थान्तरम् । विग्रहेण
कौटिल्येन गतिः विग्रहगतिः । तां सम्यगापन्नाः प्राप्ताः विग्रहगति-
समापन्नाः, तेषां विग्रहगतिसमापन्नानाम् । सर्वाणि शरीराणि यतः
प्ररोहन्ति तद्बीजभूतं कर्मणशरीरं कर्मणकाय इति भण्यते । बाङ्मनः काय-
वर्णानिमित्तः आत्मप्रदेशपरिरूपन्दो योगो भवति । कर्मणकायकृतो योगः
कर्मणकाययोगः । स विग्रहगतौ वक्रगतौ वर्तमानजीवानां भवति एतदुक्तम्,
गतेर्गत्यन्तरं व्रजतां प्राणिनां चतस्रो गतयो भवन्ति इषुगतिः पाणिमुक्ता लाङ्ग-
लिका गोमूत्रिका चेति । तत्राविग्रहा प्राथमिकी, शेषाः विग्रहवत्यः । ऋज्वी गति-
रिषुगतिरैकसमयिकी । यथा पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा
गतिः तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी । यथा लाङ्गलं
द्विषक्तं तथा द्विविग्रहा गतिलङ्गलिका त्रैसमयिकी । यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा
तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी । तत्र कर्मणकाययोगः स्या-
दिति । स्वस्थितप्रदेशादारभ्योऽर्धवांश्चस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां
पङ्क्तिः श्रेणिरित्युच्यते । तथैव जीवानां गमनं नोच्छ्रेणिरूपेण । ततस्त्रिविग्रहा
गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति ।

घातनं घातः स्थित्यनुभययोर्बिनाश इति यावत् । कथमनुक्रमनधिकृतं
आवगम्यत इति चेन्न, प्रकरणवशात्तदवगतेः । उपरि घातः उद्घातः, समीचीन
उद्घातः समुद्घातः । कथमस्य घातस्य समीचीनत्वमिति चेन्न, भूयः भूयः—
कालनिष्पद्यमानघातेभ्योऽग्नैकसमयिकस्य समीचीनत्वाविरोधात् । समुद्घातं
गताः समुद्घातगताः कथमेकस्मिन् गम्यगमकभावश्चेन्न, पर्यायपर्यायिणां कथं-

चिद् भेदविवक्षायां तद्विरोधात् । तेषां समुद्घातगतानां केवलिनां कामर्ण-
काययोगो भवेत् । शब्दः समुच्चयप्रतिपादकः ।

अथ स्यात्केवलिनां समुद्घातः सहेतुको निर्हेतुको वा ? न द्वितीय-
विकल्पः, सर्वेषां समुद्घातगमनपूर्वकं मुक्तिप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, लोक-
व्यापिनां केवलिनां विंशतिसंख्यावर्षपृथक्त्वानन्तरनियमानुपपत्तेः । न प्रथम-
पक्षोऽपि तद्धेतुत्वमुपलभ्यात् । न तावदघातिकर्मणां स्थित्यायुष्यस्थितेरसमानता
हेतुः क्षीणकषायचरमावस्थायां सर्वकर्मणां समानत्वाभावात् सर्वेषामपि
तत्प्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यतिवृषभोपदेशात्सर्वघातिकर्मणां क्षीणकषायचरम-
समये स्थितेः साम्याभावात्सर्वेऽपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निवृत्तिमुपढौकन्ते ।
येषामाचार्याणां लोकव्यापिकेवलिषु विंशतिसंख्यानियमस्तेषां मतेन केचित्स-
मुद्घातयन्ति, केचिन्न समुद्घातयन्ति ? के न समुद्घातयन्ति येषां
संस्मृतिरव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना, ते न समुद्घातयन्ति, शेषाः
समुद्घातयन्ति । अनिवृत्त्यादिपरिणामेषु समानेषु सत्सु किमिति
स्थित्योर्वैषम्यम् ? न, व्यक्तिस्थितिघातहेतुस्वनिवृत्त- परिणामेषु
समानेषु सत्सु संस्मृतेस्तत्समानत्वविरोधात् । संसारविच्छित्तेः किं कारणम् ?
द्वादशाङ्गावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्तपरिणामाश्च ।
न चैते सर्वेषु सम्भवन्ति दशनवपूर्वधारिणामपि क्षपकश्रेण्यारोहणदर्शनात् । न
तत्र संसारसमानकर्मस्थितयः समुद्घातेन विना स्थितिकाण्डकानि अन्तर्मुहूर्तेन
निपतनस्वभावानि पत्योपमस्यासंख्येयभागायतानि संख्येयावलिक्वायतानि च
निपातयन्तः आयुः समानि कर्माणि कुर्वन्ति । अपरे समुद्घातेन समानयन्ति ।
न चैष संसारघातः केवलिनि प्राक् सम्भवति स्थितिकाण्डघातवत्समानपरि-
णामत्वात् । परिणामातिशयाभावे पश्चादपि मा भूद्घात इति चेन्न, घात-
रागपरिणामेषु समानेषु सत्स्वन्येभ्योऽन्तर्मुहूर्तायुरपेक्ष्य आत्मनः समुत्पन्ने-
भ्यस्तद्घातोपपत्तेः अन्यैराचार्यैर्व्याख्यातमिममर्थं भणन्तः कथं न सूत्र-
प्रत्यनीकाः ? न, वर्षपृथक्त्वानन्तरसूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधात् ।

कामर्णकाययोग विग्रहगति को प्राप्त जीवों में तथा समुद्घातगत केवलियों में
होता है ।

विग्रह देह को कहा जाता है, उसके लिए जो गति होती है यह विग्रह गति ।

औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय से जीव अपने शरीर की रचना करने में समर्थ अनेक प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है, अतः संसारी जीव के द्वारा शरीर का ग्रहण किया जाता है, इसलिए विग्रह देह को कहा जाता है। ऐसे विग्रह अर्थात् शरीर के लिए जो गति होती है उसको विग्रहगति कहते हैं। अथवा, वि का अर्थ विरुद्ध और ग्रह का अर्थ घात करने से विग्रह का अर्थ व्याघात भी होता है, जिसका अर्थ होता है—पुद्गलों के ग्रहण करने का निरोध। इसलिए विग्रह अर्थात् पुद्गलों के ग्रहण करने के निरोध के साथ जो गति होती है उसको विग्रहगति कहते हैं। अथवा विग्रह, व्याघात और कौटिल्यये एकार्थवाची हैं, इसलिए विग्रह से अर्थात् कुटिलता (मोड़) के साथ जो गति होती है उसको विग्रहगति कहते हैं। इस विग्रहगति को पूर्ण रूपेण प्राप्त जीव विग्रहगति समापन्न कहलाते हैं। ऐसे विग्रहगति को प्राप्त जीवों में कर्मणकाययोग होता है। जिससे सम्पूर्ण शरीर उत्पन्न होते हैं उस बीजभूत कर्मणशरीर को कर्मणकाय कहते हैं। वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से जो आत्म प्रदेशों का परिस्पन्दन होता है उसको योग कहते हैं। कर्मणकाय से जो योग उत्पन्न होता है उसको कर्मणकाययोग कहते हैं। यह विग्रहगति अर्थात् वक्रगति में वर्तमान जीवों के होता है।

आगम में कहा गया है—एक गति से दूसरी गति में गमन करनेवाले जीव में चार प्रकार की गति होती है—इषुगति, पाणिमुक्ता गति, लांगलिका गति और गोमूत्रिका गति। इनमें से पहली गति विग्रहरहित होती है, शेष गतियाँ विग्रहसहित होती हैं। सरल अर्थात् धनुष से छूटे हुए बाण के समान मोड़ रहित गति को इषुगति कहते हैं। इस गति में एक समय लगता है। हाथ से तिरछे फेंके गये द्रव्य की एक मोड़वाली गति होती है, इसी प्रकार संसारी जीव की एक मोड़वाली गति को पाणिमुक्ता गति कहते हैं। इस गति में दो समय लगता है। जैसे हल में दो मोड़ होते हैं, उसी प्रकार दो मोड़वाली गति को लांगलिका गति कहते हैं। इस गति में तीन समय लगता है। जैसे गाय के चलते अनेक मोड़ होते हैं उसी प्रकार तीन मोड़वाली गति को गोमूत्रिका गति कहते हैं। इस गति में चार समय लगता है। इषुगति के अतिरिक्त शेष तीनों विग्रहगतियों में कर्मण काययोग होता है।

जो प्रदेश जहाँ पर स्थित है वहाँ से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रम से विद्यमान आकाश प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणी के द्वारा ही जीवों का गमन होता है, न कि श्रेणी को उल्लंघन करके; अतएव विग्रह गतिवाले जीव की त्रिविग्रहा अर्थात् तीन मोड़वाली गति विरोध को प्राप्त नहीं होती है, अर्थात् ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ पहुँचने के लिए जीव को चार मोड़ की आवश्यकता हो।

घात करना रूप धर्म को घात कहते हैं, जिसका प्रकृत में अर्थ होता है—कर्मों की स्थिति और अनुभाग का विनाश। यद्यपि अभी तक कर्मों की स्थिति और अनुभाग का कथन नहीं किया गया है और न उसका अधिकार ही है, तथापि कर्मों की स्थिति और अनुभाग की विवक्षा यहाँ पर प्रकरण वश जानी जाती है, क्योंकि केवली समुद्घात में वे विवक्षित रहते हैं।

उत्तरोत्तर होनेवाले घात को उद्घात कहते हैं तथा समीचीन उद्घात को समुद्घात कहते हैं। इस घात को समीचीन कहने का अभिप्राय यह है कि बहुत काल में सम्पन्न होनेवाले घातों से एक समय में सम्पन्न होनेवाले इस घात को समीचीन कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

यद्यपि यहाँ पर एक ही पदार्थ में गम्य-गमक भाव स्वीकार किया गया है, क्योंकि पर्यायी से पर्याय अभिन्न है ; फिर भी यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कथंचित् पर्याय और पर्यायी की भेद विवक्षा करनेपर गम्यगमक भाव बन जाता है, अतः कोई विरोध नहीं है। ऐसे समुद्घातगत केवलियों में कर्मण काययोग होता है। सूत्र में आया हुआ 'वा' शब्द समुच्चय अर्थ का प्रतिपादक है।

अब प्रश्न होता है—केवलियों का समुद्घात सहेतुक होता है या निहेतुक। दूसरा विकल्प अर्थात् 'निहेतुक होना' स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सभी केवलियों को समुद्घात के अनन्तर ही मोक्ष-गमन का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। यह भी कहना उचित नहीं है कि सभी केवली समुद्घातपूर्वक ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं, क्योंकि ऐसे मानने पर लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियों की वर्षष्टयवत्त्व के अनन्तर नियत (२०) संख्या नहीं बन सकती है। प्रथम पक्ष अर्थात् सहेतुक समुद्घात भी मान्य नहीं है, क्योंकि कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता है। यदि कहा जाय कि तीन अघाती कर्मों की असमानता ही समुद्घात का कारण है—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थान की चरमावस्था में सभी कर्म समान नहीं रहते हैं, अतः सभी केवलियों के समुद्घात का प्रसंग आ जायगा।

यद्यपि यतिवृषभाचार्य के मतानुसार क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में सभी अघाती कर्मों की स्थिति समान नहीं रहती है, अतः सभी केवली समुद्घात करके ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं, तथापि जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियों की बीस संख्या नियत है, उनके अनुसार कितने केवली समुद्घात करते हैं और कितने नहीं करते हैं।

वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं जिनकी संसार-व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति के समान है। शेष केवली समुद्घात करते हैं।

अनिवृत्ति आदि परिणामों के समान रहने पर भी संसार-व्यक्ति—स्थिति और कर्मों की स्थिति में विषमता का कारण यह है कि संसार-व्यक्ति और कर्म-स्थिति के घात के कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामों के समान रहनेपर संसार को उन तीन कर्म की स्थिति के समान मान लेने में विरोध आता है।

संसार-विच्छेद का कारण है—द्वादशांग का ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवली समुद्घात और अनिवृत्ति रूप परिणाम। परन्तु ये सब कारण सभी जीवों में संभव नहीं हैं,

क्योंकि दशपूर्वधर और नवपूर्वधर जीवों का भी क्षपकश्रेणी पर चढ़ना देखा जाता है, अतः वहाँ संसार-व्यक्ति के समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में नियम से नष्ट होनेवाले पत्योपम के असंख्यातवें भाग रूप अथवा संख्यात आवली रूप स्थिति काण्डकों का विनाश करते हुए कितने ही जीव बिना समुद्घात के ही आयु के समान शेष कर्मों को कर लेते हैं तथा कितने जीव समुद्घात के द्वारा करते हैं। यह संसार-घात पहले संभव नहीं है, क्योंकि पहले स्थिति-काण्डक के घात के समान सभी जीवों के समान परिणाम पाये जाते हैं।

जज कि परिणामों में कोई अतिशयता नहीं है तो पीछे भी संसार-घात नहीं हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वीतराग रूप परिणामों के समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुर्कर्म की अपेक्षा से आत्मा के उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामों से संसार-घात बन जाता है।

उपर्युक्त कथन का यद्यपि अन्य आचार्यों द्वारा व्याख्यान नहीं किया गया है तथापि इसको सूत्र-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वर्षपृथक्त्व के अन्तराल का प्रतिपादन करनेवाले सूत्र के वशवर्ती आचार्यों का ही पूर्वोक्त कथन से विरोध आता है।

९. विविध योग जीव में

कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइंदियप्प-
हुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति । —षट्० खं १। १। सू ६१। पु १ पृ० ३०५

टीका—काययोग एवेत्यवधारणाभावान्न वाङ्मनसोरभावः। एवं शेषाणामपि वाच्यमिति। एकेन्द्रियप्रभृत्यासयोगकेवलिनः औदारिक-मिश्र-काययोगिनः इति प्रतिपद्यमाने देशविरतादिक्षीणकषायान्तानामपि तदस्तित्वं प्राप्नुयादिति चेन्न, प्रभृतिशब्दोऽयं व्यवस्थायां प्रकारे च वर्तते। अत्र प्रभृति-शब्दः प्रकारे परिगृह्यते, यथा सिंहप्रभृतयो मृगा इति। ततो न तेषां ग्रहणम्। व्यवस्थावाचिनोऽपि ग्रहणे न दोषः 'ओरालिय-मिस्स-कायजोगो अपज्जत्ताण' ति बाधक सूत्र सम्भवाद्वा।

औधिक काययोग, विशेष रूप से औदारिक काययोग और औदारिकमिश्र काययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं।

काययोग ही होता है, इस प्रकार का अवधारण—निश्चय नहीं होने के कारण उपर्युक्त गुणस्थानों में वचनयोग और मनोयोग का अभाव नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्य योगों का भी कथन करना चाहिए।

यद्यपि सूत्र में एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक औदारिकमिश्र काय-योगी होते हैं—ऐसा कथन है, फिर भी देशविरत आदि क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थानों में औदारिकमिश्र काययोग का सद्भाव नहीं होगा, क्योंकि प्रभृति शब्द के दो अर्थ होते हैं—व्यवस्था और प्रकार। इनमें से यहाँ पर प्रभृति शब्द का 'प्रकार' अर्थ लिया गया है ; जैसे सिंह आदि मृग माने जाते हैं। अतएव औदारिकमिश्र काययोग में देशविरत आदि क्षीण-कषाय तक के गुणस्थानों का ग्रहण नहीं होता है। अथवा, व्यवस्थावाची भी प्रभृति शब्द का ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं आता है। अथवा, अग्रिम सूत्र 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताण' अर्थात् औदारिकमिश्र काययोग अपर्याप्तकों में होता है—इसके बाधक होने के कारण भी पूर्वोक्त दोष नहीं रहता है।

.१० आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो पक्कम्हि सेव पमत्तसंजद-ट्टाणे ।

—षट्० खं १।१। सू. ६३। पु १। पृ० ३०६

टीका—अप्रमादिनां संयतानां किमित्याहारकाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने निमित्ताभावात्। तदुत्थापने किं निमित्तमिति चेदाज्ञाकनिष्ठ-तायाः समुत्पन्नप्रमादः असंयमबहुलतोत्पन्नप्रमादश्च। न च प्रमादनिबन्धनो-ऽप्रमादिनि भवेदतिप्रसङ्गात्। अथवा स्वभाकोऽयं यदाहारकाययोगः प्रमादिना-मेवोपजायते, नाप्रमादिनामिति।

आहारक काययोग और आहारमिश्र काययोग एक प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही होते हैं।

अप्रमादी अर्थात् प्रमादरहित संयतों में आहारक काययोग नहीं होने का कारण है उसके निमित्त कारण का अभाव। आहारक काययोग के उत्पन्न कराने में निमित्त कारण है—आज्ञा-कनिष्ठता अर्थात् आप्तवचन में सन्देहजनित शिथिलता के द्वारा उत्पन्न हुआ प्रमाद तथा असंयम की बहुलता से उत्पन्न प्रमाद। जो कार्य प्रमाद के निमित्त से उत्पन्न होता है वह प्रमादरहित जीवों में नहीं हो सकता है। अथवा, यह स्वाभाविक है कि आहारक काययोग प्रमत्त गुणस्थान में ही होता है, प्रमादरहित जीवों में नहीं।

.११ वेडव्वियकायजोगो वेडव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाध असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।

—षट्० खं १।१। सू. ६२। पु १। पृ० ३०५

अत्र च शब्दः कर्तव्योऽन्यथा समुच्चयावगमानुपपत्तेरिति न, च-शब्द-मन्त्रेणापि समुच्चयार्थावगतेः यथा पृथिव्यस्तेजोवायुरित्यत्र। सम्यङ्मिथ्याह-ष्टेरपि वैक्रियकमिश्रकाययोगः प्राप्नुयादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात्। 'सम्मा-मिच्छाइट्ठि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता, वेडव्विय-मिस्स-कायजोगो अपज्जत्ताण'

इत्याभ्यां वा सूत्राभ्यामवसीयते यथा न सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकमिश्रकाय-
योगः समस्तीति ।

वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग सुंजी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक होते हैं ।

समुच्चय अर्थ का बोध कराने के लिए सूत्र में 'च' शब्द का रहना अपेक्षित है, फिर 'च' शब्द के अभाव में भी कदाचित् समुच्चय रूप अर्थ का बोध होता है, यथा—'पृथिव्यप्ते-
जोवायुवनस्पतयः स्थावराः' इस सूत्र में 'च' शब्द के अभाव में भी समुच्चय रूप अर्थ का बोध होता है ।

सूत्र के अनुसार सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में भी वैक्रियमिश्र काययोग होना चाहिए, किन्तु होता नहीं है, क्योंकि औदारिकमिश्र काययोग के प्रकरण में 'प्रभृति' शब्द की व्यवस्थावाची या प्रकारवाची माना गया है, अतः पूर्वोक्त दोष नहीं आता है । अथवा, 'सम्पामिच्छादृष्टिद्विष्टाणे णियमा पज्जत्ता', 'वेउव्वियमिस्स कायजोगो अपज्जत्ताणं'-अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में जीव नियम से पर्याप्त रहते हैं तथा वैक्रियमिश्र काययोग अपर्याप्तों में होता है—इन दोनों सूत्रों के आधार पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में वैक्रियमिश्र काययोग नहीं होता है ।

.१२ कम्मइयकायजोगो एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।

—पट्. १ । १ सू. ६४ पु १ । पृ० ३०७

टीका—देशविरतादिक्षीणकषायान्तानामपि कर्मणकाययोगस्यास्तित्वं प्राप्नोत्यस्मात्सूत्रादिति चेन्न, 'संजदासंजददृष्टाणे णियमा पज्जत्ता' इत्येतस्मात्सूत्रात्तत्र तदभावावगतेः । न च समुद्घातादृते पर्याप्तानां कर्मणकाययोगोऽस्ति । किमिति स तत्र नास्तीति चेद्विग्रहगतेरभावात् । देवविद्याधरादीनां पर्याप्तानामपि चक्रा गतिरुपलभ्यते चेन्न, पूर्वशरीरं परित्यज्योत्तरशरीरमादातुं ब्रजतो चक्रगतेर्विवक्षितत्वात् ।

कर्मण काययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है ।

यद्यपि सूत्र के अनुसार देशविरत गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक भी कर्मणकाययोग का सद्भाव प्राप्त होता है, परन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि सूत्र है—'संजदासंजददृष्टाणे णियमा पज्जत्ता' अर्थात् संयतासंयत गुणस्थान में जीव नियम से पर्याप्त होते हैं । (इस सूत्र में संयतासंयत शब्द उपलक्षण है, अतः पंचम गुणस्थान से ऊपर सभी गुणस्थानों का सूचक है ।) और, समुद्घात के अतिरिक्त पर्याप्त जीवों में कर्मण काययोग नहीं होता है ।

पर्याप्त जीवों में कर्मण काययोग नहीं होने का कारण यह है कि विग्रह गति का अभाव रहता है ।

देव और विद्याधर आदि पर्याप्त जीवों में वक्रगति नहीं पाई जाती है । क्योंकि पूर्व शरीर को छोड़कर आगे के शरीर को ग्रहण करने के लिए गमन करते हुए जीव के जो एक, दो या तीन मोड़णाली गति होती है उसी वक्रगति की यहाँ विवक्षा है ।

कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि ।

—षट्० खं १ । १ । सू ६६ । पु १ । पृ० ३१०

टीका—‘अपि’ शब्दः समुच्चयार्थे द्रष्टव्यः । कः समुच्चयः ? एकस्य निर्दिष्टप्रदेशद्विप्रभूतेरुपनिपातः समुच्चयः । द्विरस्ति-शब्दो-पादानभनर्थकमिति खेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । संक्षेपरुच्योनानुग्रहीताश्चेन्न, विस्तर-रुचिसत्त्वानुग्रहस्य संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहा-विनाभावित्वात् ।

काययोग पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों में होता है ।

सूत्र में जो ‘अपि’ शब्द आया है वह समुच्चयार्थक है । समुच्चय का अर्थ होता है—किसी एक वस्तु के निर्दिष्ट स्थान में दो आवि बार प्राप्त होना ।

सूत्र में ‘अस्ति’ शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है, किन्तु वह निरर्थक नहीं है, क्योंकि विस्तार से समझने की रुचि रखनेवाले शिष्यों के अनुग्रह के लिए सूत्र में दो बार अस्ति शब्द का प्रयोग हुआ है । इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संक्षेप से समझनेवाले शिष्यों को अनुग्रहीत नहीं किया गया है, क्योंकि संक्षेप से समझने की रुचि रखनेवाले जीवों का अनुग्रह विस्तार से समझने की रुचि रखनेवाले जीवों के अनुग्रह में अविनाभावी है । अर्थात् विस्तार से कथन हो जाने पर संक्षेप से समझनेवाले शिष्यों का कार्य स्वतः चल जाता है ।

.१३ ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं ।

—षट्० खं १ । १ । सू ७६ । पु १ । पृ० ३१५

टीका—षड्भिः पञ्चभिश्चतसृभिर्भा पर्याप्तिभिर्निष्पन्नाः परिनिष्ठिता-स्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च पर्याप्ताः । किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्तः उत साक-ह्येन निष्पन्न इति ? शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते । तत्रौदारिक-काययोगो निष्पन्नशरीरावष्टम्भवलेनोत्पन्नजीव-प्रदेशपरिस्पन्देन योगः औदा-रिककाययोगः । अपर्याप्तावस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगः । कार्मणौदारिक-स्कन्धनिबन्धनजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः औदारिकमिश्रकाययोग इति यावत् । पर्याप्तावस्थायां कर्मणशरीरस्य सत्त्वात्तत्राप्युभयनिबन्धनात्मप्रदेशपरिस्पन्द

इति औदारिकमिश्रकाययोगः किमु न स्यादिति चेन्न, तत्र तस्य सतोऽपि जीव-प्रदेशपरिस्पन्दस्याहेतुत्वात् । न पारम्पर्यकृतं तद्धेतुत्वं तस्यौपचारिकत्वात् । न तदप्यविवक्षितत्वात् । अथ स्यात्परिस्पन्दस्य बन्धहेतुत्वे संचरदभूणामपि कर्मबन्धः प्रसज्यतीति न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यास्त्वहेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । न आभ्रपरिस्पन्दः कर्मजनितो येन तद्धेतुतामास्कन्देत् ।

औदारिक काययोग पर्याप्तों में होता है तथा औदारिकमिश्र काययोग अपर्याप्तों में होता है ।

छः पर्याप्त, पाँच पर्याप्त या चार पर्याप्तियों से पूर्णता को प्राप्त मनुष्य और तिर्यंच को पर्याप्त कहा जाता है । अब प्रश्न होता है—क्या कोई जीव एक पर्याप्त से पूर्णता को प्राप्त कर पर्याप्त कहलाता है या सभी पर्याप्तियों से पूर्णता को प्राप्त कर पर्याप्त कहलाता है ? सभी जीव शरीर पर्याप्त के निष्पन्न होनेपर ही पर्याप्त कहलाते हैं ।

पर्याप्त को प्राप्त शरीर के आलम्बन द्वारा उत्पन्न हुए जीव-प्रदेश परिस्पन्दन से जो योग होता है उसको औदारिक काययोग कहते हैं ; और औदारिक शरीर की अपर्याप्ततावस्था में औदारिकमिश्र काययोग होता है । अभिप्राय यह है कि कर्मण और औदारिक शरीर के स्कन्धों के निमित्त से जीव-प्रदेशों में उत्पन्न हुए परिस्पन्दन से जो योग होता है उसको औदारिकमिश्र काययोग कहते हैं ।

यद्यपि पर्याप्त अवस्था में कर्मणशरीर का सद्भाव रहता है, अतः वहाँ पर भी कर्मण और औदारिक शरीर के स्कन्धों के निमित्त से आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन रूप की औदारिकमिश्र काययोग मानना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि पर्याप्त अवस्था में कर्मणशरीर विद्यमान तो रहता है, किन्तु वह जीव-प्रदेश के परिस्पन्दन का कारण नहीं रहता है । पर्याप्त अवस्था में कर्मणशरीर को परम्परा से जीव-प्रदेशों के परिस्पन्दन का कारण मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मणशरीर को परम्परा से निमित्त मानना औपचारिक है । उपचारवश ग्रहण कर लेना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपचारवश परम्परा रूप निमित्त ग्रहण करने की यहाँ पर विवक्षा नहीं है ।

यद्यपि परिस्पन्द को बन्ध का कारण माना गया है, किन्तु संचरण करते हुए मेघ के परिस्पन्दनशील होने के कारण उनमें भी कर्मबन्ध का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है, क्योंकि कर्मजनित चैतन्यपरिस्पन्द ही आश्रय का कारण है—ऐसा अर्थ यहाँ पर विवक्षित है । मेघों का परिस्पन्दन कर्मजनित नहीं होता है जिससे वह कर्मबन्ध के आश्रय का हेतु माना जा सके ।

.१४ वेडब्धिकायजोगो पज्जत्ताणं वेडब्धिमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं ।

— षट्. खं १ । १ सू. ७७ । पु १ पृ० ३१७

टीका—पर्याप्तावस्थायां वैक्रियकाययोगे सति तत्र शेषयोगाभावः स्यादिति चेन्न, तत्र वैक्रियकाययोग एवास्तीत्यवधारणाभावात् । अवधारणाभावेऽपर्याप्तावस्थायां शेषयोगानामपि सत्त्वमापतेदिति चेत्सत्यम्, कर्मणकाययोगस्य सत्त्वोपलम्भात् । न तद्वत्तत्र बाङ्मनसयोरपि सत्त्वमपर्याप्तानां तयोरभावस्योक्तत्वात् ।

वैक्रिय काययोग पर्याप्तों में होता है तथा वैक्रियमिध काययोग अपर्याप्तों में होता है ।

यद्यपि पर्याप्त अवस्था में वैक्रिय काययोग माना गया है, अतः वहाँ पर अन्य योग नहीं होते हैं—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वहाँ पर 'वैक्रिय काययोग ही होता है, ऐसा अवधारण अर्थात् निश्चय रूप से कथन नहीं किया गया है । यदि पर्याप्त अवस्था में कोई निश्चय नहीं है तो इसी आधार पर अपर्याप्त अवस्था में भी शेष योगों का सद्भाव माना जाय—यह कहना किसी अपेक्षा से ठीक नहीं है, क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में वैक्रियमिध के अतिरिक्त कर्मण काययोग का भी सद्भाव रहता है, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि कर्मण काययोग के समान ही अपर्याप्त अवस्था में यच्चनयोग और मनोयोग का सद्भाव रहता है, क्योंकि ये दोनों योग अपर्याप्त अवस्था में नहीं होते हैं ।

.१५ आहारकायजोगो पञ्जत्ताणं आहारमिहसकायजोगो अपञ्जत्ताणं ।

—षट्० खं० १ । १ । सू ७८ । पु १ । पृ० ३१७

टीका—आहारशरीरोत्थापकः पर्याप्तः संयतत्वान्यथानुपपत्तेः । तथा आहारमिधकाययोगोऽपर्याप्तकस्येति न घटामटेदिति चेन्न, अनवगतसूत्राभिप्रायत्वात् तद्यथा, भवत्वसौ पर्याप्तकः औदारिकशरीरगतषट्पर्याप्त्यपेक्षया, आहारशरीरगतपर्याप्तिनिष्पत्त्यभावापेक्षया त्वपर्याप्तकोऽसौ । पर्याप्तापर्याप्तत्वयोर्नैकत्राक्रमेण संभवो विरोधादिति चेन्न, पर्याप्तापर्याप्तयोगयोरक्रमेणैकत्र न सम्भवः इतीष्टत्वात् । कथं न पूर्वोऽभ्युपगमः इति विरोध इति चेन्न, भूतपूर्वगतन्यायापेक्षयाविरोधासिद्धेः । विनष्टौदारिकशरीरसम्बन्धषट्पर्याप्तेरपरिनिष्ठिताहारशरीरपर्याप्तेरपर्याप्तस्य कथं संयम इति चेन्न, संयमस्यास्त्रविरोधलक्षणस्य मन्दयोगेन सह विरोधासिद्धेः । विरोधेवा न केषलिनोऽपि समुद्घातगतस्य संयमः तत्राप्यपर्याप्तकयोगास्तित्वं प्रत्यविशेषात् । 'संजदासंजदद्वारेण नियमा पञ्जत्ता' इत्यनेनार्पेण सह कथं न विरोधः स्यादिति चेन्न, द्रव्यार्थिकनयापेक्षया प्रवृत्तसूत्रस्याभिप्रायेणाहारशरीरनिष्पत्त्यवस्थायामपि षट्पर्याप्तानां सत्त्वाविरोधात् । कर्मणकाययोगः पर्याप्तेष्वपर्याप्तेषु भयत्र वा भवतीति नोक्तम्, तन्नि-

श्चयः कुतो भवेत् ! 'कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुद्घाद-गदाणं' इत्येतस्मात्सूत्रादपर्याप्तिं ज्वेव कर्मणकाययोग इति निश्चीयते ।

आहारक काययोग पर्याप्तों में होता है और आहारकमिश्र काययोग अपर्याप्तों में होता है ।

यद्यपि आहारक शरीर का उत्थापन करनेवाला साधु पर्याप्त ही रहता है अन्यथा उसमें संयतत्व अर्थात् संयमपना नहीं बन सकता है; फिर भी 'आहारकमिश्र काययोग अपर्याप्त में होता है'—इस कथन में सन्देह उत्पन्न करना आगम के अभिप्राय को न समझना है । आगम का अभिप्राय है आहारक शरीर का उत्थापक औदारिक शरीरगत छः पर्याप्तों की अपेक्षा से पर्याप्त रहता है, किन्तु आहारक शरीरगत पर्याप्तों से पूर्ण होने की अपेक्षा वह अपर्याप्त रहता है ।

पर्याप्तत्व और अपर्याप्तत्व—ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म एक साथ एक जीव में रहना संभव नहीं है । यद्यपि एक साथ एक जीव पर्याप्त और अपर्याप्त सम्बन्धी योग नहीं रहता है यह तो इष्ट ही है, फिर भी पूर्वोक्त कथन अर्थात् पर्याप्तत्व और अपर्याप्तत्व का एक साथ एक जीव में रहना संभव नहीं है, भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा से विरुद्ध है । अर्थात् औदारिक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तत्व की अपेक्षा आहारकमिश्र अवस्था में पर्याप्तत्व का व्यवहार किया जा सकता है ।

जिसके औदारिक शरीर सम्बन्धी छः पर्याप्तियाँ नष्ट हो चुकी हैं तथा आहारक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तियाँ अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं—ऐसे अपर्याप्त साधु में संयम कैसे रह सकता है, यह भी नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि जिस (संयम) का लक्षण आश्रव का निरोध करना है उसका मन्दयोग (आहारकमिश्र) के साथ होने में कोई विरोध नहीं रहता है । यदि इस मन्दयोग के साथ संयम के रहने में विरोध माना ही जाय तो समुद्घात को प्राप्त केवली में भी संयम नहीं रह सकेगा, क्योंकि वहाँ पर भी अपर्याप्त सम्बन्धी योग का सद्भाव रहता है, अतः इसमें कोई विशेषता नहीं है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि 'संयतासंयत से लेकर सभी गुणस्थानों में जीव नियम से पर्याप्त होते हैं' इस आर्षवचन के साथ उपर्युक्त कथन का विरोध आ जाएगा; क्योंकि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से प्रवृत्त इस सूत्र के अभिप्राय से आहारक शरीर की अपर्याप्त अवस्था में भी औदारिक शरीर सम्बन्धी छः पर्याप्तियों के रहने में कोई विरोध नहीं रहता है ।

कर्मण काययोग पर्याप्त में, अपर्याप्त में अथवा दोनों में होता है, इसके निश्चय के लिए कहा गया है—'विग्रहगति' को प्राप्त अर्थात् एक शरीर को छोड़कर शरीरान्तर को प्राप्त करने के जाते हुए सभी जीवों में तथा समुद्घात को प्राप्त केवलियों में होता है—इस सूत्र के आधार पर सिद्ध होता है कि कर्मण काययोग अपर्याप्तकों में ही होता है ।

जीव समूहों में योग

१६.१ योग का स्वामित्व-त्रिसंयोगी

मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाद्विट्ठप्पहुडि जाव सजोगि-
केवलि त्ति ।

—षट्० खं० १।१।सू ६५।पु १।पृ० ३०८

चतुर्णां मनसां सामान्यं मनः तज्जनितवीर्येण परिरूपन्दलक्षणेन योगो मनोयोगः । चतुर्णां वचसां सामान्यं वचः, तज्जनितवीर्येणात्मप्रदेशपरिरूपन्दलक्षणेन योगो वाग्योगः । सप्तानां कायानां सामान्यं कायः, तेन जनितेन वीर्येण जीवप्रदेशपरिरूपन्दलक्षणेन योगः काययोगः । एते त्रयोऽपि योगाः क्षयोपशमापेक्षया त्र्यात्मकैकरूपमापन्नाः संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्य आसयोगकेवलिन इति क्रमेण सम्भवापेक्षयावा स्वामित्वमुक्तम् । काययोग एकेन्द्रियेष्वप्यस्तीति चेन्न, बाह्यमनोभ्यामविनाभाविनः काययोगस्य विवक्षितत्वात् । तथा वचसोऽप्यभिघातव्यम् ।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं ।

सत्यादि चार प्रकार के मन में जो अन्वय रूप से रहता है उसे सामान्य मन कहते हैं, उस मन से उत्पन्न हुए परिरूपन्दनरूप वीर्य के द्वारा जो योग होता है उसको मनोयोग कहते हैं । चार प्रकार के वचनों में जो अन्वयरूप से रहता है उसको सामान्य वचन कहते हैं, उस वचन से उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिरूपन्दन रूप वीर्य के द्वारा जो योग होता है उसको वचनयोग कहते हैं । सात प्रकार के कार्यों में जो अन्वयरूप से रहता है उसको सामान्यकाय कहते हैं, उस काय से उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिरूपन्दन रूप वीर्य के द्वारा जो योग होता है, उसको काययोग कहते हैं । ये योग तीन होते हुए भी क्षयोपशम की अपेक्षा एकात्मकता को प्राप्त कर संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं ।

काययोग एकेन्द्रिय जीवों के भी होता है, फिर वहाँ संज्ञी पंचेन्द्रिय से कथन करने का कारण यह है कि वचनयोग और मनोयोग से आविनाभाव रखनेवाले काययोग की विवक्षा है । इसी प्रकार वचनयोग का भी कथन करना चाहिए, क्योंकि वचनयोग द्वीन्द्रिय जीवों से होता है ।

जीव समूहों में योग

१७.१ द्विसंयोगी

वचिजोगो कायजोगो बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिदिया त्ति ।

—षट्० खं० १।१।सू ६६।पु १।पृ० ३०९

टीका—अत्र सामान्यवाक्याययोर्विवक्षितत्वात् द्वीन्द्रियादिर्भवत्यसंज्ञि-
नश्च पर्यवसानम् । विशेषे तु पुनरवलम्ब्यमाने तुरीयस्यैव वक्ष्यते सत्त्वमिति ।
तदाद्यन्तव्यवहारो न घटामटेत्, उपरिष्ठादपि वाक्यायोगौ विद्येते ततो
नासंज्ञिनः पर्यवसानमिति चेन्न, उपरि त्रयाणामपि सत्त्वात् । अस्तु चेन्न,
विरुद्धद्विसंयोगस्य त्रिसंयोगेन सह विरोधात् ।

वचनयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक होते हैं ।

यहाँ पर सामान्य वचन और काय योग की विवक्षा है अतः द्वीन्द्रिय से लेकर
असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक दोनों योग पाये जाते हैं । विशेष अवलम्बन करने पर द्वीन्द्रिय से
असंज्ञी तक वचनयोग के चौथे भेद (अनुभय वचन) का ही सद्भाव समझना चाहिए ।

उपर्युक्त दो योगों का द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सद्भाव बताया गया
है और इसमें आदि-अन्त का भी व्यवहार किया गया है, सो तो इससे आगे के जीवों में
भी वचनयोग और काययोग का सद्भाव रहता है; फिर यहाँ 'असंज्ञी पर्यन्त' कथन का
तात्पर्य यह है कि आगे के जीवों में तीनों योगों का सद्भाव अविनाभाव रूप से रहता है ।

यदि ऊपर के जीवों में तीनों योगों का सद्भाव रहता है तो रहे किन्तु इन दो
योगों के कथन न करने का अभिप्राय यह है कि द्विसंयोगी योग का त्रिसंयोगी योग के
साथ कथन करने में विरोध आता है ।

.१८ मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अरिथि, अपज्जत्ताणं णत्थि ।

. षट्० खं० १ । १ । सू ६८ । पु १ । पृ० ३१०

टीका—क्षयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयोः सत्त्वं न विरोधमार-
कन्देदिति चेन्न, वाङ्मनोभयामनिष्पन्नस्य तद्योगानुपपत्तेः । पर्याप्तानामपि विरुद्ध-
योगमध्यासितावस्थायां नास्त्यैवेति चेन्न, सम्भवापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपाद-
नात्, तच्छक्तिसत्त्वापेक्षया वा । सर्वत्र समुच्चयार्थावद्योतक-च-शब्दाभावेऽपि
समुच्चयार्थः पदैरेवावद्योत्यत इत्यवसेयः ।

मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तों में होते हैं तथा अपर्याप्तों में नहीं होते हैं ।

क्षयोपशम की अपेक्षा से अपर्याप्त काल में भी वचनयोग और मनोयोग का सद्भाव
रहना विरुद्ध नहीं माना जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि जो क्षयोपशम
वचनयोग और मनोयोग से उत्पन्न नहीं होता है उसको योग कहा नहीं जाता है । जिस
प्रकार अपर्याप्त अवस्था में मनोयोग और वचनयोग नहीं होते हैं उसी प्रकार पर्याप्त अवस्था
में भी किसी एक योग के रहने पर अन्य दो योगों का अभाव स्वीकार करना चाहिए,

किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पर्याप्त अवस्था में किसी एक योग के रहने पर शेष योग भी संभव है, इस अपेक्षा से वहाँ अन्य योगों का सद्भाव स्वीकार किया गया है; अथवा, उस अवस्था में उन योगों की शक्ति विद्यमान रहती है, इस अपेक्षा से सद्भाव माना गया है।

१६ एकयोगी

काययोगो एव दद्यात् ।

—षट्० खं० १। १ सू० ६७। पु० १। पृ० ३०६

टीका—एकेन्द्रियाणामेकः काययोग एव, द्वीन्द्रियादीनाम् संहिपर्यन्तानां एककाययोगो द्यावेव, शेषास्त्रियोगाः ।

एकेन्द्रिय जीवों में एक काययोग ही होता है। द्वीन्द्रिय से लेकर असंख्य पंचेन्द्रिय तक वचन और काय—ये दो योग होते हैं, शेष जीवों में तीनों ही योग होते हैं।

१७ विभिन्न जीव और योग स्थिति

१. सयोगी जीव की सयोगीत्व की अपेक्षा स्थिति

सजोगी णं भंते ! सजोगि त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! सजोगी बुद्धिहे पण्णत्ते । तंजहा—अणादीए वा अपज्जवसिए ? अणादीए वा सपज्जवसिए ।

मणजोगी णं भंते ! मणजोगि त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।

एवं वयजोगी वि ।

कायजोगी णं भंते ! कायजोगि त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फइकालो ।

अजोगी णं भंते ! अजोगि त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए ।

—पण्ण० प १८ । सू १३२१-२५ । पृ० ३०६

सयोगी के दो भेद है—अनादि अपर्यवसित, अनादि सपर्यवसित ।

मनोयोगी-वचनयोगी की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त की होती है।

काययोगी की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट अनंतकाल (वनस्पतिकाल) चित्तनी है ।

२. सयोगी जीव और स्थिति

मणजोगी णं भंते ! × × × जहण्णेण एक्कं समयं उक्कोसेण अंतोमुहुत्तं, एवं वहजोगीवि, कायजोगी × × × जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वणस्सत्ति-कालो, अजोगी सातीए अपज्जवसिए ।

—जीवा० प्रति ६ । ११४ से ११६ । पृ० ५०२

टीका--कायस्थितिचिन्तायां मनोयोगी जघन्यत एकं समयं, विशिष्ट-मनोयोग्यपुद्गलग्रहणापेक्षमेतत्सूत्रं, ततो द्वितीये समये मरणेनोपरमतो भाषक-वदेकसमयता प्रतिपत्तव्या, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तथा च जीवस्वभावात्तया नियमत उपरमात् भाषकवत्, मनोयोगरहितवाग्योगवानेष वाग्योगी द्वीन्द्रि-यादिः, जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, एतदपि सूत्रं विशिष्टवागद्रव्य-ग्रहणापेक्षमवसातव्यं, काययोगी वाग्योगमनोयोगविकल एकेन्द्रियादिः, जघन्य-तोऽन्तर्मुहूर्त्तं, द्वीन्द्रियादिभ्य उद्धृत्य पृथिव्यादिष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः कस्यापि द्वीन्द्रियादिषु गमनात्, उत्कर्षतः प्रागुक्तस्वरूपो वनस्पतिकालः, अयोगी सिद्धः, स च साद्यपर्यवसितः ।

मनोयोगी की स्थिति जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है ।

इसी प्रकार वचनयोगी की स्थिति जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है ।

काययोगी की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट वनस्पतिकाल प्रमाण अनन्त काल की होती है ।

मनोयोगी जघन्य एक समय विशिष्ट मनोयोग पुद्गल द्रव्य ग्रहण करता है । मनोयोगी मनोयोगी रूप के कम से कम एक समय तक रहता है और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक रहता है । इसके बाद वह भाषक की तरह नियमतः उस योग से उपरित हो जाता है । इसी तरह से वचनयोगी वचनयोगी रूप से कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त तक बना रहता है । बाद में वह भी उस योग से उपरित हो जाता है । वाग्योग द्वीन्द्रियादि के होता है । काययोग एकेन्द्रियादि को होता है ।

काययोगी का जो कायस्थिति काल जघन्य से एक अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है वह काययोगी एकेन्द्रियादि जीव द्वीन्द्रियादि से उद्धर्तना करके पृथ्वी आदि में एक अन्तर्मुहूर्त रहकर पुनः द्वीन्द्रियादि में चला जाता है इस अपेक्षा से कहा गया है ।

३. सयोगी की स्थिति

एवं सजोगी चेव अजोगी चेव (सजोगी दुविहे पम्मत्ते, अणादीए वा

अपज्जवसिए अणाइए वा सपज्जवसिए । अजोगी सादिए वा अपज्जवसिए
× × × ।) —जीवा० प्रति ६

सयोगी के दो भेद है—अनादि अपर्यवसित, अनादि सपर्यवसित ।

अयोगी सादि अपर्यवसित है ।

नोट—अभव्यसयोगी अनादि अपर्यवसित है । भव्य सयोगी अनादि सपर्यवसित है ।

५. सयोगी और अणाहारिक केवली

भवस्थकेवलिअणाहारए दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—सजोगिभवस्थ-
केवलिअणाहारए य अजोगिभवस्थकेवलिअणाहारएय । —जीवा० प्रति ६

भवस्थ केवली अणाहारिक के दो प्रकार है— यथा सयोगी भवस्थ केवली अणाहारिक
(तीन समय की स्थिति है तथा केवल कर्मण काययोग होता है) तथा अयोगी भवस्थ
केवली अणाहारिक ।

सयोगी भवस्थ केवली अणाहारिक की स्थिति

अयोगी भवस्थ केवली अणाहारिक की स्थिति

सजोगिभवस्थकेवलिअणाहारएणं भंते ! × × × काजओ केवखिरं होइ ?

अजहणमणुक्कोसेणं तिणिण समया ।

अजोगिभवस्थकेवलिअणाहारए जहणणेणं अंतोमुहूतं उक्कोसेणवि
अंतोमुहूतं । —जीवा० प्रति ६।४७,४८

अणाहारिक सयोगी भवस्थ केवली की स्थिति जघन्य तथा उत्कृष्ट तीन समय
की है ।

अणाहारिक अयोगी भवस्थ केवली की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट भी
अन्तर्मुहूर्त की है ।

५. लेश्या और योग का तादात्म्य

(लेश्या परिणाम) अयं च योग परिणामे सति भवति, यस्यान्निरुद्धयो-
गस्य लेश्यापरिणामोऽपैति, यतः समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमलेश्यस्य भवति । ति
लेश्यापरिणामानन्तरं योग परिणाम उक्तः । —ठाण० स्था ६ । सू १८ । टीका

योगपरिणाम के होने पर ही लेश्यापरिणाम होता है । योगनिरोध के समव लेश्या-
परिणाम नहीं होता है क्योंकि समुच्छिन्न-क्रिय-ध्यान में लेश्या नहीं होती । लेश्यापरिणाम
के बाद योगपरिणाम होता है ।

६ सयोगी और संवर की स्थिति

जस्स जदा खलु पुणं जोगे पावं च णस्थि विरदस्स ।

संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥

—पंच० गा १४३ । पृ० २०७

टीका—यस्य योगिनो विरतस्य सर्वतो निवृत्तस्य योगे चाङ्गमनः काय-
कर्माणि शुभपरिणामरूपं पुण्यमशुभपरिणामरूपं पापञ्च यदा न भवति तस्य तदा
शुभाशुभभावकृतस्य द्रव्यकर्मणः संवरः स्वकारणभावात्प्रसिद्ध्यति । तदत्र
शुभाशुभपरिणामनिरोधो भावपुण्यपापसंवरो द्रव्यपुण्यपापसंवरस्य हेतुः प्रधान-
नोऽवधारणीयः ।

जो योगी (साधक) सब प्रकार के कर्मों से निवृत्त हो जाता है, ऐसे योगी के
जब वाक्, मन और काय के व्यापार द्वारा शुभ परिणाम रूप पुण्य तथा अशुभ परिणाम रूप
पाप का बन्ध नहीं होता है तब उसके शुभाशुभ भाव के द्वारा किये हुए द्रव्यकर्म का संवर
होता है अर्थात् कर्मों का आगमन रुक जाता है । यह स्व-कारणभाव रूप से प्रसिद्धि पाता
है । यहाँ पर शुभशुभ परिणाम निरोध रूप भावपुण्य-पाप संवर (मानसिक भाव) द्रव्य-
पाप-पुण्य संवर का प्रधान हेतु है—ऐसा मानना चाहिए ।

नोट—पूर्ण रूप के आश्रव का निरोध चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होता है ।
पाँच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है उतनी इस गुणस्थान की स्थिति है ।

६ वर्धमान महावीर और परिनिर्वाण के पूर्व योग निरोध

कम-तिजोय-सुणिदोह्ण अणिद्वड ।

किरिया-छिण्णइ ज्ञाणि परिद्विड ॥

—वीरजि० संघि ३।कड १

भगवान् ने परिनिर्वाण के पूर्व—मन, वचन, काय इन तीनों योगों का सम्यग्
प्रकार निरोध करके छिन्न क्रिया-निवृत्ति नामक ध्यान धारण किया । अतः योग के
विनाभी ध्यान हो सकता है ।

नोट—अयोगी अवस्था की स्थिति पाँच ह्रस्वाक्षर मान होती है । अ-इ-उ-ऋ-लृ ।
इनके उच्चारण में जितना समय लगता है उतनी स्थिति होती है ।

७ प्रथमानुगम की अपेक्षा कृति

०१ पंचमनोयोगी

०२ पंचवचनयोगी

०३ काययोगी

०४ वैक्रिय काय योगी

०५ आहारक काययोगी

× × × पंचमणजोगी - पंचवच्चजोगि - कायजोगि - वेडव्विकायजोगि
× × × वत्तव्वमेदेसिमुवक्कमणंत (दंसणादो) (जहा नेरइया) ।

गेरइया पढमसमए सियाकदी × × × । सिया णो कदी × × × ।
सिया अवत्तव्वकदी । × × × अपढमा कदी च एव । × × × ।

— षट्० खं० ४ । १ । सू ६६ । टीका । पु ६ । पृ० २७८

पंचमनयोगी, पंचवचनयोगी, काययोगी, वैक्रिययोगी जीव प्रथम समय में कथंचित् कृति संख्यक, कथंचित् नोकृति संख्यक, अथवा अवक्तव्य कृति संख्यक होते हैं । लेकिन अप्रथम समय में केवल कृति संख्यक ही होते हैं ।

८ संख्यानुगम में क्षेत्रानुगम की अपेक्षा योगी जीवों की क्षेत्र-स्थिति

खेत्तानुमेण × × × पंचमणजोगी-पंचवच्चजोगी वेडव्वियदुग-आहारक-
दुग × × × लोगस्स असंखेज्जदिभागत्तणेण भेदाभावदो । × × × । काय-
जोगि (कदि-णोकदि-अवत्तव्व-संचिदा केवडिखेत्ते ? सव्वलोगे । कुदो ? आणं-
तियादो) आणंतियं पडि भेदाभावादो । × × × ओरालिय कायजोगि—ओरा-
लियमिस्स कायजोगि—कम्मइकायजोगि (सव्वलोए) भेदाभावादो । × × ×
खेत्तानुगमो समत्तो ।

—षट्० खं० ४ । १ । सू ६६ । पु ६ । पृ० २८५।७

क्षेत्रानुगम की अपेक्षा पाँच मनोयोगी तथा पाँच वचनयोगी वैक्रियद्विग तथा आहारकद्विग जीवों में कृति, नोकृति तथा अवक्तव्य संचित जीव लोग के असंख्यातवें भाग में रहते हैं । काययोगी जीव सर्वलोक में रहते हैं । क्योंकि ये अनन्त हैं । औदारिक काययोगी, औदारिकमिभ काययोगी, कामर्णकाययोगी सर्व लोक में रहते हैं ।

९ स्पर्शानुगम से संबन्धित योगी जीवों का स्पृष्ट क्षेत्र

पोसणाणुगमेण × × × कायजोगि (सव्वलोगो फोसिदं) । × × ×
आहारकदुग (लोगस्स असंखेज्जदिभागो) । × × × पंचमणजोगि-पंचवच्च-
जोगिसु तिण्णिपदेहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो
अट्ठोइसभागा देसूणा सव्वलोगो । कुदो ? मुक्कमारंणतियस्स चि मण-वच्चि-
जोगसंभवादो । ओरालिय कायजोगि-ओरालियमिस्स-कायजोगि-कम्मइकाय-

जोगिणं खेतभंगो । वेडव्वियकायजोगिसु तिण्णिपदेहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं ?
लोगस्स असंखेज्जदिभागो अट्ठ-तेरह सोहसभागा देसूणा । वेडव्वियमिस्सकाय-
जोगीणं खेत्तभंगो । × × × ।

— षट्.० खण्ड ४ । १ । सू. ६६ । पु. ६ । पृ. ६ २८७।६०

तीनों पद संचित काययोगी जीव सर्व लोक को स्पृष्ट करके हैं । आहारक द्विज जीव लोक के असंख्यात भाग को स्पृष्ट करते हैं । पाँच मनोयोगी तथा पाँच वचनयोगी जीव लोक का असंख्यात भाग अथवा कुछ कम आठ बटे चौदह भाग लोक अथवा सर्वलोक स्पृष्ट हैं । इसका कारण मुक्त मारणन्तिक के भी मनोयोग-वचनयोग की सम्भावना है । औदारिककाययोगी, औदारिकमिश्र काययोगी तथा कर्मण काययोगी जीव सर्व लोक से स्पृष्ट हैं । वैक्रियकाययोग लोक का असंख्यात वा भाग अथवा कुछ कम आठ व तेरह बटे चौदह भाग स्पृष्ट हैं । वैक्रियमिश्र काययोगी लोक के असंख्यातवा भाग स्पृष्ट करके हैं ।

.१० अयोगी जीव अनाहारक होते हैं ।

केवलि समुहय विग्गह-गइ-गेय ।

अरुह अजोइ सिद्ध परमप्पय ॥

ते ण लेति आहारु वियारिय ।

सेस जीव जाणहि आहारिय ॥

— वीरच० संधि १२ । कड ४

जो जीव केवलि समुद्धात कर रहे हैं (आठ समायों में तीसरा, चौथा, पाँचवाँ समय अनाहारक), विग्रहगति में तथा जो अरहत अयोगी व सिद्ध परमात्मा हो चुके हैं । वे आहार नहीं लेते, अतः वे अनाहारक हैं ।

.११ सिद्ध-योग व लेश्या रहित होते हैं ।

णउ बाल णउ वुद्ध, णउ मुक्ख सुवियद्ध । × × × । णिव्वेय
णिज्जोय × × × । णिव्वेस णिद्वेस × × × ।

— वीरजि० संधि १२ । कड ८

वे सिद्ध जीव न बालक होते हैं, न वृद्ध, न मूर्ख और न चतुर । न मन, वचन, कायरूप योगों का भेद है, न द्वेष है, न लेश्या है ।

.१२ विशेष जीवों में

.१ कलई आदि धनस्पति काय में

कजाय-मसूर-तिज-मुग्ग-मास-निप्फाय-कुलत्थ-आजिसदंग-सडिण-पजि-

पंथगाणं × × × एवं मूलादीया दस-उद्देसगाभाणियब्बा जहेव सात्तीणं निरव-
सेसं तहेव । —भग० श २१ । व ३ । उ १ से १० । प्र १

कलह, मसूर, तिल, मूंग, अरहर, वाल, कुलत्थी, आलिसंदक, सटिन, पालिपंथक, वनस्पति के मूल, कन्द, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र में तथा पत्र-पुष्प-फल बीज आदि वनस्पति काय के जीव मनोयोगी वचनयोगी नहीं होते हैं काययोगी होते हैं ।

.२ अलसी आदि वनस्पति-काय में

अह भंते ! अवसि-कुसंभ-कोद्व-कंगु-दालग, तुषरी-कोदुसा-सण-सरि-
सवमूलग बीयाणं × × × एवं एत्थवि मूलादीया दस उद्देसगा जहेव सात्तीणं
निरवसेसं तहेव भाणियब्बं । —भग० श २१ । व ३ । उ १ से १० । प्र १

अलसी, कुसम्भ कोद्व, कांग, दाल, कुवेर, कोदुआ, सण, सरिसव, मूलक बीज वनस्पति के मूल, कन्द-स्कंध-त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र के जीव काययोगी होते हैं ।

.३ बांस आदि वनस्पति काय में

अह भंते ! बंस-वेणु-कणग-कक्काबंस-चारुवंस-दण्डा-कुडा-विमाषण्डा-
वेणुया कल्लाणीणं × × × । एवं एत्थवि मूलादीया दस उद्देसगा जहेव
सात्तीण × × × । —भग० श २१ । व ४

बांसवेणु, कनक, ककविंश, चारुवंश, दण्डा, कुडा, विद्या, चण्डा, वेणुका, कल्याणी, इनके मूल यावत् बीज के जीव काययोगी होते हैं ।

.४ इक्षु वनस्पति-काय में

अह भंते ! उक्खु-इक्खु-वाडिया, वीरणा, इक्कड-भमास-सुंठि-सत्त-वेत्त,
तिमिर-सयपोरग नत्ताणं × × × एवं जहेव वंसवाणे तहेव, एत्थावि मूलादीया
दस उद्देसगा । —भग० श २१ । व ५

इक्षु, इक्षुवाटिका, वीरण, इक्कडभमास-सूठ-शर-वेत्त, तिमिर सयपोरग, नल में काययोग होता है ।

.५ सेडिय आदि तृण विशेष वनस्पति काय में

अह भंते ! सेडिय-भंतिय-दम्भ-कोतिय-दम्भकुस-पव्वग-पादेइल-अञ्जुण-
आसाढग-रोहिय-समु-अक्खीर-भुस एरंड-कुरुकंद-करकर-सुंठ-विभंगु - मडुरयण
शुरग-सिप्पिष-संकुजितणाणं × × × एवं एत्थवि दस उद्देसगा निरवसेसं
जहेव वंसवग्गो । —भग० श २१ । व ६

सेडिय, भंतिय (भंडिय) दर्भ, कोतिय, दर्भकुशपर्वक, पोइदेल (पोइदइल) अर्जुन (अंजन) आषाढक, रोहितक, समु, तवखीर, भुस, एरण्ड, कुरुकंद, करकद, सूंठ, विभंग मधुरयण (मधुवयण), थुरग, शिल्पिक, सकूलितृण—इनके मूल यावत् बीज में काययोग होता है ।

६ अभ्ररुह आदि वनस्पति-काय में

अह भंते ! अभ्ररुह-वायण-हरितक-तंदु-लेज्जग-तण-वत्थुल-पोरग मज्जार-वार्द-बिल्ली पाल्लक-दगपिप्पलिय-दग्धि-सोत्थिय-सायमंडुकि - मूलग - सरिसव-अंबित साग जियंतगाणं × × × । एवं एत्थ वि दस उद्देसगा जहेव वंसवग्गो ।

—भग० श २१ । व ७

अभ्ररुह, वायण, हरितक, तांदलजी, तृण, वत्थुल, पोरक, मार्जादिक, विल्लि, (चिल्ली) पालक, दगपिप्पली, दग्धि (दर्वी) स्वस्तिक, शाकमंडुकी, मूलक, सरसव, अंबिलशांक, जियंतग—इनके मूल यावत् बीज काययोगी होते हैं ।

७ तुलसी आदि वनस्पति-काय में

अह भंते ! तुलसी-कण्ह-दराल-फणेज्जा-अज्जा-चूतणा-चोरा-जीरा-दमणा-मरुया-ईदीवर-सयपुप्फाण × × × । एत्थवि दस उद्देसगा निरवसेसं जहा वंसाणं ।

—भग० श २१ । व ८

तुसली, कृष्ण, दराल, फणेज्जा, अज्जा, चूतणा, चोरा, जीरा, दमणा, मरुया, ईदीवर, शतपुष्प—इनके मूल यावत् बीज काययोगी होते हैं ।

८ ताल-तमाल आदि वनस्पति काय में

अह भंते ! ताल-तमाल-तकजि-तेतजि-साल-सरला-सारगह्णाणं जाव केयतिकदली-कंदलि-अम्मरुक्ख-गुंतुरुक्ख - हिंगुरुक्ख - लवंगरुक्ख - पूयफल-खज्जूरि-नाल एदीणं-मूले-कन्दे-खंधेतयाए सालेय एएसु पंपसु उद्देसगेसु देवो न उववज्जइ । × × × । पवाले पत्ते पुप्फे फले वीए × × × ।

—भग० श २२ । व १

ताड, तमाल, तकलि-तेतलि-साल-देवदार, सारागाल यावत् केतकी, केला, कंदली, चर्मवृक्ष, गुंदवृक्ष, हिंगुवृक्ष, लवंगवृक्ष, सुपारीवृक्ष, खजूर, नारिकेल—इनके मूल, कंद (स्तंभ), रवचा (छाल) शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज काययोगी होते हैं ।

.९ लीमड़ा, आम्र आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! निबंबजंबुकोसंबताजअंकोलपीलुसेलुसल्ल मोयइमालुय-
बडलपलास करंज पुत्तजीवगरिट्ठ वहेड गइरियग भल्लाय उंबरियखीरणि धायइ
पियाल पुइयणिषाय गरनेण्हयपासिय सीसवअयसि पुण्णायगनागरुक्खसी
वण्णअसोगाणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एवं मूलादीया दस उद्दे-
सगा कायव्वा निरवसेसं जहा तालवग्गो । —भग श २२ । व २

निम्ब, आम्र, जांबू, कोशंब, ताल, अंकोल्ल, पीलु, सेलु, सल्लकी, मोचकी, मालुक,
बकुल, पलाश, करंज, पुत्रजीवक, अरिष्ट, बड़ेदा, हरड़, भिलाया, उंबेरिकी, क्षीरिणी,
घावड़ा, प्रियाल, पुतिनिम्ब, सेण्हय, पासिय, सीसम, अतसी, नागकेसर, नागवृक्ष, श्रीपर्णी,
अशोक—इनके मूल, कंद, स्कंध, त्वचा शाखा के, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीजमें काययोग
होता है ।

.१० अगस्तिक आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! अत्थि यातिंदुय बोरकविट्ठअंबाड गमाडलिंगबिल्लभामलग
फणसदाडिम आसत्थ उंबरवडणग्गोहनंदिरुक्खपिप्पली सतरपिलक्खुरुक्ख
काडंबरिय कच्छुंभरिय देवदालि तिलगलउय छत्तोसिरीस सत्त वण्णदहिक्खणं
लोद्धधवचंदण अज्जुण णीवकुडुग कप्पदाणं एएसिणं जे जीवा मूलत्ताए वक्क-
मंति तेणं भंते ! एव एत्थवि मूलादीया दस उद्देसगा सालवग्गसरिसा णेयव्वा
जावं बीयं । —भग० २ २२ । व २

अगस्तिक, तिंदुक, बोर, कोठी, अम्बाडग, बीजोर, बिल्व, आमलक, पनस,
दाडिम, अश्वत्थ (पीपल), उंबर, वड, न्योग्रोध, नन्दिवृक्ष, पीपर, सतर, प्लक्षवृक्ष,
काकोदुम्बरी, कस्तुम्भरि, देवदालि, तिलक, लकुच, छत्रोध, शिरिष, सप्तवर्ण, दधिपण,
लोधक, धव, चन्दन, अर्जुन, नीव, कुटज, कदम्ब—इनके मूल, कन्द; स्कंध, त्वचा, शाखा
में, प्रवाल पत्र, पुष्प, फल, बीज काययोगी होते हैं ।

.११ बेंगन आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! वाइंगणिअल्लइ पोंडइ एवं जहापणवणाए गाहाणुसारेणं
णेयव्वं जाव गंजपाड लावासि अंकोल्लाणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति
एवं एत्थवि मूलादीया दस उद्देसगा तालवग्गसरिसा णेयव्वा जाव बीयंति
निरवसेसं जहा वंसवग्गो । —भग० श २२ । व ४

बेंगन, अल्लइ, (सल्लइ) पोंडइ, [थुंडकी, कच्छुरी जासुमणा, रूपी आदकी, नीली,

तुलसी, मातुलिंगी, कस्तुंभरी पिप्पलिका, अलसी, वल्ली, काकमाची, बुच्चु पिटोल कंदली, विउवा, वत्थुल, बदर, पत्तसर, सीयसर, जवसय, निगुंडी, कस्तुवादि, अत्यई, तलउडा, शण, पाण, कासमर्द, अरुषाडग, श्यामा, 'सिन्दुवार, करमर्द, अदुरुसग, कटीर, ऐरावण, महित्य, जाउलग, भालग, परिली, गजमारिणी, कुव्वकारिया, भंडी, जीवन्ती, केतकी] गंज, पाटला, वासी अंकोल—इनके मूल यावत् बीज में काययोग होता है ।

.१२ सिरियक आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! सिरियकाण वनालिय कोरंटगबंधु जीवगमणोज्जा जहा पणवणाए पढमपए गाहाणुवसारेणं जाव नलनीय कुंदमहाजाईणं एएसिणं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एष एत्थवि मूलादीया दस उद्देसगा निरवसेसं जहा सालीणं ।

—भग० श २२ । व ५

सिरियक, नवमालिका, कारंटक, बंधुजीवक, मणोज्जा (पिइय, पाण, कणेर, कुञ्जय, सिंदुवार, जाती, मोगरोध यूथिका, मल्लिका वासन्ती, वत्थुल, कत्थुल, सेवाल, ग्रन्थी, मृगदंतिका चंपक जाति), नवणीइया, कुंद, महाजाति—इनके मूल यावत् बीज काययोगी होते हैं ।

.१३ पूसफलिका आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! पूसफलिकाकालिंगी तुंबीतउसीएला वालुंकी एष पर्याणि छिंदियव्वाणि पणवणा गाहाणुसारेण जहा तालवग्गे जाव दधि फोल्लइका-कलिसोक्कल्लिअक्कोदीणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एवं मूलादीया दस उद्देसगा कायव्वा जहा तालवग्गे णवरं फल उद्देसे ओगाहणाए जहण्णेणं अगुलस्सं असंखेज्जभागं उक्कोसेणं धणुपुहुत्तं, ठिई सव्वत्थ जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वासपुहुत्तं सेसं तं चेव ।

—भग० श २२ । व ७

पूसफलिका, कालिंगी, तुंबडी, त्रपुवी, एलवालुकी, घोषातकी, पंडोला, पंचागुलिका, नीली, कण्डूइया, कडुइगा, कंकोडी, कादेली, सुयवा, कुयधाय, वागुलीया, पावगाल्ली, देवदाली, अप्पोया, अतिमुक्त, नागलता, कृष्णा, सूरवलकी, संघहा, सुमण्या, जासुवण, कुंविंदवल्ली, सुद्धिया, द्राक्षनावेला, अंबावल्ली क्षीदविदारिका, जयन्ती, गोपाली, पाणी, मायावल्ली, गुंजावल्ली, वच्छाणी, शशविंदु, गोत्तफुसिया, गिरिकर्णिका संसकी, अंजनकी, दधिपुष्पिका, काकली, सोकली, अर्कवोदी; इनके मूल यावत् बीज में काययोग होता है ।

नोट—अंक '५५' से '५५' १३ तक वर्णित वनस्पतियाँ प्रत्येक वनस्पतिकाय है ।

उनमें केवल काययोग होता है ।

.१४ आलुक आदि साधारण वनस्पति काय में

अह भंते ! आलुय मूलगर्सिग बरेहालिइरुक्खकंडरिय जास च्छीर

बिरालिकिट्टि कंडुकण्ह कउडसुमहुपयलइ महुसिंगिणिसहारप्पसुगंधछिण्ण रुहा
बीयरुह हाणं एएसिं णं जे जीवा मूलत्ताए षक्कमंति एवं मूलदीया दस
उद्देसगा कायव्वा वंसवग्गसरिसा ।
—भग० श २३ । व १

बालुक, मूल, आडु, हलदी, सस, कण्डरिक, जीरु, क्षीरविराली, किट्टी, कुन्दु, कृष्ण,
कडसु, मधु, पयलइ, मधुसिंगी, निरुहा, सर्पसुगंधा, छिन्नरुहा, बीजरुहा इनके मूल यावत्
बीज में काययोगी होते हैं ।

.१५ लोही आदि वनस्पति काय में

अह भंते ! लोही णीहू थोहू थिभगा अस्सकण्णी सीहकण्णी सीउंढी
मुसंढीणं एएसिं णं जे जीवा मूलत्ताए षक्कमंति एवं एत्थवि दस उद्देसगा
जहेव आलुयवग्गा ।
—भग० श २३ । व १

लोही, नीहू, थोहू, थिभगा, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, सीउद्धी, मुसुंढी, इनके मूल
यावत् बीज के जीव काययोगी होते हैं ।

.१६ आय आदि वनस्पति काय में

अह भंते ! आय काय कहुणा कुंदुरुक्कउव्वेहलिय सफासज्जाछत्तावंसा-
णिय कुमारणं एएसिं णं जे जीवा मूलत्ताए एवं एत्थवि मूलादीया दस
उद्देसगा निरवसेसं जहा आलुवग्गो ।
—भग० श २३ । व ३

आय, काय, कुहुणा, कुन्दुरुक्क, उव्वेहलिय, सफा, सेज्जा, छत्रा, वंशानिका, कुमारी
इनके मूल यावत् बीज काययोगी होते हैं ।

.१५.१७ पाठा आदि वनस्पति काय में

अह भंते ! पाठामिय वालुंकिमहुररसा रासवल्लिय उमामोढरिदंति
चंडीणं एएसिं णं जे जीवा मूल एवं एत्थवि मूलादीया दस उद्देसगा आलुय-
वग्गसरिसा ।
—भग० श २३ । व ४

पाठा, मृगवालुंकी, मधुररसा, राजवल्ली, पद्मा, मोढकी, दंती, चंदी इनके मूल यावत्
बीज में काययोगी होते हैं ।

.१८ अह भंते ! मासवण्णी मुग्गपण्णी जीवगसरिसवकरेणुय काओलिखीरका-
कोलि भंगिणहिंकिमिरासि भइमुच्छणंगलइ पओय किंणापउलपाढेहरेणुया
लोहीणं एएसिं णं जे जीवा मूल० एवं एत्थवि दस उद्देसगा निरवसेसं
आलुयवग्गसरिसा ।
—भग० श २३ । व ५

मासवर्णी, सुदगपर्णी, जीवक, सरसव, करेणुक, काकोली, क्षीरकाकोली, भंगी, णही, कुमिराशि, भद्रसुस्ता, लांगली, पउय, किण्णापउलय, पाढ, रेणुका, लोही इनके मूल यावत् बीज में काययोगी होते हैं ।

एवं एत्थ पञ्चसुवि चग्गेसु पन्नास उद्देसगा भाणियव्वा सव्वत्थ
× × × । — भग० श २३ । व ६ से १०

उपरोक्त (१५.१४ से १५.१८ तक) साधारण वनस्पतिकाय काययोगी होते हैं, मनोयोगी तथा वचनयोगी होते हैं ।

.१९ पृथ्वीकाय में

.१ सूक्ष्म पृथ्वीकाय में

(सुहुम पुढविकाइया) तेणं भंते ! जीवा किं मणजोगी, वहजोगी कायजोगी ? गोयमा ! नो मणजोगी, नो वहजोगी, कायजोगी ?

—जीवा० प्रति १ । २ । सूत्र ३१

सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव मनोयोगी वचनयोगी नहीं होते हैं, काययोगी होते हैं ।

.२ बादर पृथ्वीकाय में

(बादर पुढविकाइया) अवसेसं जहा सुहुमपुढवि काइयाणं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ५६

बादर पृथ्वीकाय के जीव काययोगी होते हैं, मनोयोगी तथा वचनयोगी नहीं होते हैं ।

.२० अप्काय में

.१ सूक्ष्मअप्काय में

(सुहुम आउकाइयाणं) जहेव सुहुम पुढविकाइयाणं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ६४

सूक्ष्म अप्काय जीव कायजोगी होते हैं, मनोयोगी व वचनयोगी नहीं होते हैं ।

.२ बादर अप्काय में

(बादर आउकाइयाणं) जहा बादर पुढविकाइयाणं

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ६५

बादर अप्काय के जीव काययोगी होते हैं, मनोयोगी व वचनयोगी नहीं होते हैं ।

.२१ वनस्पतिकाय में

.१ सूक्ष्म वनस्पतिकाय में

(सुहुम वणस्सइकाइया) अवसेसं जहा पुढविकाइयाणं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ६७

सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव काययोगी होते हैं ।

.२ बादर वनस्पतिकाय में

(बादर वणस्सइकाइया) तहेव जाव बादर पुढविकाइयाणं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ७४

बादर वनस्पतिकाय के जीव काययोगी होते हैं ।

.२२ तेउकाय में

.१ (सुहुम तेउकाइया) जहा सुहुम पुढविकाइयाणं

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ७७

.२ (बादर तेउकाइया) सेसं तं चेव ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ७८

सूक्ष्म तेउकायके जीव काययोगी होते हैं ।

बादर तेउकायके जीव काययोगी होते हैं ।

.२३ वायुकाय में

.१ (सुहुम वाउकाइया) जहा तेउकाइया ।

.२ (बादर वाउकाइया) सेसं तं चेव (सुहुम वाउकाइया)

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ८०, ८२

सूक्ष्म वायुकाय के जीव काययोगी होते हैं ।

बादर वायुकाय के जीव काययोगी होते हैं ।

.२४ द्वीन्द्रिय में

(वेइंदिया) नो मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ८७

द्वीन्द्रिय के जीव मनयोगी नहीं होते हैं, वचनयोगी व काययोगी होते हैं ।

.२५ त्रीन्द्रिय में

(तेइंदिया) तहेव जाव वेइंदियाणं

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ८८

त्रीन्द्रिय के जीव मनोयोगी नहीं होते हैं, वचनयोगी व काययोगी होते हैं ।

.२६ चतुरिन्द्रिय में

(चतुरिन्द्रिया) सेसं जहा तेइन्द्रियाणं

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ६०

चतुरिन्द्रिय के जीव काययोगी व वचनयोगी होते हैं ।

.२७ नारकी में

(रयणप्पभा पुढबिनेरइया जाव अहेसत्तमपुढबि नेरइया) तिचिहेजोगे ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ६२, ६६

रत्नप्रभा पृथ्वी से तमतमाप्रभा पृथ्वी के जीवों में तीनों योग होते हैं—मनोयोग वचनयोग व काययोग ।

.२८ संमुच्छिम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

.१ जलचर संमुच्छिम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

संमुच्छिम पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया × × × जलयरा दुबिहे जोगे ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ६८, १०१

जलचर संमुच्छिम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में दो योग होते हैं—काययोग व वचनयोग ।

.२ स्थलचर संमुच्छिम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में—

(क) चउप्पय स्थलचर संमुच्छिम पंचेन्द्रिय-तिरिक्ख-जोणिया × × ×

जहा जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू १०२, ११२

चउप्पाद स्थलचर संमुच्छिम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में दो योग होते हैं—काययोग व वचनयोग ।

(ख) उरपरिसर्प स्थलचर संमुच्छिम में

उरयपरिसप्पसंमुच्छिमा × × × जहा जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ११२

उरपरिसर्पस्थलचर तिर्य'च पंचेन्द्रिय में दो योग होते हैं यथा—काययोग तथा वचनयोग ।

(ग) भुजपरिसर्प स्थलचर संमुच्छिम में

(भुजपरिसर्प संमुच्छिम स्थलचरा) जहा जलयरानं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ११२

भुजपरिसर्प स्थलचर संमुच्छिम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में दो योग होते हैं काययोग व वचनयोग ।

.३ खेचर संमुच्छिम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

(समुच्छिम पंचेन्द्रियतिरिक्ख जोणिया × × × खहयरा) जहा जलयरानं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू १२५

खेचर संमुच्छिम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में दो योग होते हैं—वचनयोग व काययोग ।

.२९ गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

.१ जलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

(गम्भवक्कंतिय पंचेन्द्रियतिरिक्ख जोणिया × × × जलचरा) जोगे तिषिहे ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू ११६

गर्भज जलचर तिर्य'च पंचेन्द्रिय में तीन योग—मनोयोग वचनयोग व काययोग होते हैं ।

.२ स्थलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

चतुष्पाद स्थलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

गम्भवक्कंतिय पंचेन्द्रिय तिरिक्खजोणिया × × × स्थलचरा × × × चउप्पया × × × जहा जलयरानं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू १२१

चतुष्पाद स्थलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में तीन योग होते हैं ।

उरपरिसर्प स्थलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

गम्भवक्कंतिय पंचेन्द्रियतिरिक्ख जोणिया × × × स्थलचरा × × × परिसप्पा × × × उरपरिसप्पा जहा जलयरानं । —जीवा० प्रति १ । २ । सू १२१

उरपरिसर्प स्थलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में तीन योग होते हैं ।

भुजपरिसर्प स्थलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

गण्भवक्कंतिय पंचेन्द्रियतिरिक्ख जोणिया × × × थलचरा × × ×
परिसप्पा × × × भुजपरिसप्पा जहा उरपरिसप्पा ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू. १२१

भुजपरिसर्प गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में तीन योग होते हैं । मनयोग, वचनयोग व काययोग ।

.३ खेचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

गण्भवक्कंतिय पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया × × × खहयरा × × ×
जहा जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू. १२५

खेचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में तीन योग होते हैं—मनयोग वचनयोग तथा काययोग ।

.३० मनुष्य में

.१ संमुच्छिन्न मनुष्य में

समुच्छिन्न मणुस्साणं पुच्छा × × × जहा पुढविकाइयाणं ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू. १२८

संमुच्छिन्न मनुष्य में काययोग होता है ।

.२ गर्भज मनुष्य में

(गण्भवक्कंतिय मणुस्सा) मणजोगि वि, बइकायजोगि वि अजोगी वि ।

—जीवा० प्रति १ । २ । सू. १३३

गर्भज मनुष्य मनयोगी भी, वचनयोगी भी व काययोगी भी होते हैं । अयोगी भी होते हैं ।

.३१ औधिक देव में

(देवा) तिबिहेजोगे ।

—जीवा० प्रति १ । ५ । सू. १३५-१३६

देवों में तीन योग होते हैं—मनयोग, वचनयोग व काययोग ।

.३२ गुणस्थान के अनुसार जीवों में

'३२'१ (क) प्रथम गुणस्थान के जीवों में तेरह योग (आहारककाय आहारकमिश्र काययोग को बाद देकर) (देखें क्रमांक '५६) होते हैं ।

(ख) द्वितीय गुणस्थानके जीवों में तेरह योग (आहारक व आहारक मिश्र काययोग को बाद देकर) (देखें क्रमांक '५६) होते हैं ।

- (ग) तृतीय गुणस्थान के जीवों में दस योग—४ मन के योग, ४ वचन के योग, औदारिक तथा वैक्रिय काययोग होते हैं । क्रमांक .५६
- (घ) चतुर्थ गुणस्थान के जीवों में तेरह योग (आहारक, आहारकमिश्र काययोग को बाद देकर) होते हैं । क्रमांक ,५६
- (ङ) पंचम गुणस्थान के जीवों में बारह योग (४ मन के योग, ४ वचन के योग, औदारिक, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रिय तथा वैक्रियमिश्र काययोग) होते हैं । क्रमांक .५६
- (च) छठे गुणस्थान के जीवों में चौदह योग (कर्मण काययोग को बाद देकर) क्रमांक .५६
- (छ) सप्तम गुणस्थान के जीवों में पाँच योग (सत्यमनोयोग, व्यवहार मनोयोग, सत्यवचन योग, व्यवहार वचनयोग, औदारिक काययोग) होते हैं । क्रमांक .५६
- (ज) अष्टम गुणस्थान के जीवों में सप्तम गुणस्थान की तरह पाँच योग होते हैं ।
- (झ) नववें गुणस्थान के जीवों में उपर्युक्त पाँच योग होते हैं ।
- (ञ) दसवें गुणस्थान के जीवों में उपर्युक्त पाँच योग होते हैं ।
- (ट) ग्यारहवें गुणस्थान के जीवों में उपर्युक्त पाँच योग होते हैं ।
- (ठ) बारहवें गुणस्थान के जीवों में उपर्युक्त पाँच योग होते हैं ।
- (ड) तेरहवें गुणस्थान के जीवों में सात योग (सत्यमनोयोग, व्यवहारमनोयोग, सत्यवचन, व्यवहारवचन के योग, औदारिक, औदारिकमिश्र काययोग व कर्मण काययोग)
- (ढ) चौदहवें गुणस्थान के जीवों में अयोगी होते हैं । क्रमांक ५६

३३ चौदह जीव भेद के अनुसार जीव में—

३३.१ (क) प्रथम जीव के भेद में सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय में तीन योग—औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग तथा कर्मण काययोग ।

(ख) द्वितीय जीव के भेद में पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय में—एक औदारिक काययोग ।

- (ग) तृतीय जीव के भेद में—अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय में तीन योग—औदारिक, औदारिकमिश्र काययोग व कर्मण काययोग ।
- (घ) चतुर्थ जीव के भेद में—पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय में पाँच योग—१. औदारिक काययोग, २. औदारिकमिश्र काययोग, ३. वैक्रिय काययोग, ४. वैक्रियमिश्र काययोग तथा (५) कर्मण काययोग ।
- (ङ) पाँचवें जीव के भेद में—अपर्याप्त द्वीन्द्रिय में—तीन योग औदारिक, औदारिक मिश्र काययोग व कर्मण काययोग ।
- (च) छठे जीव के भेद में—पर्याप्त द्वीन्द्रिय में दो योग होते हैं—औदारिक काय-योग तथा व्यवहार भाषा ।
- (छ) सातवें जीव के भेद में—अपर्याप्त तेइन्द्रिय में तीन योग होते हैं—औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग तथा कर्मण काययोग ।
- (ज) आठवें जीव के भेद में—पर्याप्त तेइन्द्रिय में दो योग होते हैं—औदारिक काययोग व व्यवहार भाषा ।
- (झ) नववें जीव के भेद में—अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय में सातवें जीव भेद की तरह तीन योग होते हैं ।
- (ञ) दसवें जीव के भेद में—पर्याप्त चतुरिन्द्रिय में आठवें जीव भेद की तरह दो योग होते हैं ।
- (ट) ग्यारहवें जीव के भेद में—अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय में सातवें जीव भेद की तरह तीन योग होते हैं ।
- (ठ) बारहवें जीव के भेद में—पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय में आठवें जीव भेद की तरह दो योग होते हैं ।
- (ड) तेरहवें जीव के भेद में—अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में चतुर्थ जीव भेद की तरह पाँच योग होते हैं ।
- (ढ) चौदहवें जीव के भेद में—पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में पन्द्रह योग होते हैं ।

५५ जीव और योग समपद

१ समयोगी या विसमयोगी-नारकी यावत् वैमानिक देव

दो भंते णेरइया पढमसमयोबवण्णगा किं समजोगी, किं विसमजोगी ?

गोयमा ! सिय समजोगी, सिय विसमजोगी । से केणट्टेणं भंते ! एवं बुद्ध—
 'सिय समजोगी, सिय विसमजोगी ? गोयमा ! आहारयाओ वा से अणाहारण,
 अणाहारयाओ वा से आहारण सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए । जइ
 हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा, संखेज्जइभागहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा,
 संखेज्जगुणहीणे वा । अह अब्भहिए असंखेज्जइभागमब्भहिए वा, संखेज्जइभाग-
 मब्भहिए वा, संखेज्जगुणमब्भहिए वा, असंखेज्जगुणमब्भहिए वा, से तेणट्टेणं
 जाव सिय 'विसमजोगी' । एवं जाव वेमाणियाणं । —भग० श २५ । उ १ । प्र ४

प्रथम समय उत्पन्न दो नैरयिक कदाचित् समयोगी और कदाचित् विसमयोगी होते हैं ।

आहारक नारक से अनाहारक नारक और अनाहारक नारक से आहारक नारक कदाचित् हीनयोगी, कदाचित् सुखयोगी और कदाचित् अधिकयोगी होता है । यदि वह हीनयोगी होता है, तो असंख्यातवें भाग हीन, संख्यात भाग हीन, संख्यात गुणहीन या असंख्यात गुणहीन होता है ।

यदि अधिक योगी होता है तो असंख्यातवें भाग अधिक, संख्यातवें भाग अधिक, संख्यातगुण अधिक या असंख्यातगुण अधिक होता है ।

इस कारण कहा गया है कि कदाचित् समयोगी, कदाचित् विषमयोगी होता है ।

इस प्रकार यावत् वैमानिक तक जानना चाहिए ।

५६ सयोगी जीव और अन्तरकाल

.२ मणजोगिस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वणस्सइकालो, एवं वइ-
 जोगिस्स वि, कायजोगिस्स जहण्णेण एक्कं समयं उक्कोसेण अंतोमुहुत्तं,
 अयोगिस्स णत्थि अंतरं । —जीवा० प्रति ६ । सू २५७ । पृ० ४४६

अन्तरचिन्तायां मनोयोगिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तत ऊर्ध्वं भूयो विशिष्टमनोयोग्यपुद्गलग्रहणसम्भवात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, तावन्तं कालं स्थित्वा भूयो मनोयोगिष्वागमनसम्भवात्, एवं वाग्योगिनोऽपि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं भावनीयं, औदारिककाययोगिनो जघन्यत एकं समयं, औदारिकलक्षणं कायमपेक्ष्यैतत्सूत्रं, यतो द्विसामयिकयामपान्तरालगतावेकः समयोऽन्तरं, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, इदं हि सूत्रं परिपूर्णौदारिकशरीरपर्याप्ति परिसमाप्त्यपेक्षं, तत्र विग्रहसमयादारभ्य यावदौदारिकशरीरपर्याप्ति परिसमाप्तिस्तावदन्तर्मुहूर्त्तं, तत उक्तमुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं ।

मनोयोगी का अंतरकाल जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट वनस्पतिकाल—अनंतकाल जितना है। इसी प्रकार वचनयोगी का अंतरकाल जघन्य अंतर्मुहूर्त उत्कृष्ट वनस्पतिकाल जितना है।

काययोगी का अंतरकाल जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त का है।

अयोगी का अंतरकाल नहीं है।

मनोयोगी का अन्तर जघन्य में एक अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट वनस्पति काल प्रमाण है। इसके बाद पुनः वहजीव विशिष्ट मनोयोग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करता है इतना ही अन्त वचनयोगी का जानना चाहिए।

काययोगी का अन्तर जघन्य एक समय का है। जघन्य रूप से अन्तर प्रतिपादन करने वाला यह सूत्र औदारिक काययोग की अपेक्षा से कहा गया है क्योंकि दो समयवाली अपातकाल गति में एक समय का अंतर होता है और उत्कृष्टतः जो एक अन्तर्मुहूर्त का अन्तर कहा गया है वह परिपूर्ण औदारिक शरीर पर्याप्ति की परिसमाप्ति की अपेक्षा से कहा गया है क्योंकि विग्रह समय से लेकर औदारिक शरीर पर्याप्ति की पूर्णता तक एक अंतर्मुहूर्त का अन्तर रहता है।

.२ सयोगी-भवस्थ-केवली-अणाहारका का अंतर

.३ अयोगी भवस्थ केवली अणाहारक का अंतर

सजोगि-भवस्थ-केवलि-अणाहारागस्स जहन्नेण अंतोमुहूर्तं उक्कोसेणविxxx।

अजोगि भवस्थ केवलि अणाहारागस्स नत्थि अंतरं । —जीवा० प्रति ६

सयोगी भवस्थ केवली अणाहारिक का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त है।

अयोगी भवस्थ केवली अणाहारिक का अन्तर नहीं है।

टीका × × × ते चाष्टसामयिक केवलि-समुद्घातावस्थायां त्रिचतुर्ष्व-
स्वरूपाः तेषु समवत्रयेषु केवलकर्मणकाययोगभावात् । उक्तञ्च-कर्मण शरीर-
योगी चतुर्थके पचमे तृतीय च समयत्रयोऽपि तस्माद्भवत्यनाहारको
निग्मात् । —जीवा० प्रति ६ प्रमेयद्योतिकी टीका

केवली समुद्घातके अष्ट समयोंमें तीसरे, चौथे व पाँचवें समय में अणाहारिक स्थिति बनती है। वह भवस्थ केवली अणाहारिक है। इसके सिवाय अनाहारिक स्थिति नहीं बनती है।

५७ जीव समूहों में कितने योग

१ पृथ्वीकायिक जीव समूहों में योग

सिय भंते ! जाव चत्तारि पंच पुढविकाइया × × × । × × × पुढ-
विकाइया पत्तेयाहारा पत्तेयपरिणामा पत्तेयंसरीरं बंधंति, प०२, बंधित्ता
तओपच्छा आहारेंति वा परिणामेंति वा सरीरं वा बंधंति । × × × । तेणं
भंते ! जीवा किं मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी ? गोयमा ! णो मणजोगी,
णो वयजोगी, कायजोगी । — भग० श १६ । उ ३ । सू १ । ६

कदाचित् दो यावत् चार, पाँच पृथ्वीकायिक जीव मिलकर साधारण शरीर नहीं बांधते
हैं क्योंकि पृथ्वीकायिक जीव पृथक्-पृथक् आहार करने वाले हैं और उस आहार को पृथक्-
पृथक् परिणमन करते हैं अतः वे पृथक्-पृथक् शरीर बांधते हैं और इसके पश्चात् आहार
करते हैं, उसे परिणामाते हैं और फिर शरीर बांधते हैं । पृथ्वीकायिक जीव मनोयोगी-
वचन योगी नहीं होते हैं, काययोगी होते हैं ।

२ अप्कायिक जीव समूहों में योग

(आउक्काइया) एवं जो पुढविकाइयाणं गमो सोचेव भाणियब्बो
× × × । — भग श १६ । उ ३ । सू २१

पृथ्वीकायिक की तरह अप्कायिक जीव मनोयोगी और वचनयोगी नहीं होते हैं
परन्तु काययोगी होते हैं ।

३ अग्निकायिक जीव समूहों में योग

४ वाउकायिक जीव समूहों में योग

(तेउक्काइया) एवं चेव

(वाउक्काइयाणं) एवं चेव

— भग० श १६ । उ ३ । सू २२, २३

अग्निकायिक तथा वाउकायिक जीवों समूहों—मनोयोगी, वचनयोगी नहीं होते हैं
काययोगी होते हैं ।

५ वनस्पतिकायिक जीव समूहों में योग

सिय भंते ! जाव चत्तारि पंच वणस्सइकाइया०पुच्छा—गोयमा ! णो
इण्ठे समट्ठे । अणंतावणस्सइकाइया एगयओ साहारणसरीरं बंधंति । × × ×
सेसं जहा तेउक्काइयाणं । — भग० श १६ । उ ३ । सू १६

कदाचित् दो, तीन, चार या पाँच आदि वनस्पतिकायिक जीव इकट्ठे होकर साधारण शरीर नहीं बांधते हैं। अनंत वनस्पतिकायिक जीव मिलकर एक साधारण शरीर बाँधते हैं उनमें लेश्या तीन—कृष्ण-नील-कापोत होती है योग-मन-वचन कायोग नहीं होता है परन्तु काययोग होता है।

•६ द्वीन्द्रिय जीव समूहों में योग

•७ त्रीन्द्रिय जीव समूहों में योग

•८ चतुरिन्द्रिय जीव समूहों में योग

•९ पंचेन्द्रिय जीव समूहों में योग

सिय भंते ! जाव-चत्तारि पंच वेदिया एगयओ साहारण सरीरं बंधंति
× × × णो इण्ठे सय्ठे । × × × । पतेयसरीरं बंधंति । × × × णो
मणजोगी, वइजोगी वि कायजोगी वि ।

एवं तेइंदिया वि, एवं चउरिंदिया वि । × × × सिय भंते ! जाव
चत्तारि पंच पंचिंदिया एगयओ साहारण ०१ एवं जहा वेदियाणं × × × ।
तिविहो जोगो । —भग० श २० । उ १ । सू १ से ४

द्वीन्द्रिय यावत् चतुरिन्द्रिय जीव समूह साधारण शरीर नहीं बांधते हैं, प्रत्येक शरीर बांधते हैं इन जीव समूहों में मनोयोग नहीं है। वचनयोग भी व काययोग भी है।

पंचेन्द्रिय जीव समूह भी साधारण शरीर नहीं बांधते हैं, प्रत्येक शरीर बांधते हैं। इन जीव समूहों में तीन योग होते हैं।

•६ से •८ सयोगी जीव

•६१ सयोगी जीव और समपद

•६१.१ सयोगी जीव दंडक और समपद

सब सयोगी नारकी सम सयोगी-सम लेशी नहीं है। विषम सयोगी है (देखो '५५)

सब सयोगी असुरकुमार यावत् स्तनित कुमार सम सयोगी नहीं है।

सब सयोगी पृथ्वीकाय सम सयोगी नहीं है।

इसी प्रकार सयोगी अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय सम सयोगी नहीं है, विषम सयोगी है।

सर्व सयोगी तिर्यंच पंचेन्द्रिय सम सयोगी नहीं है, तथा न सम लेशी है।

सर्व सयोगी मनुष्य सम सयोगी नहीं है, विषम सयोगी है।

सर्व सयोगी बाणव्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देव भी सम सयोगी नहीं है, विषम सयोगी है। समलेशी भी नहीं है विषम लेशी है।

.६२ सयोगी जीव और प्रथम-अप्रथम

.६२.१ सजोगी, मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी एगत्तपुहुत्तेणं जहा आहारए, णवरं जस्स जो जोगो अत्थि । (आहारक भंग—आहारए णं भंते ! जीवे आहारभावेणं किं पढमे अपढमे ? गोयमा ! णो पढमे अपढमे । × × × प्र० ५) अजोगी जीव मणुस्स सिद्धा एगत्तपुहुत्तेणं पढमा, णो अपढमा ।

—भग० श १८ । उ १ । प्र १५

सयोगी, मनयोगी, वचनयोगी और काययोगी—ये सभी एकवचन और बहुवचन से आहारक जीवों के समान अप्रथम होते हैं । जिन जीवों के जो योग हो, वह उसी प्रकार जानना चाहिए । अयोगीजीव, मनुष्य और सिद्ध—ये सभी एकवचन और बहुवचन से प्रथम है, अप्रथम नहीं है ।

नोट—प्रथम अप्रथम की व्याख्या :—

जो जेण पत्तपुव्वेभावो, सो तेण अपढमो होइ ।

सेसेसु होइ पढमो, अपत्तपुव्वेसु भावेसु ॥

अर्थात् जिस जीव ने जो भावपूर्व भी प्राप्त किया है उसकी अपेक्षा वह अप्रथम, कहलाता है । जो भाव जीव को कभी प्राप्त नहीं हुआ, उसे प्राप्त करना, उस भाव की अपेक्षा 'प्रथम' कहलाता है ।

.६२.२ अयोगी जीव और प्रथम-अप्रथम

अजोगी जीव-मणुस्स-सिद्धा एगत्तपुहुत्तेणं पढमा, णो अपढमा ।

—भग० श १८ । उ १ प्र १५

अयोगी जीव, मनुष्य और सिद्ध—ये सभी एक वचन और बहुवचन से प्रथम है, अप्रथम नहीं है ।

.६३ सयोगी जीव और चरम-अचरम

सजोगी जाव कायजोगी जहा आहारओ, जस्स जो जोगो अत्थि । (आहारक-भंग—आहारए सव्वत्थ एगत्तेणं सिय चरिमे, सिय अचरिमे, पुहुत्तेणं चरिमा बि अचरिमा वि । × × × । प्र २३) अजोगी जहा णोसण्णी-णोअसण्णी । (नोसंझी-मोअसंझी-भंग—× × × णोसण्णी-णोअसण्णी जीवपए सिद्धपए थ अचरिमे, मणुस्सपए चरिमे एगत्तपुहुत्तेणं । प्र २५) ।

—भग० श १८ । उ १ । प्र ३१

सयोगी, मनयोगी, वचनयोगी, काययोगी (आहारक की तरह) सर्वत्र एक वचन

से कदाचित् चरम, कदाचित् अचरम होते हैं। बहुवचन से सयोगी यावत् काययोगी चरम भी होते हैं और अचरम भी।

जिस दंडक में जो योग हो वही कहना चाहिए।

अयोगी (नो संज्ञी नो असंज्ञी की तरह)—जीव और सिद्ध अचरम है। परन्तु अयोगी मनुष्य एक वचन और बहुवचन की अपेक्षा चरम है।

नोट :—जिसका कभी अन्त होता है वह चरम कहलाता है और जिसका कभी अन्त नहीं होता है वह अचरम कहलाता है। जीवत्व की अपेक्षा जीव का कभी अन्त नहीं होता अतः वह चरम नहीं, अचरम है। सिद्धत्व का कभी अन्त नहीं होता है अतः वह अचरम है।

६४ सयोगी जीव की सयोगीत्व की अपेक्षा स्थिति

६४.१ सयोगी जीव की स्थिति :—

सयोगी जीव सयोगीत्व की अपेक्षा दो प्रकार के होते हैं—(१) अनादि-अपर्यवसित तथा (२) अनादि सपर्यवसित (देखो '५३)

नोट :—अभव्यत्वकी अपेक्षा सयोगी जीव की स्थिति अनादि-अपर्यवसित है ; भव्यत्वकी अपेक्षा सयोगी जीव की स्थिति अनादि-सपर्यवसित है।

६४.२ मनोयोगी जीव की स्थिति

मनोयोगी जीव की स्थिति मनोयोग की अपेक्षा जघन्य एक समय की स्थिति तथा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त की है (देखो '५३)

६४.३ वचनयोगी जीव की स्थिति

वचनयोगी जीव की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त की है (देखे '५३)

६४.४ काययोगी की स्थिति

काययोगी जीव की स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनंतकाल की है। (देखें '५३)

६४.५ अयोगी जीव की स्थिति

अजोगी णं भंते ! साइए अपज्जवसिए —जीवा० प्रति ६ । सू २६६
अयोगी जीव सादि-अपर्यवसित होते हैं।

६५ सयोगी जीव का सयोगी की अपेक्षा अंतरकाल

०१ मनोयोगी और वचनयोगी का एक जीव की अपेक्षा अंतर

जोगाणुवादेण पंचमणजोगि-पंचवच्चिजोगीणमंतरं केवच्चिरं कालादो
होदि ? —षट्० खं० २ । ३ । सू ५६ । पु ७ । पृ० २०५

टीका—सुगमं ।

जहण्णेण अंतोमुहुत्तं ।

—षट्० खं० २ । ३ । सू ६० । पृ ७ । पृ० २०५

टीका—कुदो ? मणजोगादो कायजोगं वच्चिजोगं वा गंतूण सव्वजहणमंतो-
मुहुत्तमच्छिय पुणो मणजोगमागदस्स जहण्णेणंतोमुहुत्तंतद्वलंभादो । सेसवत्ता-
रिमणजोगीणं पंचवच्चिजोगीणं च एवं चेव अंतरं परूवेयव्वं, भेदाभावादो । एत्थ
एगसमओ किण्ण लब्भदे ? ण, वाधादिदे मुदे वा मण-वच्चिजोगाणमणंतरसमए
अणुवलंभादो ।

इकस्सेण अणंतकालमसंखेज्जपोग्गलपरियट्ठं ।

—षट्० खं० २ । ३ । सू ६१ । पृ ७ । पृ० २०५ । ६

टीका—कुदो ? मणजोगादो वच्चिजोगं गंतूण तत्थ सव्वुकस्समद्धमच्छिय
पुणो कायजोगं गंतूण तत्थ वि सव्वच्चिरं कालं गमिय एइदिए सुण्णज्जिअ
आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तपोग्गलपरियट्ठणाणि परियट्ठिय पुणो मणजोगं
मदस्स तद्वलंभादो । सेसवत्तारिमणजोगीणं पंचवच्चिजोगीणं च एवं चेव
अंतरं परूवेयव्वं, विसेसाभावादो ।

योगमार्गणा के अनुसार पाँच मनोयोगी और पाँच वचनयोगी जीवों का अन्तरकाल
जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त है ; क्योंकि मनोयोग से काययोग में अथवा वचनयोग में जाकर सबसे
कम अन्तर्मुहूर्त मात्र रहकर पुनः मनोयोग में आनेवाले जीव के अन्तर्मुहूर्त रूप जघन्य
अन्तर पाया जाता है । शेष चार मनोयोगी और पाँच वचनयोगी जीवों का भी जघन्य
अन्तरकाल इसी प्रकार समझना चाहिए, क्योंकि इस अपेक्षा से कोई भेद नहीं है । इन
पाँच मनोयोगी तथा पाँच वचनयोगी जीवों का एक योग से दूसरे योग में जाकर पुनः
उसी योग में लौटने पर एक समय रूप अन्तर न होने का कारण यह है कि जब एक
मनोयोग या वचनयोग का विघात हो जाता है या विवक्षित योगयुक्त जीव का मरण हो
जाता है, तब केवल एक समय के अन्तर से पुनः अनन्तर समय में उसी मनोयोग या
वचनयोग की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

पाँच मनोयोगी और पाँच वचनयोगी जीवों का उत्कृष्ट अन्तरकाल असंख्यात
पुद्गल परिवर्तन रूप अनन्तकाल तक होता है । क्योंकि मनोयोग से वचनयोग में जाकर
वहाँ अधिक काल तक रहकर पुनः काययोग में जाकर और वहाँ भी सबसे अधिक काल
व्यतीत करके एकेन्द्रियों में उत्पन्न होकर आवली के असंख्यातवर्गे भाग रूप पुद्गल
परिवर्तन परिभ्रमण कर पुनः मनोयोग में आये हुए जीव के उक्त रूप अन्तरकाल प्राप्त
होता है ।

शेष चार मनोयोगी और पाँच वचनयोगी जीवों का भी उत्कृष्ट अन्तरकाल इसी प्रकार जानना चाहिए, क्योंकि इस अपेक्षा से इनमें कोई भेद नहीं है ।

मनोयोगी तथा वचनयोगी का मनोयोग तथा वचनयोग की अपेक्षा अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अनन्तकाल (वनस्पतिकाल) का है (देखें ५४)

०२ काययोगी का एक जीव की अपेक्षा अंतर

कायजोगीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ?

—षट्० खं० २ । ३ । सू ६२ । पु ७ । पृ० २०६

टीका—सुगमं ।

जहण्णेण एगसमओ ।

—षट्० खं० २ । ३ । सू ६३ । पु ७ । पृ० २०६

टीका—कुदो ? कायजोगादो मणजोगं वच्चिजोगं वा गंतूण एगसमय-मच्छिय बिदियसमए मुदे वाघादिदे वा कायजोगं गदस्स एगसमयअंतरुव-लंभादो ।

उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं ।

—षट्० खं० २ । ३ । सू ६४ । पु ७ । पृ० २०६

टीका—कुदो ? कायजोगादो मणजोगं वच्चिजोगं च परिघाडीए गंतूण दोसु वि सव्वुक्कस्सकालमच्छिय पुणो कायजोगमागदस्स अंतोमुहुत्तमेत्तंतरुव-लंभादो ।

काययोगी जीवों का जघन्य अन्तरकाल एक समय तक होता है, क्योंकि काययोग से मनोयोग में या वचनयोग में जाकर एक समय रहकर दूसरे समय में मरण करने या योग के व्याघातित होनेपर पुनः काययोग को प्राप्त हुए जीव के एक समय का जघन्य अन्तर प्राप्त होता है ।

काययोगी जीवों का उत्कृष्ट अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त होता है, क्योंकि काययोग से मनोयोग और वचनयोग में क्रमशः जाकर तथा उन दोनों योगों में उनके सर्वोत्कृष्ट कालतक रहकर पुनः काययोग में आये हुए जीव के अन्तर्मुहूर्तरूपकाययोग का अन्तर प्राप्त होता है ।

काययोगी का जघन्य अन्तर एक समय का उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का है (देखें ५४)

०३.४ औदारिक काययोगी तथा औदारिक मिश्रकाय योगी का एक जीव की अपेक्षा अन्तर

ओराजियकायजोगी-ओराजियमिस्सकायजोगीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ?

—षट्० खं० २ । ३ । सू ६५ । पु ७ । पृ० २०७

टीका—सुगमं ।

जहण्णेण एगसमओ ।

—षट्० खं० २ । ३ । सू ६६ । पु ७ पृ० २०७

टीका—कुदो १ ओरालियकायजोगादो मणजोगं वच्चिजोगं वा गंतूण एगसमयमच्छिय विदियसमए वाघादवसेणगदस्स एगसमयअंतरुवलंभादो । ओरालियमिस्सकायजोगिस्स अपज्जत्तभावेण मण-वच्चिजोगधिरहियस्स कध-मंतरस्स एगसमओ १ ण, ओरालियमिस्सकायजोगादो एगविग्गहं करिय कम्मइयजोगमि एगसमयमच्छिय विदियसमए ओरालियमिस्सं गदस्स एग-समयअंतरुवलंभादो ।

उक्कस्सेण तेत्तीसं सागरोवमाणि सादिरेयाणि ।

—षट्० खं० २ । ३ । सू ६७ । पु ७ । पृ० २०७-८

टीका—कुदो १ ओरालियकायजोगादो चत्तारिमण-चत्तारिवच्चिजोगेसु परिणमियकालं करिय तेत्तीसाउट्ठिदिणसु देवेसुववज्जिय सगट्ठिदिमच्छिय दो विग्गहे कादूण मणुस्सेसुप्पज्जिय ओरालिय-मिस्सकायजोगेण दीहकालमच्छिय पुणो ओरालियकायजोगं गदस्स णवहि अंतोमुहुत्तेहि वेहि समएहि सादिरेय-तेत्तीससागरोवमेत्तंतरुवलंभादो । एवमोरालियमिस्सकायजोगस्स वि अंतरं वत्तव्वं । णवरि अंतोमुहुत्तूणपुव्वकोडीए सादिरेयाणि तेत्तीससागरोवमाणि अंतरं होदि, णेरइएहिंतो पुव्वकोडाउअमणुस्सेसुप्पज्जिय ओरालियमिस्सकाय-जोगस्स आदिकरिय सव्वलहुं पज्जत्तीओ समाणिय ओरालियकायजोगेणंतरिय पुव्वकोडिं देसुणं गमिय तेत्तीसाउट्ठिदिदेवेसुप्पज्जिय पुणो विग्गहे कादूण ओरा-लियमिस्सकायजोगं गदस्स तदुवलंभादो ।

औदारिक काययोगी और औदारिकमिश्र काययोगी जीवों का जघन्य अन्तर एक समय होता है, क्योंकि औदारिक काययोग से मनोयोग या वचनयोग में जाकर एक समय रहकर दूसरे समय में योग का व्याघात होने से औदारिक काययोग में आये हुए जीव के औदारिक काययोग का अन्तर एक समय होता है ।

यद्यपि औदारिकमिश्र काययोगी अपर्याप्त अवस्था में होता है, जबकि जीव के मनो-योग और वचनयोग होता ही नहीं है तथापि उसके एक समय का अन्तर होने का कारण यह है कि औदारिकमिश्र काययोग से एक विग्रह करके कर्मण योग में एक समय रहकर

दूसरे समय में औदारिकमिश्र योम में आये हुए जीव के एक समय का अन्तर प्राप्त होता है ।

औदारिक काययोगी तथा औदारिकमिश्र काययोगी जीवों का उत्कृष्ट अन्तर सातिरेक तैत्तीस सागरोपम रूप होता है । क्योंकि औदारिक काययोग से चार मनोयोगों तथा चार वचन योगों में परिणमित हो मरण कर तैत्तीस सागरोपम प्रमाण आयुस्थिति वाले देवों में उत्पन्न होकर, वहाँ अपनी स्थितिप्रमाण रहकर पुनः दो विग्रह कर मनुष्यों में उत्पन्न हो औदारिकमिश्र काययोग सहित दीर्घकाल रहकर पुनः औदारिक काययोग में आये हुए जीव के नौ अन्तर्मुहूर्तों व दो समय अधिक तैत्तीस सागरोपम रूप अन्तर प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार औदारिकमिश्र काययोग का अन्तर कहना चाहिए । केवल विशेषता यह है कि औदारिकमिश्र काययोग का अन्तर अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि से अधिक तैत्तीस सागरोपम रूप होता है, क्योंकि, नारकी जीवों में से निकलकर पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न हो, औदारिकमिश्र काययोग का प्रारम्भ कर कम से कम काल पर्याप्तियों को पूर्ण कर, औदारिक काययोग के द्वारा औदारिकमिश्र काययोग का अन्तर कर कुछ कम पूर्व कोटि-काल व्यतीत कर तैत्तीस सागरोपम की आयुवाले देवों में उत्पन्न हो पुनः विग्रह करके औदारिकमिश्र काययोग में जाने वाले जीव के उपर्युक्त काल रूप अन्तर प्राप्त होता है ।

.०५ वेक्रिय काययोगी का एक जीव की अपेक्षा अंतर

वेडब्बियकायजोगीणमंतरं केवच्चिरं कालादो होदि ?

—षट् खं २ । ३ । सू ६८ । पु ७ । पृ २०८

टीका—सुगमं ।

जहण्णेण एगसमथो ।

—षट् खं २ । ३ । सू ६९ । पु ७ । पृ २०९

टीका—वेडब्बियकायजोगादो मणजोगं वच्चिजोगं वा गंतूण तत्थ एगसमयमच्छिय विदियसमए वाघाद्वसेण वेडब्बियकायजोगं गदस्स तदुवलंभादो ।

उक्कस्सेण अणंतकालमसंखेज्जपोग्गलपरियट्ठं ।

—षट् खं २ । ३ । सू ७० । पु ७ पृ २०९

टीका—अंतरस्स पाहणियादो एगवयणं णवुंसयत्तं च जुज्जदे । सेसं सुगमं ।

वैक्रिय काययोगियों का जघन्य अन्तर एक समय है, क्योंकि वैक्रिय काययोग से मनोयोग या वचनयोग में जाकर वहाँ एक समय तक रहकर दूसरे समय में उस योग का व्याघात हो जाने के कारण वैक्रिय काययोग में जाने वाले जीव के एक समय रूप अन्तर प्राप्त होता है ।

वैक्रिय काययोगियों का उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात पुद्गल-परिवर्तन रूप अनन्त-काल है ।

.०६ वैक्रियमिश्र काययोगी का एक जीव की अपेक्षा अन्तरकाल
वेउव्वियमिस्सकायजोगीणमंतरं केवच्चिरं कालादो होदि ?
जहण्णेण दसवाससहस्साणि सादिरेयाणि ॥

—षट्० खं० २ । ३ । सू ७१-७२ । पु ७ । पृ० २०६

टीका—कुदो ? तिरिक्खेहिंतो मणुस्सेहिंतो वा देवेषु णेरइएसु वा उप्प-
ज्जिय दीहकालेण घप्पज्जत्तीओ समाणिअ वेउव्वियकायजोगेण अंतरिय देसूण-
दसवाससहस्साणि अच्छिय तिरिक्खेसु मणुस्सेसु वा उप्पज्जिय सब्बजहण्णेण
कालेण पुणो आगंतूण वेउव्वियमिस्सं गदस्स सादिरेयदसवस्ससहस्समेत्तं-
तरुवलंभादो । कधमेदेस्सि सादिरेयत्तं ? ण, वेउव्वियमिस्सद्वादो तिरिक्ख-
मणुस्सपज्जत्ताणं गम्भजाणं जहण्णाउवस्स बहुत्तुवलंभादो ।

उक्कस्सेण अणंतकालमसंखेज्जपोग्गलपरियट्ठं ।

—षट्० खं० २ । ३ । सू ७३ । पु ७ । पृ० २१०

टीका—कुदो ? वेउव्वियमिस्सकायजोगादो वेउव्वियकायजोगं गंतूणं-
तरिक्ख असंखेज्जपोग्गलपरियट्ठाणि परियट्ठिय वेउव्वियमिस्सं गदस्स
तरुवलंभादो ।

वैक्रियमिश्र काययोगियों का जघन्य अन्तर कुछ अधिक दस हजार वर्ष होता है; क्योंकि, तिर्यंचों या मनुष्यों से देवों या नारकियों में उत्पन्न होकर दीर्घकाल द्वारा छः पर्याप्तियाँ पूरी कर वैक्रिय काययोग के द्वारा वैक्रियमिश्र काययोग का अन्तर करके, कुछ कम दस हजार वर्ष तक वहाँ रहकर तिर्यंचों या मनुष्यों में उत्पन्न हो, सबसे कम काल में पुनः देव या नरक गति में आकर वैक्रियमिश्र काययोग को प्राप्त हुए जीव के सातिरेक दस दस हजार वर्ष रूप जघन्य अन्तर प्राप्त होता है ।

दस हजार वर्षों की सतिरेकता का कारण यह है कि वैक्रिय मिश्र योग के काल की अपेक्षा तिर्यंच और मनुष्य पर्याप्त गर्भज जीवों की जघन्य आयु बहुत पायी जाती है ।

वैक्रियमिश्र काययोगियों का उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात पुद्गल परिवर्तन रूप अनन्तकाल है ; क्योंकि वैक्रियमिश्र काययोग से वैक्रिय काययोग में जाकर, वैक्रियमिश्र काययोग का अन्तर प्रारम्भ कर, असंख्यात पुद्गल परिवर्तन परिभ्रमण कर पुनः वैक्रियमिश्र काययोग को प्राप्त करनेवाले जीव के उपर्युक्त रूप अन्तर प्राप्त होता है ।

०७-८ आहारक काययोगी तथा आहारक मिश्रकाययोगी का एक जीव की अपेक्षा अन्तर

आहारकायजोगि-आहारमिस्सकायजोगीणमन्तरं केवच्चिरं कालादो होदि ?

—षट्० खं० २।३।सू ७४।पृ ७।पृ० २१०

टीका—सुगमं ।

जहण्णेण अंतोमुहुत्तं ।

—षट्० खं० २।३।सू ७५।पृ ७।पृ० २१०-११

टीका—कुदो ? आहारकायजोगादो अणजोगं गंतूण सव्वजहुमंतो-मुहुत्तमच्छिय पुणो आहारकायजोगं गदस्स अंतोमुहुत्ततरुव्वलंभादो । एग-समओ किण्ण लब्भदे ? ण, आहारकायजोगस्स वाघादाभावादो । एवमाहार-मिस्सकायजोगस्स वि वत्तव्वं । णवरि आहारसरीरमुट्ठाविय सव्वजहण्णेण कालेण पुणो वि उट्ठावैतस्स पढमसमए अतिरपरिसमत्ती कायव्वा ।

उक्कस्सेण अद्धपोग्गलपरियट्ठं देसूणं ।

—षट्० खं० २।३।सू ७६।पृ ७।पृ० २११

टीका—कुदो ? अणादियमिच्छादिट्ठिस्स अद्धपोग्गलपरियट्ठादिसमए उवसमसम्मत्तं संजमं च जुगव्वं धेत्तूण अंतोमुहुत्तमच्छिय (१) अप्पमत्तोहोदूण (२) आहारसरीरं बंधिय (३) पडिभग्गो होदूण (४) आहारसरीर मुट्ठाविय अंतोमुहुत्तमच्छिय (५) आहारकायजोगी होदूण आदि करिय एगसमयमच्छिय कालं काउण अंतरिय उवट्ठपोग्गलपरियट्ठं भमिय अंतोमुहुत्तावसेसे संसारे अद्ध-मन्तरं करिय (६) अंतोमुहुत्तमच्छिय (७) अबंधभावं गमस्स जहाकमेण अट्ठहि सत्तहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणअद्धपोग्गलपरियट्ठमेत्तंतरुव्वलंभादो ।

आहारक काययोगी और आहारकमिश्र काययोगी जीवों का अधन्य अन्तर अन्त-मुहूर्त होता है; क्योंकि आहारक काययोग से अन्य योग में जाकर सबसे कम अन्तमुहूर्त रहकर पुनः आहारक काययोग को प्राप्त हुए जीव के अन्तमुहूर्त रूप अन्तर प्राप्त होता है ।

आहारक काययोग का एक समय मात्र अन्तर प्राप्त नहीं होने का कारण यह है कि आहारक काययोग का व्याघात नहीं हो सकता है ।

इसी प्रकार आहारकमिश्र का प्रयोग का भी अन्तर समझना चाहिए । विशेषता यह है कि आहारक शरीर को उत्पन्न करके सबसे कम काल में पुनः आहारक शरीर को उठाने के प्रथम समय में अन्तर की समाप्ति कर देनी चाहिए ।

आहारक काययोगी और आहारकमिश्र काययोगी जीवों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध पुद्गल-परिवर्तन रूप है; क्योंकि, एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अर्ध पुद्गल-परिवर्तन रूप संसार शेष रहने के आदि समय में उपशम-सम्यक्त्व और संयम दोनों को एक साथ ग्रहण कर, उसमें अन्तर्मुहूर्त रहकर (१) अप्रमत्त होकर (२) आहारक शरीर का बन्ध करके (३) प्रतिभग्न अर्थात् अप्रमत्त से च्युत हो प्रमत्त होकर (४) आहारक शरीर को उत्पन्न करके अन्तर्मुहूर्त रहा (५) और आहारक काययोगी होकर उसका प्रारम्भ करके एक समय रहकर मर गया । इस प्रकार आहारक काययोग का अन्तर प्रारम्भ हुआ । पश्चात् वही जीव उपाधपुद्गल-परिवर्तन भ्रमण करके संसार के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर अन्तरकाल समाप्त कर अर्थात् पुनः आहारक शरीर उत्पन्न कर (६) अन्तर्मुहूर्त रहकर (७) अबन्धक भाव को प्राप्त हो गया । ऐसे जीव के यथाक्रम आठ या सात अर्थात् आहारक काययोग का आठ और आहारकमिश्र काययोग का सात अन्तर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र अन्तरकाल प्राप्त होता है ।

०९. कर्मणकाययोगी का एक जीव की अपेक्षा अंतर

कम्मइयकायजोगीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ?

—षट्. खं. २ । ३ । सू ७८ । पु ७ । पृ. २१२

टीका—सुगमं ।

जहण्णेण खुद्वाभवग्गहणं तिसमऊणं ।

षट्. खं. २ । ३ । सू ७७ । पु ७ । पृ. २१२

टीका—तिणि विग्गहे काऊण खुद्वाभवग्गहणम्मि उप्पज्जिय पुणो विग्गहं काऊण णिग्गयस्स तिसमऊणखुद्वाभवग्गहणमेत्ततरुवल्भादो ।

उरस्सेण अंगुलस्स असंखेज्जदिभागो—असंखेज्जासंखेज्जाओ ओसप्पिणि-उरस्सप्पिणीओ ।

—षट्. खं. २ । ३ । सू ७६ । पु ७ । पृ. २१२

टीका—कुदो ? कम्मइयकायजोगादो ओरालियमिस्सं वेउब्बियमिस्सं गंतूण असंखेज्जासंखेज्जभासप्पिणी-उरस्सप्पिणीपमाणमंगुलस्स असंखेज्जदिभाग-मेत्तकालमच्छिय विग्गहं गदस्स तदुवल्भादो ।

कर्मण काययोगी जीवों का जघन्य अन्तर तीन समय कम क्षुद्रभवग्रहण मात्र होता है, क्योंकि तीन विग्रह करके क्षुद्रभव ग्रहण बाले जीवों में उत्पन्न हो पुनः विग्रह करके निकलनेवाले जीव के तीन समय कम क्षुद्र भवग्रहण मात्र कर्मण काययोग का जघन्य अन्तर प्राप्त होता है ।

कर्मण काययोगियों का उत्कृष्ट अन्तर अंगुल के असंख्यातवें भाग रूप अक्ष-ख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल पर्यन्त होता है; क्योंकि, कर्मण काययोग से औदारिकमिथ्र या वैक्रियमिथ्र काययोग में जाकर असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी रूप अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र काल तक रहकर पुनः विग्रह गति को प्राप्त हुए जीव के कर्मण काययोग का उपर्युक्त अन्तर काल प्राप्त होता है ।

१० अजोगी णं भंते ! अंतरंकालओ केवश्चिरं होइ ? गोयमा ! साइस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ।

—जीवा० प्रति ६ । सू. २६६

अयोगी जीव का अन्तरकाल नहीं है सादि-अपर्यवसित का अन्तर नहीं होता है ।

अध्ययन, गाथा, सूत्र आदि की संकेत सूची

अ	अध्ययन, अध्याय	प्रा	प्राभृत
अधि	अधिकार	प्रपा	प्रतिप्राभृत
उ	उद्देश, उद्देशक	भा	भाष्य
गा	गाथा	भाग	भाग
च	चरण	ला	लाइन
चू	चूर्णी	व	वर्ग
चूलि	चूलिका	वा	वार्तिक
टी	टीका	वृ	वृत्ति
द	दशा	श	शतक
द्वा	द्वार	शीलांका	शीलांकाचार्य
नि	निर्युक्ति	श्रु	श्रुतस्कन्ध
प	पद	श्लो	श्लोक
पं	पंक्ति	सम	समवाय
पृ०	पृष्ठ	सू	सूत्र
पै	पैरा	स्था	स्थान
प्र	प्रश्न	सिद्ध	सिद्धसेन
प्रकी०	प्रकीर्णक	हा	हारीभद्रीक
प्रति	प्रतिपत्ति	संघि	संघि

संकलन सम्पादन अनुसंधान में प्रमुख ग्रन्थों की सूची

१ से ४ अंगसूत्ताणि

आयारो-सूयगडो-ठाणं-समबाओ

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, संपादक—मुनि नथमल (वर्तमान नाम—युवा-
चार्य श्री महाप्रज्ञ) । प्रकाशक—जेन विश्वभारती, लाडणू ।

५ अंगसूत्ताणि

भगवई-संकेत—भग०

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, संपादक—मुनि नथमल (वर्तमान नाम—युवा-
चार्य श्री महाप्रज्ञ) प्रकाशक—जेन विश्वभारती, लाडणू ।

६ से ११ अंगसूत्ताणि

णायाधम्मकहाओ - उवासगदसाओ - अंतगडदसाओ - अणुत्तरोषवाइद-
साओ-पणहावागराणं विवागसुयं ।

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, संपादक—मुनि नथमल (वर्तमान नाम—युवा-
चार्य श्री महाप्रज्ञ) प्रकाशक—जेन विश्व भारती, लाडणू ।

१२ से १४ उवसगसूत्ताणि (खंड १)

ओषाइयं-रायपसेणियं-जीवाजीवात्रिगमे

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, संपादक—युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ । प्रकाशक—
जेन विश्व भारती, लाडणू ।

१५ से २३ उवसगसूत्ताणि (खंड २)

पणवणा जंजुदीवणत्ती - चंदपणत्ती-सूरपणत्ती - निरयावज्जियाओ
कप्पवडिसियाओ-पुप्फियाओ-पुप्फचूजियाओ-वणिहदसाओ ।

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, संपादक—युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ, प्रकाशक—जेन
विश्व भारती लाडणू ।

२४ से ३२ आवस्सयं - दसवेआजिय - उत्तरज्जयाणी - नंदी—अणुओगदाराइं-
दसाओ-कप्पो-ववहारो-निसीहज्जयणं ।

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, संपादक—युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ, प्रकाशक—
जेन विश्वभारती, लाडणू ।

३३ कप्पसुसं-संकेत-कप्पसु०

प्रकाशक—साराभाई मणिलाल, अहमदाबाद ।

- ३४ सभाष्यतत्त्वार्थ सूत्र-संकेत-तत्त्व०
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मंडल, खाराकुषा, बम्बई-२
- ३५ तत्त्वार्थ सवार्थसिद्धि-संकेत तत्त्वसर्व०
प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, वाराणसी ।
- ३६ तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) संकेत तत्त्वराज०
प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, वाराणसी-आगर
- ३७ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार-संकेत-तत्त्वश्लो०
प्रकाशक—रामचन्द्र नाथारंग, बम्बई,
- ३८ तत्त्वार्थसिद्धसेन टीका संकेत तत्त्वसिद्ध० भाग—२
प्रकाशक—जीवचन्द्र साकेरचंद जवेरी, बम्बई ।
- ३९ कर्मग्रन्थ-संकेत-कर्म० भाग-६
प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर ।
- ४० गोम्मटसार (जीवकाण्ड) संकेत-गोजी०
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई ।
- ४१ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) संकेत-गोक०
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई ।
- ४२ अभिधान राजेन्द्र कोश-संकेत-अभिधा०
प्रकाशक—श्री सौधर्म बृहत्तयागच्छीय, जैन श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम ।
- ४३ पाइअसहमहणवो-संकेत-पाइअ०
प्रकाशक—हरगोविन्दलाल-त्री० सेठ, कलकत्ता ।
- ४४ महाभारत-संकेत-महा०
प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर, नीलकण्ठा टीका बेंकटेश्वर, बम्बई ।
- ४५ पाताञ्जल योगदर्शन-संकेत-पायोग०
- ४६ अंगुत्तरनिकाय-संकेत-अंगु
प्रकाशक—बिहार राज्यपालि प्रकाशन मंडल, नालंदा, पटना ।
- ४७ समयसार-संपादन—प्रा० ए० चक्रवृत्ति, प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, काशी १९५० ।
- ४८ ज्ञानसार—भाग १ से २ संपादन—मुनि भी भद्रगुप्त विजय, प्रकाशन—श्री विश्व कल्याण, प्रकाशन—हारीज, उत्तर गुजरात, १९६७

वर्धमान जीवनकोश, द्वितीय खण्ड पर प्राप्त समीक्षा

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

यह युग विधिवद्ध खोज व शोध का है। अन्वेषक कार्य को सहज और सुगम करने के लिए ही विभिन्न प्रकार के संदर्भ ग्रन्थों की बड़ी उपयोगिता है। इस संदर्भ ग्रन्थों से भी अधिक उपयोगिता है वर्गीकृत कोशों की। वर्गीकृत कोश ग्रन्थ जैसा कि—

वर्धमान जीवन कोश द्वितीय खण्ड, पूर्व प्रकाशित सभी ग्रन्थों से भिन्न है।

इस कार्य के लिए आगम ग्रन्थ उनकी टीकायें, श्वेताम्बर व दिगम्बर आगमैतर ग्रन्थ, कुछ बौद्ध एवं ब्राह्मण्य ग्रन्थ एवं परवर्तीकालीन कोश, अभिधान आदि का भी उपयोग किया है। इस खण्ड में उनके ३३ या २७ भवों का विवरण जो कि श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्परा से लिया गया है। इससे तुलनात्मक अध्ययन सुगम ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें भगवान् महावीर के पाँचों कल्याणक, नाम एवं उपनाम, उनकी स्तुतियाँ, समवसरण, दिव्यध्वनि, संघविवरण, इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों का पृथक्-विवरण आदि संकलित है। आर्या चन्दना का भी विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया गया है।

इस भाग में संकलित अनेक विषय बहुधा प्रथम भाग में संकलित विषयों के परिपूरक है। विषयों को इसमें अंतर्जातीय दशमलव के रूप में विभाजित व संकलित किया गया है जैसा कि सम्पादकों ने उपरोक्त वर्गीकृत कोश ग्रन्थों में किया है।

विद्वानों व अन्वेषकों के लिए तीर्थंकर भगवान् महावीर के इस भाँति के वर्गीकृत कोश ग्रन्थों की उपादेयता के विषय में कोई दो मत नहीं हो सकता। परिश्रम साध्य व समय सापेक्ष इस कार्य को इतने सुचारु रूप से संपादन करने के लिए हम विद्वान पण्डित श्रीचन्द्र चोरड़िया का आन्तरिक भाव से अभिनन्दन करते हैं। साथ ही जैन दर्शन समिति और उनके कार्यकर्त्ताओं को भी इसके प्रकाशन के लिए धन्यवाद देते हैं।

मुनिभी अस्करण, सुजान, बोरावड़ (सुजानगढ़ वाले)

ता० ६-५-८७

वर्धमान जीवन कोश (द्वितीय खण्ड) में भगवान् महावीर के जीवन सम्बन्धित अनेक भवों की विचित्र एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यह कार्य अति उत्तम एवं प्रशंसनीय है।

इसके लेखक मोहनलाल जी बाँठिया तथा श्रीचन्द्र जी चोरड़िया के श्रम का ही सुफल है। यह ग्रन्थ इतना सुन्दर एवं सुरम्य बन सका है। शोधकर्त्ताओं के लिए यह ग्रन्थ काफी उपयोगी होगा—ऐसा विश्वास है। रिसर्च करने वालों की भगवान् वर्धमान के संबंध में सारी सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो सकेगी।

मानकमल जोड़ा, दीनापुर (नागालैंड)

ता० ३-६-८७

वर्धमान जीवन कोश (द्वितीय) कड़ी मेहनत से तैयार किया है। इस समय का यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ मंथन है। यह पढ़ने वालों से भी मनन करने वालों के लिए सरल और बिल्कुल सही साबित हुआ है और होता रहेगा। इसमें प्रसंग क्रमशः है परन्तु ऐसा होते हुए भी अलग-अलग है।

साठवींश्री यशोधरा,

ता० २६-८-८७

प्रस्तुत सौकीय ग्रन्थ 'वर्धमान जीवन कोश' का द्वितीय खण्ड अपने आपमें अनूठा और अद्वितीय है। महावीर-जीवन सम्बन्धी सन्दर्भ ग्रन्थ में सम्पादक द्वय का भागीरथ प्रयत्न और गम्भीर अध्ययन प्रतिबिम्बित हो रहा है। आगमों में यत्र-तत्र बिखरी सामग्री को एकत्र कर इस तरीके से सजाया है कि शोध विद्यार्थियों के लिए बड़ी सुगमता कर दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ के संकलन-संपादन में शताधिक ग्रंथों का उपयोग संपादक की 'एग्गा चित्तीम-विस्सामित्ति' एकाग्र चित्तता का अवबोधक है।

आगम-सिन्धु का अवगाहन कर अनमोल मोतियों के प्रस्तुतीकरण का यह प्रवास सच्चञ्चल महनीय और प्रशस्य है।

—मुनि चन्द्रप्रभसागर

भीचन्द्र जी जोरड़िया का 'वर्धमान-जीवन-कोश द्वितीय खण्ड' समाप्त हुआ। ग्रंथ-श्रेष्ठ हेतु आभार-ज्ञापन।

भगवान् महावीर पर सम्प्रति-पर्यन्त बहुविध स्तरीय कार्य हुए हैं, किन्तु यह ग्रन्थ अपने आप में अभूतपूर्व है। शोध-स्नातकों के लिए तो यह ग्रंथ सारस्वत बरदान सिद्ध होगा, ऐसा मेरा आत्म-विश्वास है। 'वर्धमान जीवन-कोश' का प्रथम खण्ड भी उपादेय सिद्ध हुआ था। यद्यपि सामान्यतया लोग कोश-निर्माण के कार्य को महत्ता की दृष्टि से नहीं देखते, परन्तु मेरा विचार है कि मौलिक चिन्तनमूलक ग्रंथ-लेखन सतना वैदुष्यपूर्ण और भ्रमसाध्य नहीं है, जितना कि कोश-संग्रहीत करना। मैं ऐसे ग्रंथों का हृदय से स्वागत किया करता हूँ।

शिवस्ते पन्थाः।

वर्धमान जीवन कोश-प्रथम खण्ड पर प्राप्त समीक्षा

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

यह ग्रन्थ भगवान् महावीर के जीवन सम्बन्धी संदर्भों का विस्तृत विश्वकोश है। लेश्या कोश तथा क्रिया कोश की भाँति इसका निर्माण भी अन्तरराष्ट्रीय दशमलव वर्गीकरण पद्धति से किया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि शोधार्थियों के लिए यह ग्रन्थ अतीव उपयोगी सिद्ध होगा।

डा० नैमीचन्द्र जैन, इन्दौर

‘वर्धमान जीवन कोश’ जैन विद्या के क्षेत्र का एक अपरिहार्य, अपूर्व बहुमूल्य संदर्भ ग्रन्थ है। पूर्व प्रकाशित लेश्याकोश व क्रियाकोशों का जो स्वागत देश-विदेशमें हुआ है वह सजागर है। इसी तरह का मूल्यवान् संदर्भ ग्रन्थ यह भी है। अस्तु कोश उपयोगी है और भगवान् महावीर के जीवन के सम्बन्ध में बहुविध जानकारी दे रहा है।

मुनिश्री लालचन्द्र (श्रमण संधीय), कलकत्ता

‘श्री वर्धमान जीवन कोश’ प्रथम खण्ड देखने को मिला। यह पुस्तक सर्वप्रथम पुस्तक है जिसमें भगवान् महावीर की जीवनी यथार्थ रूप से लिखने में आई है।

श्री कन्हैयालाल सेठिया, कलकत्ता

सम्पादक द्वय का गहन अध्ययन और अथक श्रम इस ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित हुआ है; शोचार्थियों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन, ३१वां अधिवेशन में

जैन दर्शन समिति (—१६ सी डोवर लेन, कलकत्ता-२६) द्वारा श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया के सम्पादन में ‘वर्धमान जीवन कोश’ कृति का प्रकाशन हुआ है। प्रारम्भ में स्वनामधन्य आदरणीय जैनरत्न श्री मोहनलालजी बांठिया इस योजना के प्रवर्तक थे। श्री चोरड़ियाजी के सहयोग से यह ग्रन्थ तैयार हुआ था। भगवान् महावीर की जीवनी से सम्बन्धित सामग्री को प्रस्तुत करने वाला वह ग्रंथरत्न अत्यन्त उपयोगी एवं संग्रहणीय है।

प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग—अध्यक्षीय भाषण

२९ से ३१-१०-८२

डा० भाग्यचन्द्र जैन, नागपुर

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ ‘वर्धमान जीवन कोश’ का प्रकाशन जैन विषय कोश योजना के अन्तर्गत हुआ। सम्पादक द्वय ने इस ग्रंथ की सामग्री साम्प्रदायिकता दायरे से हठकर उपलब्ध समस्त वाङ्मय से एकत्रित की है। प्रस्तुत प्रकाशित प्रथम खण्ड में तीर्थंकर महावीर के जीवन विषयक, च्यवन से परिनिर्वाण तक का विषय संयोजित हुआ है। सामग्री की प्रस्तुति में सम्पादन कला का निर्दोष उपयोग हुआ है।

यशपाल जैन, दिल्ली

भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित यह विश्व कोश है। भगवान् महावीर के जीवन और-सिद्धांतों के विषय में विपुल साहित्य की रचना हुई है, किन्तु वह इतना फैला हुआ है कि शोधकर्त्ताओं को इसकी पूरी जानकारी प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। आलोच्य कोश ने उस कठिनाई को बहुत कुछ अंगों में दूर कर दिया।

भँवरलाल माहटा, कलकत्ता

भगवान् महावीर की जीवनी सम्बन्धी समस्त पहलुओं के अवतरणों का संग्रह करने

ने विद्वान् सम्पादकों ने बड़े ही धैर्यपूर्वक श्रुतसमुद्र का अवगाहन कर बहुत ही महत्वपूर्ण भागीरथ प्रयत्न किया है।

मंगलप्रकाश मेहता, वाराणसी

यह ग्रन्थ जैन आगम और आगमैतर साहित्य पर शोध कर रहे छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

डा० नरेन्द्र भाणावत, जयपुर

वर्धमान महावीर के जीवन की आधारभूत सामग्री का यह प्रामाणिक सन्दर्भ ग्रंथ शोधार्थियों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी और पथ-प्रदर्शक है।

श्री रतनलाल डोशी, सेलाना

यह ग्रंथ अपने आप में अद्वितीय अनूठा और विद्वानों के लिए बहुमूल्य निधि है। इसके पीछे सूक्ष्म-वृक्ष के साथ कष्ट साध्य पुरुषार्थ हुआ है। भगवान् के जीवन सम्बन्धी जो और जितनी सामग्री इसमें संकलित हुई है, पहले किसी ग्रंथ में नहीं हुई। जिस निष्ठा, अनुभव और धैर्य से यह कोश सम्पन्न हुआ है, वह अभिवन्दनीय है।

मंगलदेव शास्त्री, राजगृह

महाश्रमण भगवान् महावीर पर अब तक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है, पर प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना विशेष महत्व है। यह सम्पादक द्वय की उदार एवं समन्वयवादी दृष्टि को उजागर करता है। प्रस्तुत ग्रंथ विद्वानों के लिए, विशेष रूप से शोध छात्रों के लिए विशेष उपयोगी है।

श्री भँवरलाल जैन, न्यायतीर्थ, जयपुर

भगवान् महावीर के च्यवन से परिनिर्वाण तक का विस्तारपूर्वक विवेचन इस कोष में किया गया है। दिगम्बर-श्वेताम्बर एवं जैनैतर सामग्री का यथास्थान संकलन कर इतिहास प्रेमियों एवं शोध छात्रों के लिए इसे एक सन्दर्भ ग्रन्थ बना दिया है।

कंवर साहब मानसिंहजी, लावा सरदारगढ़

भगवान् महावीर के जीवन की अपूर्व विशद सामग्री है। इस कार्य को पूरा कर दिखाने में यह आपके परिश्रम तप का ही फल है।

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी

इसमें भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित काफी सामग्री एकत्रित है। इस विषय में शोध करने वालों के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी बन सकेगा—ऐसा विश्वास है।

इसमें भगवान् महावीर का समय जीवनकथा के विषय में जो सामग्री आगमों में उपलब्ध होती है उसका संकलन हुआ ही है। साथ ही उस मूल सामग्री को बाद के आचार्यों ने किस प्रकार सजाया है उसका भी ज्ञान इस कोश से जिज्ञासुओं को सहज ही में हो जाता है।

इसमें मूल श्वेताम्बर जैन आगमों तो सामग्री ली ही गई है और आगमों की टीकाओं—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, संस्कृत का से भी सामग्री एकत्र की गई है। इतना ही नहीं उसके अलावा दिगम्बर मौलिक ग्रन्थों कसाय-पाहुड आदि का भी उपयोग किया गया है इतना ही नहीं किन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर पुराणों और आचार्यों द्वारा लिखित संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा में लिखे गए महावीर के चरित ग्रन्थों से भी सामग्री का संकलन किया गया है। इस तरह यह वास्तविक रूप से 'वर्धमान जीवन कोश' नाम को सार्थक करता है।

—**दलसुख मालवणिया**

वर्धमान जीवन कोश प्रथम भाग में मनीषी लेखक ने ज्यवन से परिनिर्वाण तक सामग्री को सजाया है। बड़ी सजगता से विषय का प्रतिवादन हुआ है

—**कस्तुरचंद ललवानी**

सर्वांगीण रूप से 'वर्धमान जीवन कोश' में भगवान् महावीर के जीवन वृत्त का प्रतिपादन हुआ है।

—**बच्छुराज संघेती**

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास पर प्राप्त समीक्षा

विद्वान् लेखक ने 'मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास' विषय पर शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। इसके लिए लेखक बधाई के पात्र है।

—**कस्तुरचंद ललवानी**

मनीषी लेखक ने 'मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास के संबंध में शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है।

—**जबरमल भंडारी**

श्रीचंदजी चोरड़िया ने मिथ्यात्वी की शुद्ध क्रिया से जिज्ञासा के अन्तर्गत अनेक उद्धरणों से सिद्ध किया है। इसके लिए वे बधाई के पात्र है।

—**सूरजमल सुराना**

'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' पुस्तक से पढ़कर हृदय गद-गद हुआ। बड़े मनोयोग से चिन्तन पूर्वक पुस्तक लिखी है। मानो मैं एक उपन्यास पढ़ रहा हूँ।

डॉ० **राजाराम जैन**

'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' पुस्तक पढ़कर यह अनुभूति हुई कि सद्-क्रियाओं से मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास होता है। इसमें दो मत नहीं है।

जिनेश मुनि

श्री चोरड़ियाजी ने इस विषय में जो परिश्रम किया है वह धन्यवाद के पात्र है। यह ग्रंथ इसके पूर्व प्रकाशित लेश्या-कोश, क्रिया-कोश की कोटिका ही है। इन ग्रंथों में श्री चोरड़ियाजी का सहकार था। हमें आशा है कि वे आगे भी इस कोटि के ग्रंथ देते रहेंगे। विशेषता यह है कि आगामों में जितने भी अवतरण इस विषय में उपलब्ध थे—उनका संग्रह किया है। इतना ही नहीं आधुनिक काल के ग्रन्थों के भी अवतरण देकर ग्रंथ को संशोधकों के लिए अत्यन्त उपादेय बनाया है—इसमें सन्देह नहीं है।

दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद

Glory of India, दिल्ली

‘मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास’ यह पुस्तक अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। एक मिथ्यात्वी भी सद्-अनुष्ठानिक क्रिया से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। साम्प्रदायिक मतभेदों की बातें या तो आई ही नहीं है अथवा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का समभाव से उल्लेख कर दिया गया है।

श्री चोरङ्गियाजी ने विषय का प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर और तत्त्वस्पर्शी ढंग से किया है। विद्वज्जन इसका मूल्यांकन करें। निःसन्देह दार्शनिक जगत के लिए चोरङ्गियाजी की यह एक अप्रतिम देन है।

मुनिश्री अश्वकरण, सुजानगढ़

अनुमानतः लेखक ने इस ग्रंथ को लिखने के लिए अनेकानेक ग्रंथों का अवलोकन किया है। टीका भाष्यों के सुन्दर संदर्भों से पुस्तक अतीव आकर्षक बनी है।

डॉ० भागवन्ध्र जैन, नागपुर

विद्वान् लेखक ने यह स्पष्ट करने का साधार प्रयत्न किया है कि मिथ्यात्वी का कब और किस प्रकार विकास हो सकता है। लेखक और प्रकाशक इतने सुन्दर ग्रंथ के प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र हैं।

डॉ० दामोदर शास्त्री, दिल्ली

लेखक ने अपने इस ग्रंथ में शोधसार समाविष्ट कर शोधार्थी विद्वज्जनों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। यत्र-तत्र पेचीदे प्रश्नों को उठाकर उसका सोदाहरण व शास्त्र सम्मत समाधान भी किया गया है।

मुनिश्री राकेशकुमार, कलकत्ता

श्रीचंद चोरङ्गिया के विशिष्ट ग्रंथ ‘मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास’ में शास्त्रीय दार्शनिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण प्रतिपादन हुआ है। जैन धर्म के तात्विक चिन्तन में रुचि रखनेवालों के लिए तो यह पुस्तक ज्ञानवर्द्धक और रसप्रद है ही, किन्तु साम्प्रदायिक अनाग्रह और वैचारिक उदारता के इस युग में हर बौद्धिक और चिन्तनशील व्यक्ति के लिए इसका स्वाध्याय उपयोगी भी है।

भँवरलाल जैन न्यायतीर्थ, जयपुर

पुस्तक में नौ अध्याय हैं—विभिन्न दृष्टिकोणों से मिथ्यात्वी अपना आत्म विकास किस रूप में किस प्रकार कर सकता है—यह दर्शाया है। जैन सिद्धांश के प्रमाणों के आधार पर इस विषय को स्पष्टतया पाठकों के समक्ष लेखक ने सरल सुबोध भाषा में रखा है। जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। शास्त्रीय चर्चा की अभिनय रूप में प्रस्तुत करने में लेखक सफल हुए हैं। (बीर बाणी)

राम सूरी (डेलावाला), कलकत्ता

‘मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास’ पुस्तक में आलेखित पदार्थों के दर्शन से जैन दर्शन व जैनागमों की अजैनों की तरफ उदात्त भावना और आदरशीलता प्रकट होती है। एवं जैन धर्म को अप्राप्त आत्माओं में कितने प्रमाण में आध्यात्मिक विकास हो सकता है— इत्यादिक विषयों का आलेखन बहुत सुन्दरता से जैनागमों के सूत्रपाठों से दिखाया गया है। इसलिए विद्वान् श्रीचन्द्र चोरङ्गिया का प्रयास बहुत प्रशंसनीय है और यह ग्रन्थ दर्शनीय है।

डॉ० नरेन्द्र भणावत, जयपुर

लेखक की यह कृति पाठकों का ध्यान एक नई दिशा की ओर खींचती है। शास्त्र मर्मज्ञ विद्वानों को विविध विषयों पर गहराई से चिन्तन करने की ओर प्रवृत्ति करने में यह पुस्तक सहायक बनेगी।

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

प्रायः यह समझा जाता है कि मिथ्यात्वी व्यक्ति घमाँचरण का अधिकारी नहीं है और उसका आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता। भ्रान्ति का निरसन विद्वान् लेखक ने सरल-सुबोध किन्तु विवेचनात्मक शैली में और अनेक शास्त्रीय प्रमाणों की पुष्टिपूर्वक किया है।

जमनालाल जैन, वाराणसी

यह अपने विषय की अपूर्वकृति है। मनीषी लेखक ने लगभग दो सौ ग्रन्थों का गम्भीर परायण एवं आलोडन करके शास्त्रीय रूप में अपने विषय को प्रस्तुत किया है। परिभाषाओं और विशिष्ट शब्दों में आवद्ध तात्त्विक प्ररूपणाओं एवं परम्पराओं को उन्मुक्त भाव से समझने के लिए यह कृति अतीव मूल्यवान् है। (श्रमण पत्रिका)

भँवरलाल नाहटा, कलकत्ता

शास्त्र प्रमाणों से परिपूर्ण इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने नौ अध्यायों में प्रस्तुत विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

पं० चन्द्रभूषणमणि त्रिपाठी, राजगृह

लेखक ने काफी विस्तार के साथ उस चर्चा को पुनः चिन्तन का आयाम दिया है। पुस्तक एक अच्छी चिन्तन सामग्री उपस्थित करती है।

लेश्या-कोश पर विद्वानों की सम्मति

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवी, अहमदाबाद

लेश्या-कोश के प्रारम्भिक ३४ पृष्ठों को पूरा सुन गया हूँ। अगला भाग अपेक्षा के अनुसार ही देखा है। पर उसका पूरा ख्याल आ गया है। प्रथम तो यह बात है कि एक व्यापारी फिर भी अस्वस्थ तबियतवाला इतना गहरा श्रम करे और शास्त्रीय विषयों में पूरी समझ के साथ प्रवेश करे यह जैन समाज के लिए आश्चर्य के साथ खुशी का विषय है। आपने कोशों की कल्पना को मूर्त बनाने का जो संकल्प किया है वह और भी आश्चर्य तथा आनन्द का विषय है। इतना बड़ा भारी जवाबदेही का काम निर्विघ्न पूरा हो—यही कामना है।

Dr. A. N. UPADHYA, M. A. D. Litt., Shivaji University Kolhapur.

“I have read the major portion of this KOSA You are to be congratulated on having brought out a valuable source book on the Lasya Doctrine I appreciate your methodology and have all praise for the pains you have taken in collecting and systematically presenting the material. Such works really advance the cause of Jainological studies. Please accept my greetings on this useful work and convey the same to your colleagues who have collaborated with you in this project. Such Kosas for ‘PUDGAL’ etc. would be welcome in the interest of the progress of Jainological studies.”

Dr. P. L. VAIDYA, M. A. D. Litt. Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

“I am very grateful to you for your sending me a copy of your book Lesya Kosa. I have read a goodly portion of it and am deeply impressed by your methodical work on an important topic of Lesya in Jain Philosophy. All students of Jain Literature and Philosophy would surely be grateful to you for your having placed in their hand a work of tremendous utility.”

Dr. SUNITI KUMAR CHATTERJEE, National Professor of India, Calcutta.

“I am not a student of Philosophy, much less of Jain Philosophy. But I have learnt a lot from your work which is very thorough study, with a wealth of quotations from both Prakrita and Sanskrita, on the concept of Lesya. This, as it would appear, is not known in Brahmanical and Buddhistic philosophy. I did not know anything about it before I got your book. This as it would appear from your study, is a very important concept in Jain Philo-

sophy with regard to the nature of Soul, both in the static or contemplative and its dynamic or active aspect

I am sure specialists will give a welcome accord to your book."

'Wishing you all success in your noble work of interpreting one of the most important aspects of our Indian civilisation and thought namely, the Jaina'

Dr. PROF. L. ALSDORF, Seminar fur Kultur and Geschichte Indiens. Universitat Hamburg'

"I acknowledge Receipt of your Lesya-Kosa and accept my very sincere thanks for this most valuable and welcome gift. The theory of Kaman of which Lesya Doctrine is an integral part is the very centre and heart of Jainism at the same time it is a most intricate & complex subject the study of which presents a great many difficulties and problems not all of which have been solved so far. With erudition and acumen you have furnished a most useful contribution and successfully advanced our knowledge"

PROF. Dr. K L JANERT. Director, Institut fur Indologie Der Universitat Zu Koln.

"I have received your book Lesya-Kosa I also owe you a valuable addition to my Library. It is always a matter of great satisfaction to me to see a scholar not recoil from the arduous task of compiling dictionaries indexes etc.—even that great English Critic and Lexicographer, Dr. Samuel Johnson, called it drudgery some two hundred years ago, and it is of course only diligent collection and comparison of all relevant material that genuine advance in knowledge is based on so we shall have to thank you for having made work easier for those who come after you.

PROF. PADAMANATH S. Jain. Dept. of Linguistics, The University of Michigan, U. S. A.

"Please forgive me for the delay in acknowledging the receipt of your excellent gift of the Lesya-Kosa. This is an extraordinary work and you deserve our gratitude for publishing it. You have opened a new field of research and have established a new model for all future Jain studies The subject is fascinating not only for its antiquity but also for its value in the study of Indian Psychology."

क्रिया-कोश पर प्राप्त समीक्षा

PRAJNACHAKSHU PANDIT SUKHLAL D. Litt , Ahmedabad.

After Lesya-Kosa I have received your Kriya-Kosa, thanks. I have heard the Editorial, Forward, Preface in full and certain portions thereafter. I am surprised to find such diligence such concentration and such devotion to learning. Particularly so because such person is rarely found in business community who dedicates himself to learning like a BRAHMIN.

Dr. ADINATH NEMINATH UPADHYA D. Litt. Shivaji University, Kolhapur

I am in receipt of the copy of the 'Kriya-Kosa' so kindly sent by you. It is a remarkable source book which brings in one place so systematically the references and extracis which shed abundant light on the usage of the term Kriya in Jainism. The Kosas that are being brought out by you will prove of substantial help to the future compliation of an encyclopaedia on Jainism. I Shall eagerly look forth to the publication of your DHYAN KOSA.

With felicitation on your scholarly achievements.

Dr. P.L. VAIDYA, D.Litt Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona-4.

I am very grateful to you for your sending me a copy of your Cyclopaedia of Kriya I have read a few pages already and find it as useful as your Lesya Kosa. Please do bring out similar volumes on different topics of Jain Philosophy, of course, this may not bring you any material wealth, but I am sure students of Jain Literature will surely bless you for having offered them a real help in their study.

PROF HIRALAL RASIKDAS KAPADIYA, Surat Bombay.

This work (Kriya Kosa) will be very useful to scholars interested in Jainology. The learned editors deserve hearty congratulations for having undertaken such a laborious and tedious task.

Mithyatvi Ka Adhyatmika Vikasa Written by Sri Srichand Choraria Jain Darsana Samiti 16C, Dovor Lane, Calcutta-29 P. P. 24 and 360.

This is a philosophical treatise. It describes carefully the manifestation of the soul according to Jain tradition. It deals with the problem whether the mithyatva can have a manifestation and the author has proved that in a possible way.

The book is divided into nine chapters including conclusion. Each chapter has several sub sections. or rather points on which the author has discussed a lot each section of each chapter is replete with ample quotations proving the conclusion of the author.

This book shows the masterly scholarship of Sri Srichand Choraria over the subject. The language of the author is simple but forceful and the analysis is praise worthy. The author has consulted quite a number of books and has given a substained effort for the better production of the thesis. The work is more than a D. Lit.

The printing of the book is good and the binding as well. The book must be in the shelf of the library of every learned scholar.

University of Calcutta
20 Sept. 1984

—SATYA RANJAN BANERJEE

VARDHAMANA-JIVANA-KOSHA compiled and edited by Mohanlal Banthia and Srichand Choraria, Jain Darsan Samiti, 16C, Dover Lane, Calcutta-700 029, 1980 p.p. 51 + 584.

The publication of Vardhamana-Jivana-Kosha (Cyclopaedia of the life of Vardhamana, compiled and edited by Mohanlal Banthia and Srichand Choraria, is a unique contribution to the scholarly world of Jainistic studies. The conception of compiling a dictionary on the life and teaching of Lord Mahavira is itself a new one, and the compilers must be thanked for such a venture.

This type of cyclopaedia has been a dessideratum for a long time. The book is divided into several sections as far as 99 and sub-divided into several other decimal points for the easy reference. The system followed in this classification is the international decimal system. Each decimal point is arranged in accordance with the topic connected with the life and history of Vardhamana Mahavira. In each section and under each topic the original quotations from nearly 100 books followed by Hindi translation are given. These quotations are not only valuable, but they represent the authenticity of the incidents of the life of Mahavira. To compile such quotations in one place is a monumental one and tremendous labour is involved therein.

This Jain Darsana samiti has published two other Kosas Les'ya Kos'a (1966) and Kriya Kos'a (1969) The Pudgala Kos'a and the Dhyana-Kosa seen to have been compiled and awaiting publications for a decade now.

The Vardhamana Jivana Kosa is not only unique but also very useful for the handy reference, to the source material on Mahavira's life story. The author has ransacked both the Svetambara and Digambara materials. This is an exceptionally good book and must be used by all scholars who want to work on Jainism, particularly on Mahavira's life.

The book is well-printed and carefully executed. The printing mistakes are exceptionally few. The book is well bound as well. I hope this book will receive goon demand from the libraries of the world.

University of Calcutta
20th Sept 1984

—SATYA RANJAN BANERJEE

VARDHAMAN-JIVAN-KOSA, compiled and edited by Mohanlal Banthia and Srichand Choraria, Jain Darshan Samiti, 16C Dover Lane, Calcutta-700029, 1988, Pages 80 + 448. Price Rs. 75 00.

The Volume three of Vardhaman-Jivan-Kosa compiled and edited by Mohanlal Banthia and Srichand Choraria is a valuable source-book on the life and teachings of Vardhamana Mahavira. Some few years ago, the two other volumes (Vol. 1, 1980 and Vol. 11, 1984) of the same series came out. In all the volumes the plan and scope are the same series came out. In all the Volumes the plan and scope are the same. The methodology adopted in all these volumes is not only unique of its kinds, but also totally new in this type of cyclopaedic work. The material collected in all these volumes is very systematic, and will remain as a source-book for years to come to the scholarly world.

The book is well-printed and the binding is carefully executed. The printing mistakes are exceptionally few. It supersedes all the previous volumes.

For preparing a Dictionary on the life and teachings of Vardhamana, the erudite editors are to be thanked for presenting such a research work. The book is divided into several sections

as far as 99 and these sections are again sub divided into several other decimal points for easy references. Each decimal point is arranged in accordance with the subject matter connected with the life and teachings of Lord Mahavira. The table of contents of this work will tell us how to use this Cyclopaedia. All the facts of Mahavira's life are authenticated by quotations from over 100 books followed by Hindi translations. These quotations are necessary for making this volume useful. This unique feature of the book shows the critical outlook & deep scholarship of the editors. The project of this research work indicates that there could be some two or more volumes of this Vardhaman-Jivan.Kosa. The Jain Darshan Samiti is to be heartily congratulated for undertaking such a laborious and tedious project on Jainism

This Cyclopaedia of Vardhamana will be very useful for the source material on the life and story of Lord Mahavira. As the editor has ransacked both the Svetambara and Digambara source-books, this volume is free from all sorts of parochial outlook. I hope, this book must be in the library of every learned scholar.

—Dr SATYARANJAN BANERJEE

“वर्धमान जीवन कोश” पर प्राप्त समीक्षा”

The present work is the third volume in the series of Cyclopaedia of Jainism proposed to be published on behalf of Late Shri Mohan Lal Banthia. The first volume was the Cyclopaedia of Lesya and the second volume was the cyclopaedia of kriya. Both these volumes promised to be the complete cyclopaedia of two highly technical subjects of Jain Philosophy. Now, this third volume, which is an exhaustive collection of material related to the life of Bhagawan Mahavira, whose birth-name was vardhamans.

The learned compilers of this cyclopaedic work. Late Shri Mohan Lal Banthis and Shri Shrichand Choraria, have taken pains to collect all the available material concerning the life of Bhagawan Mahavira from all literary sources—the Jain canons, the commentaries on the Jain canons, the later non-canonical Prakrit and Sanskrit works, the Buddhist Pali texts, as well as other available sources.

The present work is only the first part of the volume, which will be published in three parts. The decimal system used for classification of topic signifies a scientific approach in topical classification and makes it easy to find out any sub-topic.

It is definitely an unique work on the life of Bhagawan Mahavira, elucidating simultaneously all the aspects including those of historical significance. The combedeo deserve congratulations for their hard labour. The cyclopaedic publications in the series will become a valuable repository of Jain learning for ages to come.

MUNI SHRI MAHENDRA KUMAR
(Disciple of Acharya Shri Tulsi)

The “Spiritual Development of a Perverted One” elucidates one of the most difficult topics of Jain Philosophy. The subject itself is controversial and requires a very thorough understanding of the subtle points of Jain Ethics. In this work the author has substantiated the view that even a perverted one can partially make an advancement in the direction of spiritual development. The author has collected all the evidence from the available Jain sources—the Shvetamber as well as the Digamber Canonical Texts. At some places, he also quotes the non-Jain Texts which clearly accept the thense.

The whole work is a logical treatment based on the authentic texts and authentic commentaries. The book itself has become a sort of “cyclopaedia” on the subject.

Incidentally, the author has explained many other topics concerning other aspects of Jain Philosophy, such as the nature of jnana and ajnana, darsana labdehis ; etc.

It is hoped that the work will go a long way in helping the Jain students and scholars for understanding the technical subjects which are otherwise very difficult to comprehend.

MUNI SHRI MAHENDRA KUMAR
(Disciple of Acharya Shri Tulsi)

